3

सुमित्रानंदन पंत ग्रंथावली

ग्रंथावली का यह तीसरा खण्ड है जिसमें पंतजी की सात कृतियाँ समाविष्ट हैं। चौथे दशक के अंत:संघर्ष और विद्रोह का भाव इनमें नहीं है, बल्कि ये समर्पण, आनन्द के स्वर हैं और कवि की बदली हुई शान्त मन:स्थिति के द्योतक हैं। **उत्तरा** के गीतों में जो जीवनचित्र उपस्थित हैं वे आगामी पीढ़ी के जीवन-चित्र हैं, कवि की सामंजस्य-भावना इनमें और भी परिपुष्ट और स्पष्ट हुई है। **रजत शिखर** छः काव्य-रूपकों का संग्रह है, इन रूपकों में जीवन को इसकी समग्रता में ग्रहण करने का आग्रह और आह्वान है। **शिल्पी** में तीन काव्य-रूपक हैं, धरा-जीवन की संघर्षरत स्थिति पर इनमें प्रकाश डाला गया है। जीवन का गहन आन्तरिक बोध इन रूपकों की विशिष्टता है। **सौवर्ण** के तीनों काव्य-रूपक संक्रमण-कालीन मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा पर बल देते हैं, इनमें विश्व-स्थिति पर व्यापक भाव से मनन किया गया है। **युगपुरुष** और **छाया** दो नाटिकाएँ हैं एक में कवि की कल्पना के भावी युगपुरुष की भव्योज्ज्वल प्रतिमा साकार हुई है तो दूसरी में नवयुग की ओजमयी नव-नारी के आह्वान के स्वर मुखरित हैं। **अतिमा** की कविताएँ 'युग-विनाश में नवजीवन की परिभाषा' ढूँढ़ने के प्रयास के प्रतिफल हैं। विश्व-कल्याणकामी कवि इनमें मनुष्य के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के महत् उन्नयन की अनिवार्यता को रेखांकित करते हैं।
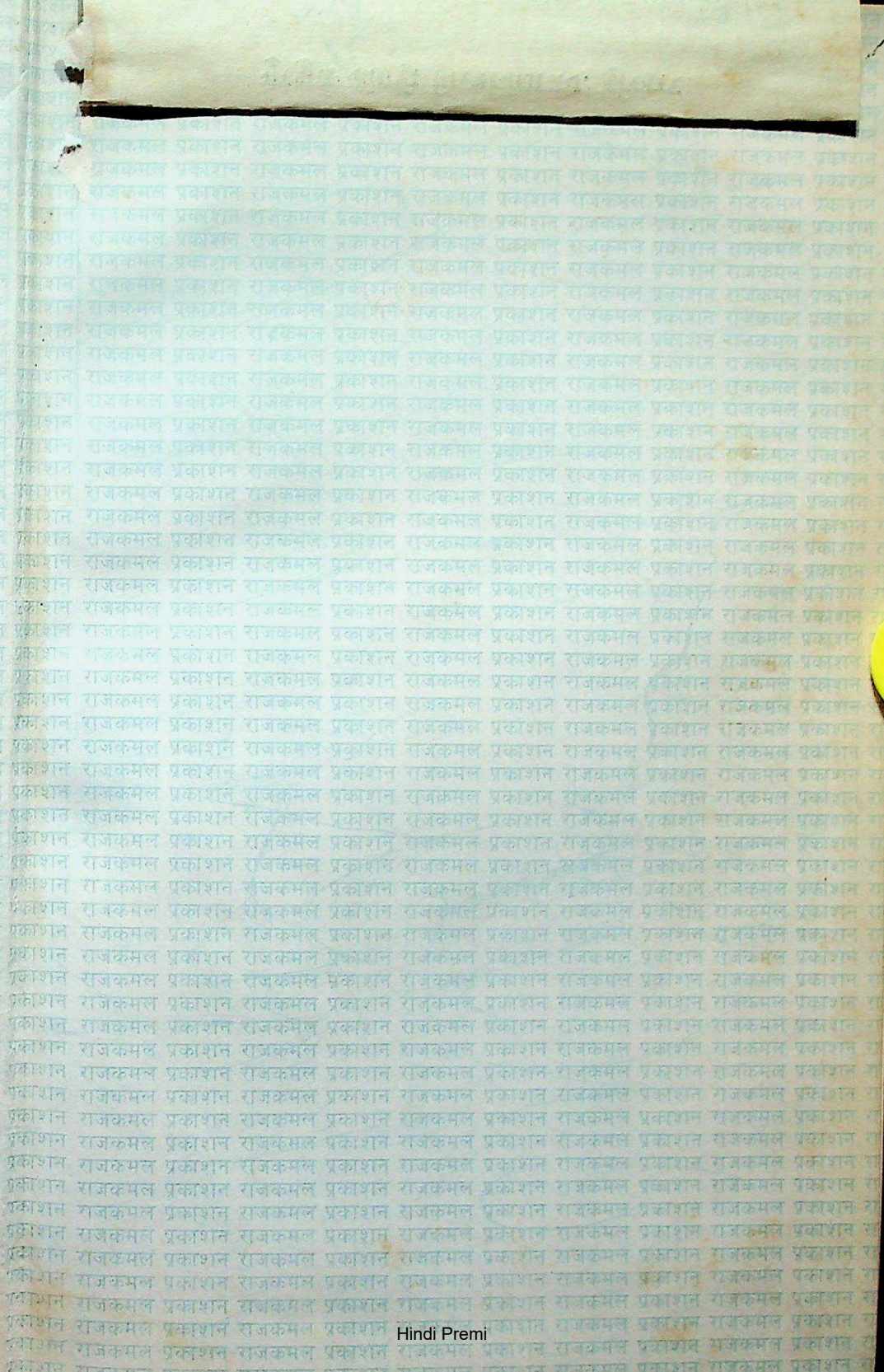
सुमित्रानंदन पंत ग्रंथावली

खण्ड : तीन

सुमित्रानंदन पंत ग्रंथावली

खण्ड : तीन

उत्तरा रजत-शिखर शिल्पी सौवर्ण
युगपुरुष छाया प्रतिमा
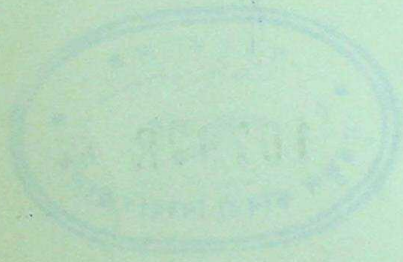
राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली पटना

मूल्य :
प्रति खंड : रु. 325.00
सात खंडों का संपूर्ण सैट : रु. 2275.00

प्रथम संस्करण : 1979
द्वितीय संस्करण : 1993

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.,
1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग,
नई दिल्ली-110 002

मुद्रक : मेहरा ऑफसेट प्रेस,
चाँदनी महल, दरियागंज,
नई दिल्ली-110 002

आवरण : नरेंद्र श्रीवास्तव

SUMITRANANDAN PANT GRANTHAVALI
Collected works of Shri Sumitra Nandan Pant

अनुक्रम

उत्तरा

[प्रथम प्रकाशन वर्ष : १९४९]

स्वर्गीय
डॉ० अमरनाथ झा के
कर कमलों में
सप्रेम

प्रस्तावना

'उत्तरा' के अंचल में भूमिका के रूप में इन थोड़े से शब्दों को बाँध देना, आवश्यक हो गया है, क्योंकि इधर 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' को लेकर मेरी काव्य-चेतना के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की भ्रान्तियों का प्रचार हुआ है। इस प्रस्तावना का उद्देश्य उन तर्कों या उच्छ्वासों का निराकरण करना नहीं, केवल पाठकों के सामने, कम से कम शब्दों में, अपना दृष्टिकोण भर उपस्थित कर देना है। वैसे मेरा विचार अगले काव्य संकलन में 'युगान्त' के बाद की अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में विस्तृत आलोचनात्मक निबन्ध लिखने का है, पर वह कल की बात है।

मेरी इधर की रचनाओं का मुख्य ध्येय केवल उस युग-चेतना को, अपने यत्किंचित् प्रयत्नों द्वारा, वाणी देने का रहा है जो हमारे संक्रान्ति काल की देन है और जिसने, एक युगजीवी की तरह, मुझे भी अपने क्षेत्र में प्रभावित किया है। इस प्रकार के प्रयत्न मेरी कृतियों में 'ज्योत्स्ना' काल से प्रारम्भ हो गये थे; 'ज्योत्स्ना' की स्वप्न-क्रान्त चाँदनी (चेतना) ही एक प्रकार से 'स्वर्णकिरण' में युग-प्रभात के आलोक से स्वर्णिम हो गयी है।

'वह स्वर्ण भोर को ठहरी जग के ज्योतित आँगन पर
तापसी विश्व की बाला पाने नव जीवन का वर! —'

'चाँदनी' को सम्बोधित 'ज्योत्स्ना'-'गुंजन' काल की इन पंक्तियों में पाठक को मेरे उपर्युक्त कथन की प्रतिध्वनि मिलेगी। मुझे विश्वास है कि 'ज्योत्स्ना' के बाद की मेरी रचनाओं को तुलनात्मक दृष्टि से पढ़ने पर पाठक स्वयं भी इसी परिणाम पर पहुँचेंगे। बाहरी दृष्टि से उन्हें 'युग-वाणी' तथा 'स्वर्णकिरण' काल की रचनाओं में शायद परस्पर-विरोधी विचार-धाराओं का समावेश मिले, पर वास्तव में ऐसा नहीं है।

'ज्योत्स्ना' में मैंने जीवन की जिन बहिरन्तर मान्यताओं का समन्वय करने का प्रयत्न तथा नवीन सामाजिकता (मानवता) में उनके रूपान्तरित होने की ओर इंगित किया है, 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में उन्हीं के बहि-र्मुखी (समतल) संचरण को (जो मार्क्सवाद का क्षेत्र है) तथा 'स्वर्णकिरण' में अन्तर्मुखी (ऊर्ध्व) संचरण को (जो अध्यात्म का क्षेत्र है) अधिक प्रधानता दी है; किन्तु समन्वय तथा संश्लेषण का दृष्टिकोण एवं तज्जनित मान्यताएँ दोनों में समान रूप से वर्तमान हैं और दोनों कालों की रचनाओं से, इस प्रकार के अनेकों उद्धरण दिये जा सकते हैं। 'युगावाणी' तथा 'ग्राम्या' में यदि ऊर्ध्व मानों का सम धरातल पर समन्वय हुआ है तो 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्ण धूलि' में समतल मानों का ऊर्ध्व धरातल पर; जो तत्त्वतः एक ही लक्ष्य की ओर निर्देश करते हैं। किन्तु किसी लेखक

की कृतियों में विचार साम्य के बदले उसके मानसिक विकास की दिशा को ही अधिक महत्त्व देना चाहिए, क्योंकि लेखक एक सजीव अस्तित्व या चेतना है और वह भिन्न-भिन्न समय पर अपने युग के स्पर्शों तथा संवेदनों से किस प्रकार आन्दोलित होता है, उन्हें किस रूप में ग्रहण तथा प्रदान करता है, इसका निर्णय ही उसके व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने में अधिक उपयोगी सिद्ध होना चाहिए।

हमारे कतिपय प्रगतिशील विचारक प्रगतिवाद को वर्गयुद्ध की भावनाओं से सम्बद्ध साहित्य तक ही सीमित रखना चाहते हैं, उन्हें इस युग की अन्य सभी प्रकार की प्रगति की धाराएँ प्रतिक्रियात्मक, पलायनवादी, सुधार-जागरणवादी तथा युग्मचेतना से पीड़ित दिखायी देती हैं। ये आलोचक अपने सांस्कृतिक विश्वासों में मार्क्सवादी ही नहीं, अपने राजनीतिक विचारों में कम्यूनिस्ट भी हैं। मैं मार्क्सवाद की उपयोगिता एक व्यापक समतल सिद्धान्त की तरह स्वीकार कर चुका हूँ। किन्तु सांस्कृतिक दृष्टिकोण से उसके रक्त क्रान्ति और वर्गयुद्ध के पक्ष को मार्क्स के युग की सीमाएँ मानता हूँ, जिसकी ओर मैं 'आधुनिक कवि' की भूमिका में इंगित कर चुका हूँ। अपने प्रगतिशील सहयोगियों की इधर की आलोचनाओं को पढ़ने से प्रतीत होता है कि वे मेरी रचनाओं से अधिक मेरे समर्थकों की विवेचनाओं तथा व्याख्याओं से क्षुब्ध हैं और उनके लिखने के ढंग से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वे अभी व्यक्तिगत आक्षेप, तुलनात्मक स्पर्धा तथा साहित्यिक विद्वेष से मुक्त नहीं हो सके हैं, जो अवश्य ही चिन्त्य तथा अवांछनीय है।

अपने युग को मैं राजनीतिक दृष्टि से जनतन्त्र का युग और सांस्कृतिक दृष्टि से विश्व-मानवता अथवा लोक-मानवता का युग मानता हूँ; और वर्ग युद्ध को इस युग के विराट् संघर्ष का एक राजनीतिक चरण मात्र। राजनीति के क्षेत्र के किसी भी प्रगतिकामी वाद या सिद्धान्त से मुझे विरोध नहीं है; एक तो राजनीति के नक्कारखाने में साहित्य की तूती की आवाज कोई मूल्य नहीं रखती, दूसरे इन सभी वादों को मैं युग-जीवन के विकास के लिए किसी हद तक आवश्यक मानता हूँ; ये परस्पर संघर्ष-निरत तथा शक्ति-लोलुप होने पर भी इस युग के अभावों को किसी-न-किसी रूप में अभिव्यक्त करते हैं, अपनी सीमाओं के भीतर उनका उपचार भी खोजते हैं, और बहिरन्तर के दैन्य से पीड़ित, पिछले युगों की अस्थि कंकाल रूप धरोहर, जनता के हित को सामने रखकर सुखभोग-कामी मध्योच्चवर्गीय चेतना का ध्यान उस ओर आकृष्ट करते हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से इसकी सीमाओं से अवगत तथा साधनों से असन्तुष्ट होने पर दुर्बोध भी मैं अपने युग की दुर्निवार तथा मानव मन की दयनीय सीमाओं से परिचित एवं पीड़ित हूँ।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि केवल राजनीतिक, आर्थिक हलचलों की बाह्य सफलताओं द्वारा ही मानव जाति के भाग्य (भावी) का निर्माण नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के सभी आन्दोलनों को परिपूर्णता प्रदान करने के लिए, संसार में, एक व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन को जन्म लेना होगा जो मानव चेतना के राजनीतिक, आर्थिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक—सम्पूर्ण धरातलों में मानवीय सन्तुलन तथा साम-

जस्य स्थापित कर आज के जनवाद को विकसित मानववाद का स्व रूप दे सकेगा; भविष्य में मनुष्य के आध्यात्मिक (इस युग की दृष्टि से बौद्धिक, नैतिक) तथा राजनीतिक संचरण—प्रचलित शब्दों में धर्म, अर्थ, काम—अधिक समन्वित हो जायेंगे और उनके बीच का व्यवधान मिट जायेगा—अथवा राजनीतिक आन्दोलन सांस्कृतिक आन्दोलनों में बदल जायेंगे जिसका पूर्वाभास हमें, इस युग की सीमाओं के भीतर, महात्माजी के व्यक्तित्व में मिलता है।

इस दृष्टि से मैं युग की प्रगति की धाराओं का क्षेत्र, वर्ग-युद्ध में भी मानते हुए (यद्यपि अपने देश के लिए उसे अनावश्यक तथा हानिकारक समझता हूँ), उससे कहीं अधिक विस्तृत तथा ऊर्ध्व मानता हूँ और सुधार-जागरण के प्रयत्नों को भी अपने-अपने स्थान पर आवश्यक समझता हूँ; क्योंकि जिस संचरण का बाहरी रूप क्रान्ति है उसी का भीतरी रूप विकास। अतएव युगपुरुष को पूर्णत: सचेष्ट करने के लिए यदि लोक संगठन के साथ गांधीवाद को पीठिका बनाकर मन: संगठन (संस्कार) का भी अनुष्ठान उठाया जाये और मनुष्य की सामाजिक चेतना (संस्कृति) का विकसित विश्व-परिस्थितियों (वाष्प विद्युत्) आदि के अनुरूप नवीन रूप से सक्रिय समन्वय किया जाये तो वर्तमान के विक्षोभ के आर्त्तनाद तथा क्रान्ति की क्रुद्ध ललकार को लोक-जीवन के संगीत तथा मनुष्यता की पुकार में बदला जा सकता है; एवं क्रान्ति के भीतरी पक्ष को भी सचेष्ट कर उसे परिपूर्ण बनाया जा सकता है। इस युग के क्रान्ति विकास, सुधार जागरण के आन्दोलनों की परिणति एक नवीन सांस्कृतिक चेतना के रूप में होना अवश्यम्भावी है, जो मनुष्य के पदार्थ, जीवन, मन के सम्पूर्ण स्तरों का रूपान्तर कर देगी तथा विश्व जीवन के प्रति उसकी धारणा को बदलकर सामाजिक सम्बन्धों को नवीन अर्थ-गौरव प्रदान कर देगी। इसी सांस्कृतिक चेतना को मैं अन्तश्चेतना या नवीन सगुण कहता हूँ। मैं जनवाद को राजनीतिक संस्था या तन्त्र के बाह्य रूप में ही न देखकर भीतरी, प्रज्ञात्मक मानव चेतना के रूप में भी देखता हूँ, और जनतन्त्रवाद की आन्तरिक (आध्यात्मिक) परिणति को ही 'अन्तश्चेतनावाद' अथवा 'नव मानववाद' कहता हूँ,—जिस अर्थ में मैंने अपनी इधर की रचनाओं में इनका प्रयोग किया है। दूसरे शब्दों में, जिस विकासकामी चेतना को हम संघर्ष के समतल धरातल पर प्रजातन्त्रवाद के नाम से पुकारते हैं उसी को ऊर्ध्व सांस्कृतिक धरातल पर मैं अन्तश्चेतना एवं अन्तर्जीवन कहता हूँ। इस युग के जड़ (परिस्थितियाँ, यन्त्र तथा तत्सम्बन्धी राजनीतिक-आर्थिक आन्दोलन) तथा चेतन (नवीन आदर्श, नैतिक दृष्टिकोण तथा तत्सम्बन्धी मान्यताएँ आदि) का संघर्ष इसी अन्तचेश्तना या भावी मनुष्यत्व के पदार्थ के रूप में सामंजस्य ग्रहण कर उन्नयन को प्राप्त हो सकेगा। अत: मैं वर्गहीन सामाजिक विधान के साथ ही मानव-अहंता के विधान की भी नवीन चेतना के रूप में परिणति सम्भव समझता हूँ और युग-संघर्ष में जन-संघर्ष के अतिरिक्त अन्तर्मानव का संघर्ष भी देखता हूँ।

इस प्रकार मैं युग संघर्ष का एक सांस्कृतिक पक्ष भी मानता हूँ जो जन-युग की धरती से ऊपर उठकर उसकी उच्च मानवता की चोटी को

भी अपने फड़कते हुए पंख से स्पर्श करता है; क्योंकि जो युग-विप्लव मानव-जीवन के आर्थिक-राजनीतिक धरातलों में महान् क्रान्तिकारी परिवर्तन ला रहा है, वह उसकी मानसिक, आध्यात्मिक आस्थाओं में भी आन्तरिक विकास तथा रूपान्तर उपस्थित करने जा रहा है; और जैसाकि मैं 'युगवाणी' की भूमिका में लिख चुका हूँ, "भविष्य में जब मानव-जीवन विद्युत तथा अणु-शक्ति की प्रबल टाँगों पर प्रलय-वेग से आगे बढ़ने लगेगा तब आज के मनुष्य की टिमटिमाती हुई चेतना उसका संचालन करने में समर्थ नहीं हो सकेगी···बाह्य जीवन के साथ ही उसकी अन्तश्चेतना में भी युगान्तर होना अवश्यम्भावी है !"—इसी नवीन चेतना की मनःक्रीड़ा, उसके आनन्द और सौन्दर्य, उसकी आशा-विश्वासप्रद प्रेरणाओं के उद्बोधन गान मेरी इधर की रचनाओं के विषय हैं, जो जन-युग के संघर्ष में मानव-युग के उद्भव की स्वप्न-सूचनाएँ भर हैं। ऐसा कहकर मैं किसी प्रकार की आत्मश्लाघा को प्रश्रय नहीं दे रहा हूँ। 'उत्तरा' के किसी गीत में मैंने—

"मैं रे केवल उन्मन मधुकर भरता शोभा स्वप्निल गुंजन,
आगे आयेंगे तरुण भृंग स्वर्णिम मधुकण करने वितरण।"—

आदि पंक्तियाँ किसी विनम्रतावश नहीं, अपनी तथा अपने युग की सीमाओं के कटु अनुभव तथा नवीन चेतना की लोकोत्तरता पर विश्वास के कारण ही लिखी हैं।

मेरा मन यह नहीं स्वीकार करता कि मैंने अपनी रचनाओं में जिस सांस्कृतिक चेतना को वाणी दी है, एवं जिस मन: संगठन की ओर ध्यान-आकृष्ट किया है, उसे किसी भी दृष्टि से प्रतिगामी कहा जा सकता है। मैंने सदैव ही उन आदर्शों, नीतियों तथा दृष्टिकोणों का विरोध किया है, जो पिछले युगों की संकीर्ण परिस्थितियों के प्रतीक हैं, जिनमें मनुष्य विभिन्न जातियों, सम्प्रदायों तथा वर्गों में विकीर्ण हो गया है। उन सभी विश्लिष्ट सांस्कृतिक मान्यताओं के विरुद्ध मैंने युग की कोकिल से पावक कण बरसाने को कहा है जिनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि अब खिसक गयी है और जो मानव-चेतना को अपनी खोखली भित्तियों में विभक्त किये हुए हैं। मेरा विनम्र विश्वास है कि लोक संगठन तथा मन: संगठन एक दूसरे के पूरक हैं, क्योंकि वे एक ही युग (लोक) चेतना के बाहरी और भीतरी रूप हैं।

मुझे ज्ञात है कि सभी प्रकार के सुधार जागरण के प्रयत्न क्रान्ति के प्रतिरोधी माने जाते हैं; पर ये इस युग के वादों तथा तर्कों की सीमाएँ हैं, जिनका दार्शनिक विवेचन अथवा विश्लेषण करना इस छोटी-सी भूमिका के क्षेत्र से बाहर ही का विषय नहीं, वह व्यर्थ का प्रयास भी होगा। जिनका मस्तिष्क वादों से आक्रान्त नहीं हो गया है, वे सहज ही अनुभव कर सकेंगे कि जन-संघर्ष (राजनीतिक धरातल) में जो युग-जीवन का सत्य द्वन्द्वों के उत्थान-पतन में अभिव्यक्ति पाकर आगे बढ़ता रहा है वह मनुष्य की चेतना (मानसिक-सांस्कृतिक धरातलों) में एक विकसित मनुष्यत्व के रूप में सन्तुलन ग्रहण करने की भी प्रतीक्षा तथा चेष्टा कर रहा है। जो विवेचक सभी प्रकार के मन: संगठन तथा सांस्कृतिक प्रयत्नों को प्रतिक्रियात्मक तथा पलायनवादी कहकर उनका विरोध करते हैं,

उनकी भावना युग प्रबुद्ध होने पर भी उनकी विचारधारा वादों से पीड़ित तथा बुद्धि भ्रम से ग्रस्त है।

अपने लोकप्रेमी मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी युवकों को ध्यान में रखते हुए, जो उच्च आदर्शों से अनुप्राणित तथा महान् त्याग करने में समर्थ हैं, मैं इसे केवल अपने युग-मन की कमी अथवा सीमा कहूँगा। हमारा युग-मन परिस्थितियों के प्रति जाग्रत् तथा पर्याप्त लब्ध-बोध होने पर भी अनुभूति की दृष्टि से अभी अपरिपक्व है, और इसके अनेक कारण हैं। हम अभी यन्त्र का मानवीकरण नहीं कर सके हैं, उसे मानवीय अथवा मानव का वाहन नहीं बना सके हैं; बल्कि वही अभी हम पर आधिपत्य किये हुए है। यन्त्र-युग ने हमें जो शक्ति तथा वैभव प्रदान किया है, वह हमारे लोभ तथा स्पर्धा की वस्तु बनकर रह गया है; उसने जहाँ मानव-श्रम के मूल्य को अतिरिक्त लाभ में परिणत कर शोषक-शोषितों के बीच बढ़ती हुई खाई को रक्त-पंकिल विक्षोभ तथा असन्तोष से भर दिया है, वहाँ हमारे भोग-विलास तथा अधिकार-लालसा के स्तरों को उकसाकर हमें अविनीत भी बना दिया है; किन्तु वह हमारे ऊपरी धरातलों तथा सांस्कृतिक चेतना को छूकर मानवीय गौरव से मण्डित नहीं हो सका है,—दूसरे शब्दों में, यन्त्र-युग का, मनुष्य की चेतना में अभी सांस्कृतिक परिपाक नहीं हुआ है।

जिस प्रकार हमारे मध्ययुगीन विचारकों ने आत्मवाद से प्रकाश-अन्ध होकर मानव चेतना के भौतिक (वास्तविक) धरातल को माया, मिथ्या कहकर भुला देना चाहा (जिसका कारण मैं 'युगवाणी' की भूमिका में दे चुका हूँ) उसी प्रकार आधुनिक विज्ञान दर्शनवादी—यद्यपि आधुनिकतम भूतविज्ञान पदार्थ के स्तर को अतिक्रमण कर चुका है तथा आधुनिकतम मनोविज्ञान, जिसे विद्वान अभी शैशवावस्था ही में मानते हैं, चेतन मन तथा हेतुवाद (रेशनलिज्म) से अधिक प्रधानता उपचेतन-अवचेतन के सिद्धान्तों को देने लगा है—और विशेषकर मार्क्सवादी भौतिकता के अन्धकार में और कुछ भी न सूझने के कारण मन (गुण) तथा संस्कृति (सामूहिक अन्तश्चेतना) आदि को पदार्थ का बिम्ब रूप, गौण स्तर या ऊपरी अति विधान कहकर उड़ा देना चाहते हैं; जो मान्यताओं की दृष्टि से, ऊर्ध्व तथा समतल दृष्टिकोणों में सामंजस्य स्थापित न कर सकने के कारण उत्पन्न भ्रान्ति है; किन्तु मात्र अधिदर्शन (मेटाफिजिक्स) के सिद्धान्तों द्वारा जड़ चेतन (मैटर स्पिरिट) की गुत्थी को सुलझाना इतना दुरूह है कि युग-मन के अनुभव के अतिरिक्त इसका समाधान सामान्य बुद्धिजीवी के लिए सम्भव नहीं। अतएव साहित्य के क्षेत्र में मान्यताओं की दृष्टि से हम मार्क्सवाद या अध्यात्मवाद की दुहाई देकर आज जिन हास्यप्रद तर्कों में उलझ रहे हैं उससे अच्छा यह होगा कि हम एक दूसरे के दृष्टिकोणों का आदर करते हुए दोनों की सच्चाई स्वीकार कर लें। वास्तव में चाहे चेतना को पदार्थ (अन्न) का सर्वोच्च या भीतरी स्तर माना जाय, चाहे पदार्थ को चेतना का निम्नतम या बाहरी धरातल, दोनों ही मानव-जीवन में अविच्छिन्न रूप से, वागर्थाविव जुड़े हुए हैं। जिस प्रकार पदार्थ का संचरण परिस्थितियों के सत्य या गुणों में अभिव्यक्त होता है उसी प्रकार चेतना का संचरण मन के गुणों में; लोक-जीवन के विकास के लिए दोनों ही में सामंजस्य स्थापित करना नितान्त

आवश्यक है। पदार्थ, जीवन मन तथा आत्मा की मान्यताएँ हमारी बुद्धि विभाजन-भर हैं; सम्पूर्ण सत्य इनसे परे तथा इनमें भी व्याप्त होने के कारण एक तथा अखण्डनीय है। सभ्यता के विकास-क्रम में जब मनुष्य का मन एवं चेतना इतनी अधिक विकसित हो चुकी है और विभिन्न युगों में अन्तर्मन की मान्यताएँ भी (धर्म, अध्यात्म, ईश्वर सम्बन्धी) स्वीकृत होकर लोक-कल्याण के लिए उपयोगी प्रमाणित हो चुकी हैं, तब आज उन सबका बहिष्कार कर केवल मांसपेशियों के संगठित बल पर मानव-जीवन के रथ या महायान को आगे बढ़ाने का दु:साहस मेरी दृष्टि में केवल इस युग के दुर्दान्त विक्षोभ का अन्ध विद्रोह ही है।

मैं केवल आदर्शवाद का ही पक्ष नहीं ले रहा हूँ, वस्तुवादियों के दृष्टि-कोण की भी उपयोगिता स्वीकार करता हूँ। वास्तव में आदर्शवाद, वस्तुवाद, जड़-चेतन, पूर्व-पश्चिम आदि शब्द उस युग-चेतना के प्रतीक अथवा उस सभ्यता के विरोधाभास हैं जिसका संचरण-वृत्त अब समाप्त होने को है। आदर्शवाद द्रष्टा या ज्ञाता का दृष्टिबिन्दु है, जो आदर्श को प्रधान तथा सत्य मानता है और वास्तविकता या यथार्थ को उसका बिम्बरूप, जिसे आदर्श की ओर अग्रसर या विकसित होना है। यह स्पष्ट है कि यथार्थ की गतिविधि या विकास के पथ को निर्धारित करने के लिए आदर्श का बोध या ज्ञान प्राप्त करना अत्यावश्यक है। तथोक्त वस्तु-वाद कर्ता या कर्मी का दृष्टिकोण है जिसके लिए गोचर वस्तु ही यथार्थ तथा प्रधान है, आदर्श उसी का विकास या परिणति। वस्तु से उसका विधायक या निर्माता का सम्बन्ध होने के कारण वह उसकी यथार्थता को अपनी दृष्टि से ओझल नहीं होने देता एवं उसी को सत्य मानता है। किन्तु यदि हम आदर्श तथा वस्तु को एक ही सत्य का, जो अव्यक्त तथा विकासशील होने के कारण दोनों से अतिशय तथा ऊपर भी है,—सूक्ष्म-स्थूल रूप या बिम्ब-प्रतिबिम्ब मान लें तो दोनों दृष्टिकोणों में सहज ही सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है; और आदर्श तथा वस्तुवादी, अपनी-अपनी उपयोगिता तथा सीमाओं को मानते हुए, विश्व कर्म में परस्पर सहायक की तरह हाथ बँटा सकते हैं। विनय, आत्मत्याग, सच्चाई, सहानुभूति, अहिंसा आदि व्यावहारिक आदर्शों को अपनाकर—जो मनुष्यत्व की परिचायक, सनातन सामाजिक विभूतियाँ हैं—दोनों शिविरों का संयुक्त कर्म भू-निर्माण के कार्य को अधिक परिपूर्ण रूप से आगे बढ़ा सकता है।

वास्तव में हमारी कठिनाइयों का कारण है हमारी एकांगी शिक्षा तथा सदियों की राजनीतिक पराधीनता के कारण पश्चिमी विचार-दर्शन तथा साहित्य की दासता। साधारणत: हमारा बुद्धिजीवी युवक—जो विदेशी सभ्यता या संस्कृति से बाहर ही बाहर प्रभावित है और अपने देश के विराट् ज्ञान-भण्डार से प्राय: अपरिचित—यह समझता है कि भारतवर्ष की समस्त आध्यात्मिकता तथा दर्शन पिछली सामन्ती परिस्थि-तियों का प्रकाश (संगठित ज्ञान) मात्र है, जिसकी इस युग में कोई उप-योगिता नहीं रह गयी है। वह सोचता है कि इस युग के विज्ञान-दर्शन तथा मनोविज्ञान ने जीवन के प्रति मानव के दृष्टिकोण को ऐसा आमूल परि-वर्तित कर दिया है कि हमारी विकसित परिस्थितियों से उद्भूत चेतना

ही मानव-जीवन का नवीन दर्शन बन सकती है और आध्यात्मिकता का मोह केवल हमारा अतीत का गौरव-गान है। किन्तु इसमें तथ्य इतना ही है कि पदार्थ-विज्ञान द्वारा हमने केवल चेतना के निम्नतम भौतिक धरातल पर ही प्रकाश डाला है और उसके फलस्वरूप अपनी भौतिक परिस्थितियों को वाष्प-विद्युत् आदि का संजीवन पिलाकर अधिक सक्रिय बना दिया है; जिनमें नवीन रूप से सामंजस्य स्थापित करने के लिए इस युग के राजनीतिक-आर्थिक आन्दोलनों का प्रादुर्भाव हुआ है; किन्तु परिस्थितियों की सक्रियता के अनुपात में हमारे मन तथा चेतना के सापेक्ष स्तर प्रबुद्ध तथा अन्तःसंगठित न हो सकने के कारण युग के राजनीतिक-आर्थिक संघर्ष मानव सभ्यता को अभ्युदय की ओर ले जाने के बदले, विश्व-युद्धों का रूप धारण कर, भूव्यापी रक्तपात तथा विनाश ही की ओर अग्रसर करने में सफल हो सके हैं; और संहार के बाद निर्माण के आशाप्रद सिद्धान्त को भी अब एटम बम के भयानक आविर्भाव ने जैसे एक बार ही धराशायी कर दिया है।

आधुनिक मनोविज्ञान मनुष्य के विचारों के मन को नहीं छू सका है। उसने केवल हमारे भावनाओं के मन में हलचल भर पैदा की है। पिछली दुनिया की नैतिकता अभी मनुष्य के मोहग्रस्त चरणों में उसी प्रकार चाँदी के भारी भद्दे संकीर्ण कड़े की तरह पड़ी हुई है, जिससे मानव-चेतना का सौन्दर्यबोध तथा उसकी राग-भावना की गति पग-पग पर कुण्ठित होकर, स्त्रियों के अधिकार आन्दोलनों के रूप में, आगे बढ़ने का निष्फल प्रयत्न कर रही है। किन्तु मानव-चेतना की नैतिक लँगडाहट को दूर करना शायद कल का काम है; उससे पहिले मानव जाति के दृष्टिकोण का व्यापक आध्यात्मिक रूपान्तर हो जाना अत्यन्त आवश्यक है। अतः अध्यात्मवाद का स्थान मानव के अन्तरतम शुभ्र शिखरों पर सदैव के लिए वैसा ही अक्षुण्ण बना हुआ है और रहेगा जैसा कि वह शायद पहले भी नहीं था।

भारतीय दर्शन भी आधुनिकतम भौतिक दर्शन (मार्क्सवाद) की तरह सत्य के प्रति एक उपनयन (एप्रोच) मात्र है, किन्तु अधिक परिपूर्ण, क्योंकि वह पदार्थ (जड़), प्राण (जीवन), मन तथा चेतना (स्पिरिट) रूपी मानव-सत्य के समस्त धरातलों का विश्लेषण तथा संश्लेषण कर सकने के कारण उपनिषद् (पूर्ण एप्रोच) बन गया है। दुर्भाग्यवश हमारे तरुण बुद्धिजीवी अध्यात्मवाद को बादलों के ऊपर का कोई सत्याभास मानते हैं और उसे हमारे प्रतिदिन के जीवन के एक सूक्ष्म किन्तु सक्रिय सत्य के रूप में नहीं देखते। जिस प्रकार पदार्थ का एक भौतिक तथा मानसिक स्तर है उसी प्रकार उसका एक आध्यात्मिक स्तर भी।

पदार्थ तथा चेतना के धरातलों पर व्यर्थ न बिलम (रुक) कर हमारे युग को—और ऐसे युग सभ्यता के इतिहास में सहस्रों वर्षों बाद आते हैं—वैयक्तिक सामूहिक आवश्यकताओं के अनुरूप इन दोनों मौलिक संचरणों में नवीन सामंजस्य स्थापित कर, एवं जीवन के शतदल को मानस-जल के ऊपर नवीन सौन्दर्यबोध में प्रतिष्ठित कर, उसमें पदार्थ की पंखड़ियों का सन्तुलित प्रसार तथा चेतना की किरणों का सतरंग

ऐश्वर्य (विकास) भरना ही होगा। जीवन-निर्माण के आवेश में बह जाने के कारण तथा भौतिक दर्शन के अपर्याप्त दृष्टिकोण के कारण, इस युग के साहित्य में और भी अनेक प्रकार की भ्रान्तियों का प्रचार हो रहा है। यदि पुरानी दुनिया (मध्य युग) अति-वैयक्तिकता के पक्ष-पात से पीड़ित थी तो नयी दुनिया अति सामाजिकता के दलदल में फँसने जा रही है, जिसका दुष्परिणाम यह होगा कि कालान्तर में मनुष्य की सुख-शान्ति एक किमाकार यान्त्रिक तन्त्र के दुःसह बहिर्भूत भार से दब जायेगी और वैयक्तिक अन्तः संचरण का दम घुटने लगेगा। हमें व्यावहारिक दृष्टि से भी व्यक्ति तथा समाज को दो स्वतन्त्र अन्योन्याश्रित सिद्धान्तों की तरह स्वीकार करना ही होगा तथा मनुष्य की बहिरन्तर्मुखी प्रवृत्तियों के विकास और सामंजस्य के आधार पर ही विश्वतन्त्र को प्रतिष्ठित करना होगा। दोनों संचरणों की मान्यताओं को स्वीकार न करना अशान्ति को जन्म देना होगा। इसमें सन्देह नहीं कि सभ्यता के विकास-क्रम में जब हमारा मनुष्यत्व निखर उठेगा एवं जठर का संघर्ष उत्पादन-वितरण के सन्तुलन में निःशेष या समाप्तप्राय हो जायेगा, मनुष्य का बहिर्जीवन उसके अन्तर्जीवन के अधीन हो जायेगा, क्योंकि मनुष्य के अन्तर्जीवन तथा बहिर्जीवन के सौन्दर्य में इतना प्रकारान्तर है जितना सुन्दर मांस की देह तथा मिट्टी की निर्जीव प्रतिमा में! —किन्तु यह कल का स्वप्न है।

तथोक्त गहन मनोविज्ञान-सम्बन्धी निरुद्ध भावना, काम-ग्रन्थि आदि के परिज्ञान ने हमारी उदात्त भावना, आत्म-निग्रह आदि की धारणाओं के अर्थ का अनर्थ कर दिया है। उन्नयन का अर्थ दमन या स्तम्भन, संयम का आत्मपीड़न या निषेध तथा आदर्श का अर्थ पलायन हो गया है। उपचेतन-अवचेतन के निम्न स्तरों को इतनी प्रधानता मिल गयी है कि अव्यक्त या प्रच्छन्न (सबलिमिनल) मन के उच्च स्तरों के ज्ञान से हमारा तरुण बुद्धिजीवी अपरिचित ही रह गया है, भारतीय मनोविश्लेषक इड, लिबिडो तथा प्राण चेतना सत्ता (फॉयडियन साइकी) के चित्र-आवरण को चीरकर गहन शुभ्र जिज्ञासा करता है,—'केनेषितं पतित प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः?' किन्तु हमारे निष्प्राण, प्रेरणाशून्य साहित्य में उपचेतन की मध्यवर्गीय रुग्ण प्रवृत्तियों का चित्रण ही आज सृजन-कौशल की कसौटी बन गया है और वे परस्पर के अहंकार-प्रदर्शन, लांछन तथा घात-प्रतिघात का क्षेत्र बन गयी हैं, जिससे हम कुण्ठित बुद्धि के साथ संकीर्ण हृदय भी होते जा रहे हैं।

इस प्रकार की अनेक भ्रान्तियों तथा मिथ्या धारणाओं से आज हमारी सृजन-चेतना पीड़ित है और प्रगतिशील साहित्य का स्तर संकुचित होकर प्रतिदिन नीचे गिरता जा रहा है। हम पश्चिम की विचारधारा से इतने अधिक प्रभावित हैं कि अपनी ओर मुड़कर अपने देश का प्रशान्त गम्भीर, प्रसन्न मुख देखना ही नहीं चाहते। हममें अपनी भूमि के विशिष्ट मानवीय पदार्थ को समझने की क्षमता ही नहीं रह गयी है। हम इस सदियों के खँडहर का बाहरी दयनीय रूप देखकर क्षुब्ध तथा विरक्त हो जाते हैं और दूसरों का बाहर से सँवारा हुआ मुख देख-कर उनका अनुकरण करने लगते हैं। मैं जानता हूँ कि यह हमारी दीर्घ

पराधीनता का दुष्परिणाम है, किन्तु एक बार संयुक्त प्रयत्न कर हमें इससे ऊपर उठना होगा और अपने देश की युग-युग के अनुभव से गम्भीर परिपक्व आत्मा को, उसके अन्तःसौन्दर्य से तपोज्वल शान्त-सुन्दर मुख को पहचानकर अपने अन्तःकरण को उसकी गरिमा का उपयुक्त दर्पण बनाना होगा। तभी हम अन्य देशों से भी आदान-प्रदान करने योग्य हो सकेंगे, उनके प्रभावों तथा जीवन-अनुभूतियों को यथोचित रूप से ग्रहण करने एवं अपने संचय को उन्हें देने के अधिकारी बन सकेंगे, और इस प्रकार विश्व-निर्माण मे जाग्रत सक्रिय भाग ले सकेंगे।

मुझे ज्ञात है कि मध्य युगों से हमारे देश के मन में अनेक प्रकार की विकृतियाँ, संकीर्णताएँ तथा दुर्बलताएँ घर कर गयी हैं, जिनके कुछ तो राजनीतिक कारण हैं, कुछ हमारी सामन्ती संस्कृति के बाहरी ढाँचे की अवश्यम्भावी सीमाएँ और कुछ उत्थान के बाद पतनवाला, जीवन की विकासशील परिस्थितियों पर प्रयुक्त सिद्धान्त। प्रायः उन सभी मर्म-व्याधियों एवं स्थलों पर इस युग के हमारे बड़े-बड़े विचारक, साहित्यिक तथा सर्वाधिक महात्माजी, अपने महान् व्यक्तित्व का प्रकाश डाल चुके हैं। किन्तु बाहर की इस काई को हटा लेने के बाद भारत के अन्तश्चेतन मानस में जो कुछ शेष रहता है, उसके जोड़ का आज के संसार में कुछ भी देखने को नहीं मिलता, और यह मेरा अतीत का गौरव-गान नहीं, भारत के अपराजित व्यक्तित्व के प्रति विनम्र श्रद्धांजलि मात्र है।

हम आज विश्व-तन्त्र, विश्व-जीवन, विश्व-मन के रूप में सोचते हैं। पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि विश्व-योजना में विभिन्न देशों का अपना मौलिक व्यक्तित्व नहीं रहेगा। एकता का सिद्धान्त अन्तर्मन का सिद्धान्त है, विविधता का सिद्धान्त बहिर्मन तथा जीवन के स्तर का, दूसरे शब्दों में एकता का दृष्टिकोण ऊर्ध्व दृष्टिकोण है और विभिन्नता का समदिक्। विविध तथा अविभक्त होना जीवन-सत्य का सहज अन्तर्जात गुण है, इस दृष्टि से भी ऐसे किसी विश्व-जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती जिसमें ऐक्य और वैचित्र्य संयोजित न हों। इसलिए देश-प्रेम अन्तर्राष्ट्रीयता या विश्व-प्रेम का विरोधी न होकर उसका पूरक ही है। इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए मैं सोचता हूँ कि भारत पर भावी विश्व-निर्माण का कितना बड़ा उत्तरदायित्व है। और आज की विनाश की ओर अग्रसर विश्व-सभ्यता को अन्तःस्पर्शी मनुष्यत्व का अमरत्व प्रदान करने के लिए हमारे मनीषियों, बुद्धिजीवियों तथा लोकनायकों को कितना अधिक प्रवुद्ध, उदार-चेता तथा आत्म-संयुक्त बनने की आवश्यकता है।

हमारी गौतम और गांधी की ऐतिहासिक भूमि है। भारत का दान विश्व को राजनीतिक तन्त्र या वैज्ञानिक यन्त्र का दान नहीं हो सकता, वह संस्कृति तथा विकसित मनोयन्त्र की ही भेंट होगी। इस युग के महापुरुष गांधीजी भी अहिंसा को एक व्यापक सांस्कृतिक प्रतीक के ही रूप में दे गये हैं जिसे हम मानव-चेतना का नवनीत अथवा विश्व-मानवता का एकमात्र सार कह सकते हैं। महात्माजी अपने व्यक्तित्व से राजनीति के संघर्ष-कंटक-पुलकित कलेवर को संस्कृति का लिबास पहनाकर भारतीय बना गये हैं। उनका दान हम भुला भी दें, किन्तु संसार नहीं

भुला सकेगा, क्योंकि ग्रणु-मृत मानव-जाति के पास ग्रहिंसा ही एकमात्र जीवन-ग्रवलम्ब तथा संजीवन है।

सत्य-ग्रहिंसा के सिद्धान्तों को मैं ग्रन्त:संगठन (संस्कृति) के दो ग्रनिवार्य उपादान मानता हूँ। ग्रहिंसा मानवीय सत्य का ही सक्रिय गुण है। ग्रहिंसात्मक होना व्यापक ग्रर्थ में संस्कृत होना, मानव बनना है। सत्य का दृष्टिकोण मान्यताग्रों का दृष्टिकोण है, ग्रौर ये मान्यताएँ दो प्रकार की हैं: एक ऊर्ध्व ग्रथवा ग्राध्यात्मिक ग्रौर दूसरी समदिक्, जो हमारे नैतिक, सामाजिक ग्रादर्शों के रूप में विकास-क्रम में उपलब्ध होती हैं। ऊर्ध्व मान्यताएँ उस ग्रन्तस्थ सूत्र की तरह हैं जो हमारे बहिर्गत ग्रादर्शों को सामंजस्य के हार में पिरोकर हृदय में धारण करने योग्य बना देती हैं।

मैं जानता हूँ कि स्वाधीनता मिलने के बाद हम बुद्धिजीवियों को जिन सृजनात्मक तथा सांस्कृतिक शक्तियों के प्रादुर्भाव होने तथा उनके विकास के लिए प्रशस्त क्षेत्र मिलने की ग्राशा थी वैसा नहीं हो सका है। गांधीवाद का सांस्कृतिक चरण ग्रभी पंगु तथा निष्क्रिय ही पड़ा हुग्रा है। किन्तु हम सदियों की ग्रव्यवस्था, दुरवस्था तथा परवशता से ग्रभी-ग्रभी मुक्त हुए हैं। हमें ग्रपने को नवीन रूप में पहचानने, नवीन परिस्थितियों में ग्रपना उत्तरदायित्व समझने, ग्रौर विश्व-क्रान्ति की गम्भीरता को ठीक-ठीक ग्राँकने में ग्रभी समय लगेगा। मैं चाहता हूँ कि पश्चिम के देश, ग्रपने राष्ट्रीय स्वार्थों तथा ग्रार्थिक स्पर्धाग्रों के कारण, जिस प्रकार ग्रभी तक विश्व-संहार के यन्त्रालय बने हुए हैं, भारत एक नवीन मनुष्यत्व के ग्रादर्श में बँधकर, तथा ग्रपने बहिरन्तर जीवन को नवीन चेतना के सौन्दर्य में संगठित कर, महासृजन एवं विश्व-निर्माण का एक विराट् कार्यालय बन जाय; ग्रौर हमारे साहित्यिक तथा बुद्धि-जीवी, ग्रभिजातवर्ग की संकीर्ण नैतिकता तथा निम्न वर्ग की दैन्य-पीड़ा की गाथा गाने में एवं मध्यवर्ग के पाठकों के लिए उसका कृत्रिम चित्रण करने में ही ग्रपनी कला की इतिश्री न समझ लें, प्रत्युत युग-संघर्ष के भीतर से जन्म ले रही नवीन मानवता तथा सांस्कृतिक चेतना के संस्पर्शों एवं सौन्दर्य-बोध को भी ग्रपनी कृतियों में ग्रभिव्यक्ति देकर नव युग के ज्योति-वाहक बन सकें।

मैं जनता के राग-द्वेष, क्रोध तथा ग्रसन्तोष को भी ग्रादर की दृष्टि से देखता हूँ, क्योंकि उसके पीछे मनुष्य का हृदय है; किन्तु युग-संचरण को वर्ग-संचरण में सीमित कर देना उचित नहीं समझता। इस धरती के जीवन को मैं सत्य का क्षेत्र मानता हूँ, जो हमारे लिए मानवीय सत्य है। गम्भीर दृष्टि से देखने पर ऐसा नहीं जान पड़ता कि यह जीवन ग्रविद्या का ही क्षेत्र है जहाँ मन तथा ग्रात्मा के संचरण गौण तथा ग्रज्ञान के ग्रधीन हैं। यह केवल तुलनात्मक तथा बाह्य दृष्टिकोण है, जो हमारे ह्रास-युग का सूचक तथा विश्व-ग्रसंगठन का द्योतक है। सामाजिक दृष्टि से मैं ग्रसंगठन को माया तथा संगठन (जिसमें बहिरन्तर दोनों सम्मिलित हैं) को प्रकाश या सत्य कहता हूँ।

ग्रतएव इस राजनीति तथा ग्रर्थशास्त्र के युग में मुझे एक स्वस्थ सांस्कृतिक जागरण की ग्रावश्यकता ग्रौर भी ग्रधिक दिखाई देती है।

राजनीति का क्षेत्र मानव-जीवन के सत्य के सम्पूर्ण स्तरों को नहीं अपनाता, वह हमारे जीवन का धरती पर चलने वाला समतल चरण है; हमें अपने मन तथा आत्मा के शिखरों की ओर चढ़नेवाले एक ऊर्ध्व संचरण की भी आवश्यकता है, जो हमारे ऊपर के वैभव को धरती की ओर प्रवाहित कर समाज के राजनीतिक-आर्थिक ढांचे को शक्ति, सौन्दर्य, सामंजस्य तथा स्थायी लोक-कल्याण प्रदान कर सके। अन्यथा पृथ्वी के गहरे पंक में डूबा हुआ मनुष्य का पाँव ऊपर उठकर आगे नहीं बढ़ सकेगा। अणु बम के आगमन के बाद हमारे अग्नि भुज सैनिक, शक्ति-कामी राजनीतिक, तथा अधिकार-क्षुब्ध लोक-संगठनों का सत्य अपने आप ही जैसे निरस्त तथा परास्त हो गया है। मनुष्य को आज एक अहिंसक संस्कृत प्राणी के स्तर पर उठना ही होगा, एवं जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण को बदलकर अपनी शक्ति के लिए नवीन उपयोग (ऊर्ध्व पथ) खोजना होगा। एटम बम ने उसके भीतर के आदिम हिंस्र जीव को जैसे सदैव के लिए निहत कर दिया है; वह बलि की तरह अवचेतन की राह से फिर पाताल प्रवेश करने को उद्यत है।

अपने बहिर्मुख (इन्द्रियों के) मन से हम जीवन के जिस पदार्थ में आशा-आकांक्षाओं, सुख-दुःख, तथा भोग-अधिकार का सत्य देखते हैं एवं राजनीतिक-आर्थिक प्रणालियों द्वारा उसमें सामूहिक सन्तुलन स्थापित करते हैं उसी जीवन तत्व में हम अन्तर्मुख (ऊर्ध्व) मन से आनन्द, अमरत्व, प्रकाश आदि के रूप में अपने देवत्व के सत्य का अनुभव करते हैं, जिसका सामूहिक वितरण हम किसी प्रकार के सांस्कृतिक आन्दोलन द्वारा ही कर सकते हैं,—विशेषतः जब धार्मिक व्यवस्थाओं तथा संस्थाओं से हमारे युग की आस्था उठ रही है। इस प्रकार के किसी प्रयत्न के बिना हमारा मान्यताओं का ज्ञान अधूरा ही रह जायेगा और हम प्रवृत्तियों के पशु-मन को मनुष्यत्व के सौन्दर्य-गौरव से मण्डित नहीं कर सकेंगे। राजनीतिक लोकतन्त्र जहाँ हमारे भोग के संचरण की व्यवस्था तथा रक्षा करता है, सांस्कृतिक विश्वद्वार हमारे मनुष्यत्व (आत्मा) का पोषण करेगा।

संस्कृति शब्द का प्रयोग मैं व्यापक ही अर्थ में कर रहा हूँ। संस्कृति को मैं मानवीय पदार्थ मानता हूँ, जिसमें हमारे जीवन के सूक्ष्म-स्थूल दोनों धरातलों के सत्यों का समावेश तथा हमारे ऊर्ध्व चेतना शिखर का प्रकाश और समदिक् जीवन की मानसिक उपत्यकाओं की छायाएँ गुम्फित हैं। उसके भीतर अध्यात्म, धर्म, नीति से लेकर सामाजिक रूढ़ि-रीति तथा व्यवहारों का सौन्दर्य भी एक अन्तः-सामंजस्य ग्रहण कर लेता है। वह न धर्म तथा अध्यात्म की तरह ऊर्ध्व संचरण है, न राजनीति की तरह समतल; वह इन दोनों का मध्यवर्ती पथ है जिसमें दोनों के पोषक तथा प्राणप्रद तत्त्वों के बहिरन्तर का वैभव मानवीय व्यक्तित्त्व की गरिमा धारण कर लेता है। अतएव संस्कृति को हमें अपने हृदय की शिराओं में बहने वाला मनुष्यत्व का रुधिर कहना चाहिए, जिसके लिए मैंने अपनी रचनाओं में सगुण, सूक्ष्म संगठन या मनःसंगठन तथा लोकोत्तर, देवोत्तर मनुष्यत्व आदि शब्दों का प्रयोग किया है।

संस्कृति, सौन्दर्य-बोध आदि हमारे अन्तर्मन के संगठन हैं। संस्कृति

को मात्र वर्गवाद की दृष्टि से देखना एवं बाह्य परिस्थितियों पर अव-लम्बित प्रतिविधान मानना केवल वाद-ग्रस्त बुद्धि का दुराग्रह है। क्यों-कि उसके मूल मन से कहीं गहरे, बाहरी परिस्थितियों के अतिरिक्त, भीतरी सूक्ष्म परिस्थितियों में भी हैं। इस सम्बन्ध में अपने 'कला तथा संस्कृति' नामक अभिभाषण का एक अंश यहाँ उद्धृत करता हूँ :—

"हम कला का मूल्यांकन सत्य, शिव, सुन्दर के मानों से करते हैं। सत्य, शिव, सुन्दर से तत्त्वतः हमारा वही अभिप्राय है, जो आज के वस्तुवादी का क्षुधा-काम से अथवा अर्थवादी का परिस्थिति, सुविधा, वितरण आदि से है, क्योंकि हम सत्य, शिव, सुन्दर को क्षुधा, काम (जीवन-आकां-क्षाओं) ही के भीतर खोजते हैं, जिनसे हम बाह्य परिस्थितियों के जगत् से सम्बद्ध हैं; और इस दृष्टि से क्षुधा-काम हमारी भीतरी स्थूल परि-स्थितियाँ हुईं। सत्य, शिव, सुन्दर के रूप में हम अपनी इन्हीं वहिरन्तर की परिस्थितियों में सन्तुलन स्थापित करते हैं। आदर्श और वस्तुवादी दृष्टिकोणों में केवल धरातल का भेद है, और ये धरातल आपस में अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। सत्य, शिव, सुन्दर संस्कृति तथा कला का धरातल है, क्षुधा-काम प्राकृतिक आवश्यकताओं का। जिस सत्य को हम स्थल धरातल पर क्षुधा-काम कहते हैं, उसी को सूक्ष्म धरातल पर सत्य, शिव, सुन्दर। एक हमारी सत्ता की बाहरी भूख-प्यास है, दूसरी भीतरी। यदि संस्कृति और कला हमारी आवश्यकताओं के सत्य से बिल-कुल ही भिन्न तथा विच्छिन्न होतीं, तो उनकी हमारे लिए उपयोगिता ही क्या होती ? वे केवल स्वप्न तथा अतिकल्पना-मात्र होतीं। साथ ही यदि हमारी क्षुधा-काम की वृत्तियाँ संस्कृत होकर सत्य, शिव, सुन्दर के धरातल पर न उठ पातीं, तो वे मानवीय नहीं बन सकतीं। हमारी सामा-जिक मान्यताएँ इसी मानवीकरण अथवा ऊर्ध्व विकास के सिद्धान्त पर अवलम्बित हैं और मानव सभ्यता का लक्ष्य अन्ध-प्रवृत्तियों के पशु जीवन में मानवीय सन्तुलन स्थापित करना ही रहा है। अतएव हम इसे अच्छी तरह समझ लें कि ये दोनों धरातल बाहर से भिन्न होने पर भी तत्त्वतः अभिन्न तथा एक दूसरे के पूरक हैं।......इसीलिए भविष्य में हम जिस मानवता अथवा लोक-संस्कृति का निर्माण करना चाहते हैं उसके लिए हमें बाहर-भीतर दोनों ओर से प्रयत्न करना चाहिए, सूक्ष्म और स्थूल दोनों ही शक्तियों से काम लेना चाहिए। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि स्थूल के संगठन से सूक्ष्म अपने आप संगठित हो जायेगा जैसा कि आज का भौतिक दर्शन या मार्क्सवादी कहता है; अथवा सूक्ष्म में सामंजस्य स्था-पित कर लेने से स्थूल में अपने आप सन्तुलन आ जायेगा, जैसा कि मध्य-युगीन विचारक कहता आया है। ये दोनों दृष्टिकोण अतिवैयक्तिकता तथा अतिसामाजिकता के दुराग्रह मात्र हैं।...

"आज के बुद्धिजीवी और साहित्यिक के मन में बहुत बड़ा संघर्ष तथा विरोध देखने को मिलता है। इसका कारण शायद यह है कि वह व्यक्ति और विश्व —अथवा समाज—के ही रूप में सोचता है, और व्यक्तिगत तथा सामूहिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं के भीतर ही युग-समस्याओं (राजनीतिक अर्थ में) तथा मानव जीवन की समस्याओं (सांस्कृतिक अर्थ में) का समाधान खोजता है; और कभी व्यक्ति से असन्तुष्ट होकर

समाज की ओर झुकता है, कभी समाज से खिन्न होकर व्यक्ति की ओर। मेरी समझ में इन दोनों किनारों पर उसे अपनी समस्याओं का समाधान नहीं मिलेगा। जिस जीवन-मन-चेतना का तथा सूक्ष्म-स्थूल सत्य का प्रवाह व्यक्ति और समाज के तटों से टकराता है, उसे आप समग्र रूप में इस प्रकार नहीं समझ सकेंगे। आपको व्यक्ति और विश्व के साथ ही ईश्वर को भी मानना चाहिए, तब आप उसके व्यक्ति और विश्व रूपी संचरणों को ठीक-ठीक ग्रहण कर सकेंगे, और जीवन-सौन्दर्य के स्रष्टा की तरह उन्हें प्रभावित कर सकेंगे। जिस अतल, अकूल सत्य के प्रवाह की चर्चा मैंने अभी की है, उसे आप कलाकार तथा सूक्ष्म-जीवी की दृष्टि से संस्कृति के रूप में देखिए। एक राजनीति के क्षेत्र का सिपाही भले ही उसे द्वन्द्व-तर्क से संचालित, आर्थिक प्रणाली से प्रभावित उत्पादन-वितरण के संघर्ष के रूप में देखे, आप उसे मानव-जीवन के प्रवाह के रूप में देखिए, उसमें मानव-हृदय का स्पन्दन सुनिए और उससे मनुष्य की सांस्कृतिक प्रसव-वेदना का अनुमान लगाइए। आप क्षणभंगुर के अवगुण्ठन को हटाकर मानव-चेतना के शाश्वत मुख के भी दर्शन कीजिए। तब आप वास्तविक अर्थ में जीवन-द्रष्टा तथा सौन्दर्य-स्रष्टा बन सकेंगे। अन्यथा आप व्यक्ति-समाज के बीच भिन्न-भिन्न वर्गों-गिरोहों के बीच भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों, शक्ति-लोलुप संगठनों तथा नैतिक दृष्टिकोणों के बीच चलनेवाले संघर्ष के प्रचारक मात्र बन जायेंगे; और अपने स्वभाव, रुचि तथा परिस्थितियों के अनुरूप एक या दूसरे पक्ष का समर्थन कर अपने स्रष्टा के कर्त्तव्य से च्युत हो जायेंगे।''

मैं यह विद्या-विनम्र होकर नहीं लिख रहा हूँ कि मुझे अपनी किसी भी कृति से सन्तोष नहीं है। इसका कारण शायद मेरी बाहरी-भीतरी परिस्थितियों के बीच का असामंजस्य है। मैंने परिस्थितियों की चेतना के सत्य को कभी अस्वीकार नहीं किया है, जैसाकि मेरी रचनाओं से प्रकट है। 'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्णधूलि' मेरी अस्वस्थता के बाद की रचनाएँ हैं, जिनमें मेरी ज्योत्स्ना-काल की चेतना सम्भवतः अधिक प्रस्फुटित रूप में निखर आयी है। 'ग्राम्या' सन् '४० में प्रकाशित हुई थी। उसके बाद का काल, विशेषकर सन् '४२ के आन्दोलन का समय, जबकि द्वितीय विश्व-युद्ध का चक्र चल रहा था, मेरी मनःस्थिति के लिए अत्यन्त ऊहा-पोह का युग था।

मेरी कई पिछली मान्यताएँ भीतर ही भीतर ध्वस्त हो चुकी थीं और नवीन प्रेरणाएँ उदय हो रही थीं; 'ग्राम्या' की 'सांस्कृतिक मन' आदि कुछ रचनाओं तथा सन् '४२ के उत्तरार्ध में प्रकाशित मेरी 'लोकायतन' की योजना में उन मानसिक हलचलों का थोड़ा-बहुत आभास मिलता है। मेरी अस्वस्थता का कारण एक प्रकार से मेरी मनःक्लान्ति भी थी। अपनी नवीन अनुभूतियों के लिए, जिन्हें मैं अपनी सृजन-चेतना का स्वप्न-संचरण या काल्पनिक आरोहण समझता था, मुझे किसी प्रकार के बौद्धिक तथा आध्यात्मिक अवलम्ब की आवश्यकता थी। इन्हीं दिनों मेरा परिचय श्री अरविन्द के 'भागवत जीवन' (द लाइफ़ डिवाइन) से हो गया। उसके प्रथम खण्ड को पढ़ते समय मुझे ऐसा लगा, जैसे मेरे अस्पष्ट स्वप्न-चिन्तन को अत्यन्त सुस्पष्ट, सुगठित एवं पूर्ण दर्शन के रूप में रख

दिया गया है। अपनी अस्वस्थता के बाद मुझे 'कल्पना' चित्रपट के सम्बन्ध में मद्रास जाना पड़ा और मुझे पाण्डिचेरी में श्री अरविन्द के दर्शन करने तथा श्री अरविन्द आश्रम के निकट सम्पर्क में आने का सौभाग्य भी प्राप्त हो सका। इसमें सन्देह नहीं कि श्री अरविन्द के दिव्य जीवन-दर्शन से मैं स्वभावतः प्रभावित हुआ हूँ। श्री अरविन्द आश्रम के योग युक्त (अन्तः संगठित) वातावरण के प्रभाव से, ऊर्ध्व मान्यताओं सम्बन्धी, मेरी अनेक शंकाएँ दूर हुई हैं। 'स्वर्णकिरण' और उसके बाद की रचनाओं में यह प्रभाव, मेरी सीमाओं के भीतर, किसी-न-किसी रूप में प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर होता है।

जैसा कि मैं 'आधुनिक कवि' की भूमिका में निवेदन कर चुका हूँ, मैं अपने युग, विशेषतः देश की, प्रायः सभी महान् विभूतियों से किसी-न-किसी रूप में प्रभावित हुआ हूँ। 'वीणा-पल्लव' काल में मुझ पर कवीन्द्र रवीन्द्र तथा स्वामी विवेकानन्द का प्रभाव रहा है, 'युगान्त' और बाद की रचनाओं में महात्माजी के व्यक्तित्व तथा मार्क्स के दर्शन का; महात्मा जी के देह-निधन के बाद की रचनाएँ, जो 'युगपथ' में संगृहीत हैं, उनके प्रति मेरे हृदय की श्रद्धा की परिचायक हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रति भी मेरी दो रचनाएँ 'युगपथ' में प्रकाशित हो रही हैं। किन्तु इन सब में जो एक परिपूर्ण एवं सन्तुलित अन्तर्दृष्टि का अभाव खटकता था, उसकी पूर्ति मुझे श्री अरविन्द के जीवन-दर्शन में मिली; और इस अन्तर्दृष्टि को मैं इस विश्व-संक्रान्ति-काल के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा अमूल्य समझता हूँ। मैंने अपने समकालीन लेखकों तथा विशिष्ट व्यक्तियों पर समय-समय पर स्तुति-गान लिखने में सुख अनुभव किया है। श्री अरविन्द के प्रति मेरी कुछ विनम्र रचनाएँ, भेंट रूप में, 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि' तथा 'युगपथ' में पाठकों को मिलेंगी।

श्री अरविन्द को मैं इस युग की अत्यन्त महान् तथा अतुलनीय विभूति मानता हूँ। उनके जीवन-दर्शन से मुझे पूर्ण सन्तोष प्राप्त हुआ। उनसे अधिक व्यापक ऊर्ध्व तथा अतलस्पर्शी व्यक्तित्व, जिनके जीवन-दर्शन में अध्यात्म का सूक्ष्म, बुद्धि-अग्राह्य-सत्य नवीन ऐश्वर्य तथा महिमा से मण्डित हो उठा है, मुझे दूसरा कहीं देखने को नहीं मिला। विश्व-कल्याण के लिए मैं श्री अरविन्द की देन को इतिहास की सबसे बड़ी देन मानता हूँ। उसके सामने इस युग के वैज्ञनिकों की अणु शक्ति की देन भी अत्यन्त तुच्छ है। उनके दान के बिना शायद भूत-विज्ञान का बड़े से बड़ा दान भी जीवन-मृत मानव जाति के भविष्य के लिए आत्म पराजय तथा अशान्ति ही का वाहक बन जाता। मैं नहीं कह सकता कि संसार के मनीषी तथा लोक-नायक श्री अरविन्द की इस विशाल आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि का उपयोग किस प्रकार करेंगे अथवा भगवान् उसके लिए कब क्षेत्र बनायेंगे।

यह मेरे कवि हृदय की विनीत अपर्याप्त श्रद्धांजलि मात्र है। ये थोड़े से शब्द मैं इसलिए लिख रहा हूँ कि हमारे तरुण बुद्धिजीवी श्री अरविन्द के जीवन-दर्शन से भारत की आत्मा का परिचय तथा मानव और विश्व के अन्तर-विधान का अधिक परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त कर, लाभान्वित हो सकें। आज हम छोटी-छोटी बातों के लिए पश्चिम के विचारकों का

मुँह जोहते हैं, उनके वाक्य हमारे लिए ब्रह्म वाक्य बन जाते हैं और हम अपनी इतनी महान् विभूति को पहचान भी नहीं सके हैं, जिनके हिमालय-तुल्य मन:शिखर के सामने इस युग के अन्य विचारक विन्ध्य की चोटियों के बराबर भी नहीं ठहरते। इसका कारण यही हो सकता है कि हमारी राजनीतिक पराधीनता की बेड़ियाँ तो किसी प्रकार कट गयीं, किन्तु मानसिक दासता की शृंखलाएँ अभी नहीं टूटी हैं।

सहस्रों वर्षों से अध्यात्म-दर्शन की सूक्ष्म-सूक्ष्मतम झंकारों से रहस-मौन निनादित भारत के एकान्त मनोगगन में मार्क्स तथा ऐंगिल्स के विचार-दर्शन की गूँजें बौद्धिकता के शुभ्र अन्धकार के भीतर से रेंगनेवाले झींगुरों की रुँधी हुई झनकारों से अधिक स्पन्दन नहीं पैदा करतीं। ऐंगिल्स के शाश्वत सत्य की व्याख्या जिसके उदाहरणस्वरूप, 'नैपोलियन ५ मई को मरा है', तथा हीगल का 'विचार का निरपेक्ष', जो कण-कण जोड़कर विकसित होता है, अथवा ऐसे इतर सिद्धान्तों की दुहाई देकर द्वन्द्व-तर्क तथा भौतिकवाद का महत्व दिखाना भारतीय दर्शन के विद्यार्थियों के लिए हास्यास्पद दार्शनिक तुतलाहट से अधिक अर्थ-गौरव नहीं रखता। जिस मार्क्स तथा ऐंगिल्स के उद्धरणों को दुहराते हुए हमारा तरुण बुद्धिजीवी नहीं थकता, उसे अन्य दर्शनों के साथ अपने देश के दर्शन का भी सांगोपांग तुलनात्मक अध्ययन अवश्य करना चाहिए और देखना चाहिए कि ऊँट तथा हिमालय के शिखर में कितना अन्तर और क्या भेद है।

मार्क्सवाद का आकर्षण उसके खोखले दर्शन-पक्ष में नहीं, उसके वैज्ञानिक (लोकतन्त्र के रूप में मूर्त्त) आदर्शवाद में है, जो जन-हित का अथवा सर्वहारा का पक्ष है, किन्तु उसे वर्ग-क्रान्ति का रूप देना अनिवार्य नहीं है। वर्गयुद्ध का पहलू फासिज्म की तरह ही निकट भविष्य में पूँजीवादी तथा साम्राज्यवादी युग की दूसरी प्रतिक्रिया के रूप में विकृत एवं विकीर्ण हो जायेगा।

हीगल के द्वन्द्व-तर्क में बिम्बित पश्चिम के मनोजगत् का अन्तर्द्वन्द्व मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में बहिर्द्वन्द्व का रूप धारण कर लेता है। इस दृष्टि से इन युगप्रवर्तकों का मानस-चिन्तन, ऐंगिल्स के अनुसार 'अपनी युग सीमाओं से बाहर' अवश्य नहीं जा सका है। मार्क्स ने, समस्त पश्चिम के ज्ञान को आत्मसात् कर, सिर के बल खड़े हीगल को पैरों के बल खड़ा नहीं किया; यूरोप का मनोद्वन्द्व ही तब अपने आर्थिक-राजनीतिक चरणों पर खड़ा होकर 'युद्धं देहि' कहने को सन्नद्ध हो उठा था, जिसका पूर्वाभास पाकर युग-प्रबुद्ध मार्क्स ने उस पर अपने वर्गयुद्ध के सिद्धान्त की रक्त छाप लगा दी। डारविन ने जहाँ, पूंजीवाद के अभ्युदय-काल में, अपने 'सरवाइवल ऑफ द फिटेस्ट' के सिद्धान्त को (जिसकी तुलना में ईसा की सांस्कृतिक चेतना की द्योतक 'ब्लसेड आर द मीक फ़ॉर दे शैल इनहेरिट द अर्थ' आदि सूक्तियाँ रखी जा सकती हैं) जीव विकास-क्रम पर प्रतिपादित एवं प्रतिष्ठित किया, वहाँ मार्क्स ने, यन्त्रयुग के आर्थिक चक्रों से जर्जर, सर्वहारा का पक्ष लेकर वर्गयुद्ध के सिद्धान्त को द्वन्द्व-तर्क से परिचालित, ऐतिहासिक विकास-क्रम में, (युग संकट के समाधान के रूप में)। हीगल और मार्क्स दोनों ही अपने

युग के बहुत बड़े मनस्वी हुए हैं, किन्तु इनकी मनःशक्ति ही इनकी सीमाएँ भी बन गयीं।

मैं मार्क्सवादी (आर्थिक दृष्टि से वर्ग-सन्तुलित) जनतन्त्र तथा भारतीय जीवन-दर्शन को विश्व-शान्ति तथा लोक-कल्याण के लिए आदर्श-संयोग मानता हूँ, जैसा कि मैं अपनी रचनाओं में भी संकेत कर चुका हूँ,—

'अन्तर्मुख अद्वैत पड़ा था युग-युग से निस्पृह निष्प्राण
उसे प्रतिष्ठित करने जग में दिया साम्य ने वस्तु विधान!'
—'युगवाणी'

पश्चिम का जीवन-सौष्ठव हो विकसित विश्व तन्त्र में वितरित,
प्राची के नव आत्मोदय से स्वर्ण द्रवित भू-तमस तिरोहित!'
इत्यादि।
—'स्वर्णकिरण'

ऐसा कहकर मैं स्वामी विवेकानन्द के सार-गर्भित कथन, "मैं यूरोप का जीवन-सौष्ठव तथा भारत का जीवन-दर्शन चाहता हूँ" ही की अपने युग के अनुरूप पुनरावृत्ति कर रहा हूँ। मेरी दृष्टि में पृथ्वी पर ऐसी कोई भी सामाजिकता या सभ्यता स्थापित नहीं की जा सकती, जो मात्र समदिक् रहकर वर्गहीन हो सके। क्योंकि ऊर्ध्व-संचरण ही केवल वर्गहीन संचरण हो सकता है, और वर्गहीनता का अर्थ केवल अन्तरैक्य पर प्रतिष्ठित समानता ही हो सकता है। अतः मानवता को, वर्गहीन बनने के लिए, समतल प्रसारगामी के साथ ऊर्ध्व विकासकामी बनना ही पड़ेगा, जो हमारे युग की एकान्त आवश्यकता है।

हमारे युग का सबसे बड़ा दुर्भाग्य है अन्तःसंश्लेषण तथा बहिः-संनिधान की कमी। हमारा युग-मानव अभी अपने आध्यात्मिक, मानसिक तथा भौतिक संचय को परस्पर संयोजित नहीं कर पाया है। उसका मन बाह्य विश्लेषण से आक्रान्त तथा अन्तः-संश्लेषण से रिक्त है। इसमें सन्देह नहीं कि धीरे-धीरे मानव-चेतना विश्व-क्रान्ति की बहुमुखी गुरुता से परिचित होकर विश्व सांस्कृतिक संगठन अथवा विश्व सांस्कृतिक द्वार की ओर अग्रसर हो सकेगी, जिसमें इस युग का समस्त भौतिक-मानसिक वैभव संगृहीत एवं समन्वित हो सकेगा। किन्तु किपलिंग के कुछ आधुनिक भारतीय संस्करण (यद्यपि किपलिंग के दृष्टिकोण के बारे में यह केवल लोकमत मात्र है) भौतिकता (पश्चिम का राजनीतिक-आर्थिक जीवन सम्बन्धी संघर्ष तथा वर्गहीन लोकतन्त्र) तथा आध्यात्मिकता (पूर्व की अन्तर्जीवन संघर्ष सम्बन्धी अनुभूतियाँ तथा अन्तर्मुख मनोयन्त्र) का समन्वय असम्भव मानते हैं, जबकि आध्यात्मिकता प्रारम्भ से ही 'पद्भ्यां पृथिवीं' घोषित करती आयी है।

पूर्व - पश्चिम की सभ्यताओं की जीवन - अनुभूतियों को, जिन्हें ऐतिहासिक विकास के लिए मानव अदृष्ट (भावी) का भौगोलिक वितरण कहना अनुचित न होगा, निकट भविष्य में विश्व-सन्तुलन तथा बहिरन्तर संगठित भू-चेतना एवं भू-मन के रूप में संयोजित होना ही

होगा। पश्चिम को पूर्व, विशेषकर भारत, जो अन्तर्मन तथा अन्तर्जगत् का सिद्ध वैज्ञानिक है,—मानव तथा विश्व के अन्तर्विधान में (काल में) अन्तर्दृष्टि देगा और पूर्व को पश्चिम जीवन के दिक् प्रसरित बहिर्विधान का वैभव सौष्ठव प्रदान करेगा। आनेवाली सांस्कृतिक चेतना का स्वर्गोन्नत सेतु पूर्व तथा पश्चिम के संयुक्त छोरों पर झूलकर धरती के जीवन एवं विश्व-मन को एक तथा अखण्ड बना देगा। तब दोनों के, आज की दृष्टि से, विरोधी अस्तित्व नवीन मानव-चेतना के ज्वार में डूब जायेंगे और विश्व-मानवता एक ही सिन्धु की अगणित लहरों की तरह भू-जीवन की आरपार-व्यापी सौन्दर्य गरिमा वहन कर सकेगी।

आज के संक्रान्ति-काल में मैं साहित्य-स्रष्टा एवं कवि का यही कर्तव्य समझता हूँ कि वह युग-संघर्ष के भीतर जो नवीन लोक-मानवता जन्म ले रही है. वर्तमान के कोलाहल के बधिर पट से आच्छादित मानव-हृदय के मंच पर जिन विश्व-निर्माण, विश्व-एकीकरण की नवीन सांस्कृतिक शक्तियों का प्रादुर्भाव तथा अन्तःक्रीड़ा हो रही है, उन्हें अपनी वाणी द्वारा अभिव्यक्ति देकर जीवन-संगीत में झंकृत कर सके और थोथी बौद्धिकता तथा सैद्धान्तिकता के मृगजल-मरु में भटकी हुई अन्तःशून्य मनुष्यता का ध्यान उसके चिर उपेक्षित अन्तर्जगत् तथा अन्तर्जीवन की ओर आकर्षित कर सके; एवं इस युग के वादों की संकीर्ण भित्तियों में बन्दी युग-युग से निश्चेष्ट निष्क्रिय मानव-हृदय में जिसकी प्रत्येक श्वास में घृणा-द्वेष के विष का संचार हो रहा है, स्वाभाविक प्रेम का स्पन्दन तथा देवत्व का संगीत जाग्रत कर सके,—विशेष कर जब इस युग में मानव-हृदय इतना क्षुधित, चेतना-शून्य तथा विकसित न हो सकने के कारण निर्मम हो गया है कि दो विश्व-युद्धों के हाहाकार के बाद भी आज मनुष्य तीसरे विश्व-व्यापी अणु-संहार के लिए उद्यत प्रतीत होता है। कवि की विश्वप्रीति एवं मानव-प्रेम की वंशी को आत्मकुण्ठा के प्रतिकार के लिए, व्यक्तिगत घृणा-द्वेष तथा जनोद्धार के आवरण में अनीति के प्रचार के लिए, लोक-हितैषिता के छद्मवेश में शक्ति-लालसा तथा पद-अधिकार के लिए एवं वाद-पीड़ित बौद्धिक दुराग्रह से उत्तेजित विश्वव्यापी लोक-संहार के लिए तोपों के अनुर्वर कृत्रिम गर्जन में बदलने का दुःप्रयास करना मुझे सृजन-प्राण साहित्यजीवी का कर्तव्य नहीं जान पड़ता। सौन्दर्यस्रष्टा एवं जीवनद्रष्टा चाहे वाल्मीकि हो या गोर्की, वह सेना-नायक या सैन्य-वाहक नहीं होता, वह सन्देश या युग-संकेत वाहक ही होता है। वह भावात्मक चेतना का ही सृजन-गम्भीर शंख-घोष करता है।

मैं केवल इस युग के मान्यताओं सम्बन्धी संघर्ष एवं युगक्रान्ति के भीतरी पक्ष पर प्रकाश डालने का प्रयत्न कर रहा हूँ, जो मानव-चेतना के नवीन सांस्कृतिक आरोहण का सूचक है। इस दृष्टि से इस युग के समस्त वाद-विवाद नवीन लोकचेतना के स्फुलिंग एवं अंश सत्य-मात्र हैं। मानव के इस विकासोन्मुख व्यक्तित्व को, निकट भविष्य में, जीवन, जो सबसे बड़ा स्रष्टा तथा कलाकार है, अपने रहस्य-स्पर्शों से सँवारकर नवीन मानवता की सजीव शोभा में मूर्तिमान कर देगा। बुद्ध, मसीहा, तथा मोहम्मद जिस स्वर्ग के राज्य को पृथ्वी पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे, उस स्वप्न को हमारा विद्युत् तथा अणु का युग वास्तविकता प्रदान

कर सकेगा और धीरे-धीरे हम आज के युग-संघर्ष के व्यापक स्वरूप को समझ सकेंगे। आज के वर्गयुद्ध में हमें जिस युग-संचरण का पूर्वाभास मिलता है, उसके भीतर निहित मनुष्य की अन्तश्चेतना का प्रयोजन हमारे युग-मन में अधिक स्पष्ट हो जायेगा और इसमें सन्देह नहीं कि यह मात्र बाहर का रोटी का युद्ध शीघ्र ही मन के रणक्षेत्र में नवीन मान्यताओं के देवासुर-संघर्ष का रूप धारण कर, एवं मानव-चेतना तथा अस्तित्व के अन्तरतम स्तरों को आन्दोलित कर, मानव-हृदय को स्वर्ग-शोणित से स्नानपूत तथा नवीन चेतना के सौन्दर्य और मानवता की गरिमा से मण्डित कर देगा। अस्तु—

'स्वर्णकिरण' में मैंने अन्तर्जीवन अन्तश्चेतना आदि को इतना अधिक महत्व इसलिए भी दिया है कि इस युग में भौतिक दर्शन के प्रभाव से हम उन्हें बिलकुल ही भूल गये हैं। वैसे सामान्यतः उसमें बहिरन्तर जीवन के समन्वय को ही अधिक प्रधानता दी गयी है। जैसा कि—'भौतिक वैभव औ आत्मिक ऐश्वर्य नहीं संयोजित !' 'बहिरन्तर के सत्यों का जगजीवन में कर परिणय', 'बहिर्नयन विज्ञान हो महत् अन्तर्दृष्टि ज्ञान से योजित'—आदि अनेक पंक्तियों में अनेक रूप से मिलेगा। युग्म-चेतना-सम्बन्धी मान्यताओं पर भी मैंने 'स्वर्णकिरण' के अन्तर्गत 'स्वर्णोदय' के अन्तिम भाग में तथा 'स्वर्णधूलि' की 'मानसी' में विशेष रूप से प्रकाश डाला है, जिससे पाठकों पर मेरा दृष्टिकोण स्पष्ट हो जायेगा।

'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि' में मैंने यत्र-तत्र छन्दों की सम-विषम गति की एकस्वरता को बदलने की दिशा में भी कुछ प्रयोग किये हैं। जिससे ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक छन्दों की गति में अधिक वैचित्र्य तथा शक्ति आ जाती है। यथा—

'सुवर्ण किरणों का झरता निर्झर' में 'सुवर्ण' के स्थान पर 'स्वर्णिम कर देने से गति में तो संगति आ जाती है, पर सुवर्ण किरणों का प्रकाश मन्द पड़ जाता है। इसी प्रकार 'जल से भी कठोर धरती' में 'कठोर' के स्थान पर 'निष्ठुर' हो सकता था, 'मेरे ही असंख्य लोचन' के बदले··· 'अगणित लोचन, 'मानव भविष्य हो शासित' के बदले···'भावी हो शासित', 'दैन्यों में विदीर्ण मानव' के स्थान पर 'विक्षत' अथवा 'खण्डित मानव' हो सकता था,—और ऐसे ही अनेक उदाहरण दुहराये जा सकते हैं; किन्तु मैंने सम-विषम गति से शब्द-शक्ति को ही अधिक महत्त्व देना उचित समझा है। इस युग में जब हम ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक के पाश से मुक्त होकर अक्षरमात्रिक तथा गद्यवत् मुक्त छन्द लिखने में अधिक सौकर्य अनुभव करते हैं, मेरी दृष्टि में, ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक में यति को मानते हुए समविषम की गति में इधर-उधर परिवर्तन कर देना कविता पर किसी प्रकार का अत्याचार नहीं होगा, बल्कि उससे ह्रस्व-दीर्घ-मात्रिक में स्वर-पात का सौन्दर्य आ जाता है। इन रचनाओं में मैंने ह्रस्व अन्त्यानुप्रासों का अधिक प्रयोग किया है,—यथा कोमल, लोचन, सुरभित इत्यादि। ह्रस्व मात्रिक तुक अधिक सूक्ष्म होने से एक प्रकार से छन्द प्रवाह में घुल-मिलकर खो जाते हैं। गीतों को छोड़कर निबन्ध एवं इतर काव्य में मैंने इस प्रकार के सूक्ष्म या नम्र अन्त्यानुप्रास से ही अधिक काम लिया है,—गीतों में ह्रस्व-दीर्घ दोनों प्रकार के तुकों से।

'उत्तरा' में मेरी इधर की कुछ प्रतीकात्मक, कुछ धरती तथा युग जीवन-सम्बन्धी, कुछ प्रकृति तथा वियोग-शृंगार-विषयक कविताएँ और कुछ प्रार्थना गीत संगृहीत हैं। 'उत्तरा' की भाषा 'स्वर्णकिरण' की भाषा से अधिक सरल है, उसके छन्दों में मैंने उपर्युक्त विचारों तथा प्रेरणाओं को वाणी देने का प्रयत्न किया है, जो मेरी भावना के भी अंग है। 'वनिक-श्रमिक मृत'—आदि प्रयोग मैंने व्यक्तियों या संगठनों के लिए नहीं, युग-प्रतीकों अथवा परिस्थितियों के विभाजनों के लिए ही किये हैं, जो सांस्कृतिक, सामाजिक तथा राजनीतिक सभी दृष्टियों से वांछनीय है।

अन्त में मैं अपने स्नेही पाठकों से निवेदन करूँगा कि वे मेरी रचनाओं को इसी सांस्कृतिक चेतना की अस्पष्ट मर्मर के रूप में ग्रहण करें और 'युग विषाद का भार वहन कर तुम्हें पुकारूँ प्रतिक्षण' जैसी भावनाओं को 'आओ प्रभु के द्वार !' की तरह, जन-विरोधी न समझ लें। ऐसी पुकार में व्यक्ति के निजत्व का समावेश अवश्य रहता है, पर ऐसी किसी भी सामाजिकता की कल्पना मैं नहीं कर सकता, जिसमें व्यक्ति के हृदय का स्पन्दन रुक जाये और न शायद दूसरे ही करते होंगे।

मैं बाहर के साथ भीतर (हृदय) की क्रान्ति का भी पक्षपाती हूँ, जैसा कि मैं ऊपर संकेत कर चुका हूँ। आज हम वाल्मीकि तथा व्यास की तरह एक ऐसे युग-शिखर पर खड़े हैं, जिसके निचले स्तरों में धरती के उद्वेलित मन का गर्जन टकरा रहा है और ऊपर स्वर्ग का प्रकाश, अमरों का संगीत तथा भावी का सौन्दर्य बरस रहा है। ऐसे विश्व-संघर्ष के युग में सांस्कृतिक सन्तुलन स्थापित करने के प्रयत्न को मैं जाग्रत् चैतन्य मानव का कर्त्तव्य समझता हूँ। और यदि वह सम्भव न हो सका तो क्रान्ति का परिस्थितियों द्वारा संगठित सत्य तो भूकम्प, बाढ़ तथा महामारी की तरह है ही, उसके अदम्य वेग को कौन रोक सकता है?

'कौन रोक सकता उद्वेग भयंकर,
मर्त्यों की परवशता, मिटते कट मर !'

अतएव मेरी इन रचनाओं में पाठकों को धराशिखर के इसी संगीत की अथवा नवीन चेतना के आविर्भाव-सम्बन्धी अनुभव की क्षीण प्रति-ध्वनियाँ मिलेंगी। अपनी श्लक्ष्ण कल्पना-वाणी द्वारा जन-युग के इस हा-हा-रव में मैंने मनीषियों तथा साहित्य-प्रेमियों का ध्यान मानव-चेतना के भीतर सृजन-शक्तियों की इन सूक्ष्म क्रीड़ाओं की ओर आकृष्ट करने की चेष्टा की है जिससे हम आज की जाति-पाँति-वर्गों में विकीर्ण तथा आर्थिक-राजनीतिक आन्दोलनों से कम्पित धरती को उन्नत मनुष्यत्व में बाँधकर विश्व मन्दिर या भू-स्वर्ग के प्रांगण में समवेत कर सकें। मेरे गीतों का इसके अतिरिक्त और कोई अर्थ नहीं है। वे मनुष्य के अन्तर्जगत् तथा भविष्य की अस्पष्ट झाँकियाँ-भर हैं और नवीन मानव चेतना के सिन्धु में मेरी वाणी के स्वप्न अवगाहन अथवा स्वप्न निमज्जन मात्र।

इस भूमिका के रूप में मैंने अपने विचारों को उनके महत्त्व के प्रति किसी प्रकार के मोह के कारण नहीं दिया है,—केवल पाठकों की सुविधा के लिए अपनी इधर की रचनाओं की पृष्ठभूमि का एक रेखा-चित्र भर खींच दिया है। अपनी त्रुटियों के लिए मैं उनसे विनम्रता-पूर्वक क्षमा याचना करता हूँ। इति।

६ बेली रोड, प्रयाग
१५ जनवरी, '४९

सुमित्रानंदन पंत

उत्तरा

विचरो प्रिय, उत्तरा गीत पथ !
बढ़ते अगणित ध्वनित चरण,
विचरण करते नीरव युग शत शत !

चुभते शूल, मर्त्य पग लोहित,
झरते फूल, मनोदृग मोहित,
यह बहिरन्तर क्रान्ति, श्रान्त श्लथ
चलता जन जीवन, भू लथपथ !

बदल रहा अब स्थूल धरातल,
परिणत होता सूक्ष्म मनस्तल,
विस्तृत होता बहिर्जगत् अब
विकसित अन्तर्जीवन अभिमत !

जड़ चेतन के चक्र निरन्तर
घूम रहे चिर प्रलय सृजन कर,
जयध्वनि हा-हा-रव में बढ़ता
युगपथ पर मानवता का रथ !

चिर विकास प्रिय जन - भू का मग,
भावी धरती स्वप्नों के पग,
गत भू जीवन, युग मन ही रे,
सत्य नहीं, मानव के इति अथ !
विचरो प्रिय, उत्तरा काव्य पथ !

युग विषाद

गरज रहा उर व्यथा भार से
गीत बन रहा रोदन,
आज तुम्हारी करुणा के हित
कातर धरती का मन !

मौन प्रार्थना करता अन्तर
मर्म कामना भरती मर्मर,
युग सन्ध्या : जीवन विषाद से
आहत प्राण समीरण !

जलता मन मेघों का-सा धर
स्वप्नों की ज्वाला लिपटा कर,
दूर, क्षितिज के पार दीखती
रेख क्षितिज की नूतन !

बढ़ते अगणित चरण निरन्तर
दुर्दम आकांक्षा के पग धर,
खुलता बाहर तम कपाट
भीतर प्रकाश का तोरण !

श्रान्त, रक्त से लथपथ जन मन,
नव प्रभात का यह स्वर्णिम क्षण,
युग युग का खँडहर यह जग
करता नव शोभा धारण !

युग छाया

दारुण मेघ घटा घहराई,
युग सन्ध्या गहराई !
आज धरा प्रांगण पर भीषण
झूल रही परछाईं !
तुम विनाश के रथ पर आओ,
गत युग का हत शव ले जाओ,
गीध टूटते, श्वान भूँकते,
रोते शिवा विदाई !
मनुज रक्त से पंकिल युग पथ,
पूर्ण हुए सब दैत्य मनोरथ,
स्वर्ग रुधिर से अभिषेकित अब
नव युग की अरुणाई !
नाचेगा जब शोणित चेतन,
बदलेगा तब युग निरुद्ध मन,
कट मर जायेंगे युग दानव,
सुर नर होंगे भाई !
ज्ञात मर्त्य की मुझे विवशता,
जन्म ले रही नव मानवता,
स्वप्न द्वार फिर खोल उषा ने
स्वर्ण विभा बरसाई !

युग संघर्ष

गीत क्रान्त रे इस युग के कवि का मन,
नृत्य मत्त उसके छन्दों का यौवन !
वह हँस हँस कर चीर रहा तम के घन,
मुरली का मधु रव कर भरता गर्जन !

नवल चेतना से उसका उर ज्योतित,
मानव के अन्तर वैभव से विस्मित !
युग विग्रह में उसे दीखती बिम्बित
विगत युगों की रुद्ध चेतना सीमित !

उसका जाग्रत मन करता दिग् घोषण,
अन्तर्मानव का यह युग संघर्षण !
शोषक हैं इस ओर, उधर हैं शोषित,
बाह्य चेतना के प्रतीक जो निश्चित !

धनिकों श्रमिकों का स्वरूप धर बाहर
ह्रास शक्तियाँ आत्म नाश हित तत्पर;
क्षोभ भरे युग शिखर उभड़ते दुर्धर
टकराता भू ज्वार : क्षुब्ध भव सागर !

नृत्य कर रही क्रान्ति रक्त लहरों पर,
घृणा द्वेष की उठीं आँधियाँ दुस्तर !
कौन रोक सकता उद्वेग प्रलयकर,
मर्त्यों की परवशता, मिटते कट मर !

महा सृजन की तड़ित् टूटती दुःसह
अन्धकार भू का विदीर्ण कर दुर्वह !
युग युग की जड़ता कँप उठती थर थर
आज स्वप्न प्रज्वलित चकित रे अन्तर !

नव्य चेतना का विरोध करते जन,
यह जड़त्व भू मन का अन्ध पुरातन !
आज मनोजग में जन के भय संशय
द्वेष प्रेम का देता पहिला परिचय !

सम्भव है, नभ में छायें करुणा घन
अन्तर मन में भर जाये युग क्रन्दन,
बरसाये उर भू पर आभा के कण
द्रोही मानव के प्रति विद्रोही बन !

ध्यान मौन आराधक, साधक, गायक,
सोच मग्न रे मनोजगत के नायक,
आन्दोलित मानवता के अभिभावक,
विश्व क्रान्ति यह : आपद् काल भयानक !

... ...

रक्त पूत अब धरा : शान्त संघर्षण,
धनिक श्रमिक मृत : तर्कवाद निश्चेतन !
सौम्य शिष्ट मानवता अन्तर्लोचन
सृजन-मौन करती धरती पर विचरण !

उज्ज्वल मस्तक पर मुक्ता-से श्रम कण,
शान्त धीर मन से करती वह चिन्तन;
भू जीवन निर्माण निरत, नव चेतन
साधारण रे वास वसन, मित भोजन !

विद्युत् अणु उसके सम्मुख अब नत फन,
वसुधा पर नव स्वर्ग सृजन के साधन,
आज चेतना का गत वृत्त समापन
नूतन का अभिवादन करता कवि मन !

नव मानव

ओ अग्नि चक्षु, अभिनव मानव !
संपर्कज रे तेरा पावक
चेतना शिखा में उठा धधक,
इसको मन नहीं सकेगा ढँक !

यह ज्वाला जग जीवन दायक,—
स्वप्नों की शोभा से अपलक
मानस भू सुलग रही धक्-धक् !
ओ नवल युगागम के अनुभव !
नव ऊषा-सा स्वर्णाभ वरण
वह शक्ति उतरती ज्योति चरण,
उर का प्रकाश नव कर वितरण !

नव शोणित से उर्वर भू मन,
शोभा से विस्मित कवि लोचन,
अब धरा चेतना नव चेतन !
ओ अन्तर्ज्ञान नयन वैभव !
भू तम का सागर रहा सिहर
जन मन पुलिनों पर बिखर बिखर
उठ रश्मि शिखर नाचतीं लहर !

तिरते स्वप्नों के पोत अमर
देवों का स्वर्णिम वैभव हर,
नव मानवीय द्रव्यों से भर !
लो, गूंज रहा अम्बर में रव,—
मैं लोक पुरुष, मैं युग मानव,
मैं ही सोया भू पर नीरव,
मेरे ही भू रज के अवयव !

अपने प्रकाश से कर उद्भव
मैं ही धारण करता हूँ भव,
नव स्वप्नों का रच मनोविभव !
जय त्रिनयन, युग सम्भव मानव !

गीत विहग

मैं नव मानवता का सन्देश सुनाता,
स्वाधीन लोक की गौरव गाथा गाता;

मैं मन: क्षितिज के पार मौन शाश्वत की
प्रज्वलित भूमि का ज्योतिवाह बन आता!
युग के खँडहर पर डाल सुनहली छाया
मैं नव प्रभात के नभ में उठ, मुसकाता;
जीवन पतझर में जन मन की डालों पर
मैं नव मधु के ज्वाला पल्लव सुलगाता!
आवेशों से उद्वेलित जन सागर में
नव स्वप्नों के शिखरों का ज्वार उठाता;
जब शिशिर क्रान्त, वन-रोदन करता भू-मन,
युग पिक बन प्राणों का पावक बरसाता!
मिट्टी के पैरों से भव-क्लान्त जनों को
स्वप्नों के चरणों पर चलना सिखलाता;
तापों की छाया से कलुषित अन्तर को
उन्मुक्त प्रकृति का शोभा वक्ष दिखाता!
जीवन मन के भेदों में सोयी मति को
मैं आत्म एकता में अनिमेष जगाता;
तम-पंगु, वहिर्मुख जग में बिखरे मन को
मैं अन्तर सोपानों पर ऊर्ध्व चढ़ाता!
आदर्शों के मरु जल से दग्ध मृगों को
मैं स्वर्गंगा स्मित अन्तर्पथ बतलाता,
जन जन को नव मानवता में जाग्रत कर
मैं मुक्त कण्ठ जीवन रण शंख बजाता!
मैं गीत विहग, निज मर्त्य नीड से उड़ कर
चेतना गगन में मन के पर फैलाता,
मैं अपने अन्तर का प्रकाश बरसा कर
जीवन के तम को स्वर्णिम कर नहलाता!
मैं स्वर्दूतों को बाँध मनोभावों में
जन जीवन का नित उनको अंग बनाता,
मैं मानव प्रेमी, नव भू स्वर्ग बसा कर
जन धरणी पर देवों का विभव लुटाता!
मैं जन्म-मरण के द्वारों से बाहर कर
मानव को उसका अमरासन दे जाता,
मैं दिव्य चेतना का सन्देश सुनाता,
स्वाधीन भूमि का नव्य जागरण गाता!

जागरण गान

ग्रहण करो फिर असि धारा व्रत,
भारत के नव यौवन,
धरा चेतना में अब फिर से
छिड़ा तुमुल आन्दोलन!

यह रण क्षेत्र पुरातन रे चिर नूतन,
बढ़ा विकट जड़ चेतन का संघर्षण,
युग युग के अधि शृंग ढह रहे,
यह मानस-भू कम्पन,
टूट रहे आदर्श तारकों-से,
धँसता भू प्रांगण !

वीर, करो फिर क्षुब्ध मनोदधि मन्थन,
मानव का यह कठिन परीक्षा का क्षण,
क्या न करोगे तुम विद्युत्
अणु अश्वों पर आरोहण ?
महानाश के प्लावन में
कर दोगे फूल विसर्जन !

वृद्ध धरा पर छाया धूम भयानक,
धक् धक् करता महा प्रलय का पावक,
विश्व ग्लानि में क्या न करोगे
मनः संगठन भू जन ?
मानवीय क्या नहीं बनाओगे
जन भू का जीवन ?

उठे जूझने विश्व समर में दुर्धर
लोक चेतना के युग-शिखर भयंकर,
विश्व सभ्यता रुग्ण : हृदय में
व्याप्त हलाहल भीषण,
अमृत मेघ भारत क्या छिड़केगा
न प्राण संजीवन ?

धीर, करो भूजन हिताय व्रत धारण
सार्थक हों युग युग के जप तप साधन,
बाँधो मानव की बाँहों में
जड़ चेतन का जीवन,
मनुज चेतना गढ़े मूल भूतों से
नव मानवपन !

विश्व सृजन का यह विनाश परिचायक,
गर्जन भरता उर में रुद्र बलाहक,
उतर रहा शत ज्वलित तड़ित्
निर्झर सा युग परिवर्तन,
आज गहनतम उपचेतन
भुवनों में जगता गुंजन !

उद्‌बोधन

मानव भारत हो नव भारत,
जन मन धरणी सुन्दर,

नवल विश्व हो वह आभा-रत,
सकल मानवों का घर !

जाति पाँति देशों में खण्डित भू जन,
धर्म नीति के भेदों में बिखरे मन,
नव मनुष्यता में हों मज्जित
जीर्ण युगों के अन्तर,
विचरें मुक्त हृदय, अन्तः स्मित,
प्रीति युक्त नारी नर !

लोक चेतना ज्वार बढ़ रहा प्रतिक्षण
स्वप्नों के शिखरों पर कर युग नर्तन,
तड़क रहीं हथकड़ियाँ झनझन
मन के पाश भयंकर,
अग्नि-गर्भ युग-शिखर विकट
फटने को है, छोड़ो डर !

आज समापन युग का वृत्त पुरातन,
भू पर संस्कृति चरण धर रही नूतन,
रँग रँग की आभा-पंखड़ियाँ
बरसाता झुक अम्बर,
खोलो उर के रुद्ध द्वार, जन,
हँसता स्वर्ण युगान्तर !

विश्व मनः संगठन हो रहा विकसित,
जन जीवन संचरण ऊर्ध्व, भू विस्तृत,
नव्य चेतना केतु फहरता,
सत रँग द्रवित दिगन्तर;
आदर्शों के पोत बढ़ रहे,
पार अतल भव सागर !

स्वर्ग भूमि हो भू पर भारत,
जन मन धरणी सुन्दर,
अन्तर ऐश्वर्यों से मण्डित
मानव हो देवोत्तर !

स्वप्न क्रान्त

स्वप्न भार से मेरे कन्धे
झुक झुक पड़ते भू पर,
क्लान्त भावना के पग डगमग
कँपते उर में निःस्वर !

ज्वाला गर्भित शोणित बादल
लिपटा धरा शिखर पर उज्ज्वल,
नीचे छाया की घाटी में
जगता क्रन्दन मर्मर !

युग स्वप्नों की साँझ सुनहली,
बिखरी भू पर टूट द्युति कली,
जन विषाद में डूब मौन
मुरझाती, रज तम में झर !

रोती भू झिल्ली-सी झनझन,
साँसें भरता विश्व समीरण,
स्तब्ध हृदय स्पन्दन हो उठता,
संशय भय से मन्थर !

जब जब घिरता तमस अपरिचित
विश्व शक्तियाँ होतीं अपहृत,
तुम चिर अपराजित रह लाते
जग में स्वर्ण युगान्तर !

आने को अब वह रहस्य क्षण,
तुम नव मानव मन कर धारण
पीस रहे दंष्ट्रा कराल बन
युग युग के कटु अन्तर !

जगत घन

जब जब घिरें जगत घन मुझ पर
करूँ तुम्हारा चिन्तन,
ढँक जावे जब अन्तर्नभ मैं
करूँ प्रतीक्षा गोपन !

जब तम की छाया गहरावे,
मानस में संशय लहरावे,
युग विषाद का भार वहन कर
तुम्हें पुकारूँ प्रतिक्षण !

तुम तम का आवरण उठाओ,
करुणा कोमल मुख दिखलाओ,
मेरे भू मन की छाया को
निज उर में कर धारण !

तुम्हें करूँ जन मन दुख अर्पण,
आत्म दान दे भरूँ धरा व्रण,
भू विषाद गर्जन से, उर में
बरसें नव चेतन कण !

जो बाहर जीवन संघर्षण,
जो भीतर कटु पीड़ा का क्षण,
वह तुममें सन्तुलन ग्रहण कर
बने उन्नयन नूतन !

अन्तर्व्यथा

ज्योति द्रवित हो, हे घन !
छाया संशय का तम,
तृष्णा भरती गर्जन,
ममता विद्युत् नर्तन
करती उर में प्रतिक्षण !
करुणा धारा में भर
स्नेह अश्रु बरसाकर,
व्यथा भार उर का हर
शान्त करो आकुल मन !
तुम अन्तर के क्रन्दन,
अकथनीय चिर गोपन,
मन्द्र स्तनित भर चेतन
करो अनिष्ट निवारण !
घट घट वासी जलधर,
तुमको ज्ञात निरन्तर
अन्तर का दुख निःस्वर
करता जो नव सर्जन !
मन से ऊपर उठकर
विचर ऊर्ध्व शिखरों पर
स्वर्गिक आभा से भर
उतरो बन नव जीवन !
खोलो उर वातायन
आयें स्वर्ग किरण छन,
भू स्वप्नों का नूतन
रचें इन्द्र धनु मोहन !

उन्मेष

उमड़ रहीं लहरों पर लहरें
घिरते घन पर घिर घन,
स्वर्ण रजत बालुका पुलिन - से
टूट रहे मन के प्रण !
टकराते शत स्वप्न निरन्तर,
रहस ध्वनित कर आकुल अन्तर,
संशय भय के कूलों पर भर
नव प्रतीति का प्लावन !
यह प्राणों की बेला दुर्धर
स्वप्न शिखर लहरों में उठकर
करती मानस गीत तरंगित
भर निःस्वर जय गर्जन !

अभय तुम्हारी जग में अग - जग,
खिलते सुमन विजय स्रक् हित रँग
प्रकृति विकच फूलों से सज अँग
करती प्रिय अभिवादन !
सहज हर्ष से पुलकित अब मन,
विश्व रूप से विस्मित लोचन,
श्रद्धानत हो जाता मस्तक
पा भव छाया दर्शन !

आगमन

मौन गुंजरण जगता मन में
मर्मर धूपछाँव के वन में !

आज भर गया प्राण समीरण
स्वर्ग मधुरिमा से रे नूतन,
दिखलाता जीवन प्रभात मुख
खोल क्षितिज उर का वातायन,—
लोक जागरण के इस क्षण में !

मन के भीतर का मन गाता,
स्वर्ग धरा में नहीं समाता,
स्वप्नों का आदेश ज्वार उठ
विश्व सत्य के पुलिन डुबाता,—
लहराता शाश्वत के जीवन में !

आज आ रहीं लहर पर लहर
डूब रहे युग - युग के अन्तर,
यह अन्तर्मन का आन्दोलन,
असुर जूझते, जीतते अमर,—
धरा चेतना के प्रांगण में !

कहाँ बढ़ाते भीत जन चरण ?
हुआ समापन बाहर का रण !
स्वर्ग चेतना के शोणित से
लथपथ आज मर्त्य भू का मन,—
मरते जड़ जग नव चेतन में !

मौन सृजन

मौन आज क्यों वीणा के स्वर ?

इस नीरवता में तुम गोपन
कौन रच रहे नूतन गायन ?
स्तब्ध हृदय कम्पन में जगते
आशा भय, संशय जय थर-थर !

स्वप्नों से मुंद जाते लोचन,
आकुल रहस प्रभावों से मन,
प्राणों में कैसा आकर्षण
बहता जाने सुख से मन्थर !
तुम शाश्वत शोभा के मधुवन
शिशिर वसन्त जहाँ रहते क्षण,
आज हृदय के चिर यौवन वन
झरते प्रिय, अन्तर्मुख मर्मर !
रंगों में गाता कुसुमाकर,
सौरभ में मलयानिल निःस्वर,
नील मौन में गाता अम्बर
ध्यान लीन सुख स्पर्श पा अमर !
शोभा में गाते लोचन लय,
प्राण प्रीति के मधु में तन्मय,
रस के बस, उल्लास में अभय
गाता उर भीतर ही भीतर !
मौन आज क्या वीणा के स्वर ?

युग विराग

भू की ममता मिटती जाती मेघों की छाया - सी चंचल,
सुख सपने सौरभ-से उड़ते, झरते उर के रंगों के दल !
पुंछतीं स्मृति पट की रेखाएँ धुलते जाते सुख-दुख के क्षण,
चेतना समीरण - सी बहती बिखरा ओसों के संचित कण !
वह रही राग में नहीं जलन कुछ बदल गया उर के भीतर;
खो गया कामना का घनत्व, रीते घट सा अब जग बाहर !
यह रे विराग की विजन भूमि मन प्राणों के साधन के स्तर,
तुम खोल स्वप्न का रहस द्वार जो आते भीतर आज उतर,—
हँस उठता उर का अन्धकार नव जीवन शोभा में दीपित,
भू पुलिन डुबाता स्वर्ग ज्वार, रहता कुछ भी न अचिर सीमित !
फिर प्रीति विचरती धरती पर झरती पग-पग पर सुन्दरता,
बन्धन बन जाते प्रेम-मुक्ति देव-प्रिय होती नश्वरता !

मेघों के पर्वत

यह मेघों की चल भूमि घोर
बह रहे जहाँ उनचास पवन,
तुम बसा सकोगे यहाँ कभी
क्या मानव का गृह, मनोभवन ?
जन - जन का मन करता गर्जन
बरसातीं चितवन विद्युत् कण,

टकराते दुर्दम फेन शिखर
सागर - सा उफनाता भू मन !

यह विश्व शक्तियों की क्रीड़ा
गत छायाएँ बनतीं चेतन,
जन - मन विमूढ़ जिनका वाहक,
बढ़ता जाता युग संघर्षण !

पर्वत पर पर्वत खड़े भीम,
अड़ते तृष्णा, अज्ञान, अहं,
उन्मथित धरा - चेतना सिन्धु
आन्दोलित अवचेतन का तम !

मन स्वर्ग - शिखर पर मँडराता
उर में गहराता नव जीवन,
वह अन्तर आभा से स्वर्णिम
झरता भू पर, स्वप्नों का घन !

प्रगति

तुम बाधा बन्धन में
बढ़ते प्रतिक्षण हो,
काँटों में फूल
खिलाते ज्वाल सुमन हो !

जब हृदय दाह से
कँपती धरती थर - थर
जब प्रलय ज्वार में
पुलिन डुबाता सागर,
लहरों के शिखरों पर
करते नर्तन हो !

जग जीवन आज बना
स्वार्थों का प्रांगण,
जीवन की साधें
कर उठतीं वन - रोदन,
अन्तर कराहता,—
अब युग परिवर्तन हो !

है ज्ञात, गढ़ रहे हो
तुम मानव नूतन,
सौन्दर्य प्रेम आनन्द
क्षेम कर वर्षण,
पतझर में सुलगाते
नव मधु यौवन हो !

वह ज्योति मेघ अब
उतरा हृदय शिखर पर,

प्राणों में सुरधनु
स्वप्नों का पावक भर !
तुम मन के मन हो
जीवन के जीवन हो,
तुम बाधा बन्धन में
बढ़ते प्रतिक्षण हो !

प्रतिक्रिया

तुम खोलो जीवन बन्धन,
जन - मन बन्धन !
जीर्ण नीति अब रक्त चूसती जन का
सदाचार शोषक मन के निर्धन का,
स्वार्थी पशु पहन
मुख नव मानवपन का,—
तुम छेड़ो अब अन्तर रण,
· मन हो प्रांगण !
लहराये प्राणों का सागर
रीति नीति के पुलिन डुबाकर,
घुमड़े वाष्पों से उर अम्बर
जीवन भू को कर उर्वर;
तुम कड़को भर युग गर्जन,
झरें अनल कण !
घृणा, घृणा, वह करती मन में नर्तन,
घृणा, घृणा, हँसती आनन पर प्रतिक्षण;
तुम मनुज प्रीति में उसे करो परिवर्तन,—
फिर हरो धरा का प्राक्तन,
भू हो चतन !

मनोमय

तुम हँसते - हँसते घृणा बन गये मन में,
जन मंगल हित हे !
अब काटो जग का अन्धकार,
भू के पापों का विषम भार,
मेटो मानव का अहंकार,
चिर संचित तुम्हें समर्पित हे,
युग परिवर्तन में !
तुम तपते-तपते द्वेष बन गये मन में
जन मंगल हित हे !
अब करो जीर्ण से संघर्षण,
फिर हरो धरा मन के बन्धन,

युग की जड़ता हो नव चेतन
गति दो नूतन को इच्छित हे,
जग जीवन रण में !
तुम सहते - सहते रोष बन गये मन में,
जन मंगल हित हे !
फिर मृत्यु भीत जन हों निर्भय
मन प्राण ले सकें नव निर्णय,
उर करे नहीं तुम पर संशय
तुम घट - घट वासी परिचित हे,
चिर जन्म मरण में !
फिर प्रेम, बनो तुम न्याय क्षमा मन-मन में,
जन मंगल हित हे !
मानव अन्तर हो भू विस्तृत
नव मानवता में भव विकसित,
जन - मन हो नव चेतना ग्रथित,
जीवन शोभा हो कुसुमित हे
फिर दिशि क्षण में !
तुम देव, बनो चिर दया प्रेम जन-जन में,
जग मंगल हित हे !

उद्दीपन

फिर लिपटाओ हे,
ज्वाला में
जीवन मन को !
बिजली घन में काँप रही थर थर थर,
आँधी वन में टूट रही हर हर हर,
तुम फूट पड़ो नव शोभा के से निर्झर,
मत बिलमाओ हे,
पागल
यौवन के क्षण को !
मन्थर गति से बहती है जो धारा
आज डुबा दे अपना भग्न किनारा,
बने अकूल अतल अनन्त पथहारा
फिर दिखलाओ हे,
इच्छा का
प्लावन जन को !
अभिलाषा का हो गुरु गर्जन
आशा का प्रलयंकर नर्तन,
बरसें झर आनन्द अश्रु कण
खेलें सँग-सँग जन्म-मरण,—

तुम मुसकाओ हे,
दीपित कर
जीवन रण को !

भू वीणा

आज करो फिर भू जीवन की
वीणा को नव झंकृत,
उसकी गोपन आकांक्षाएँ
नाच उठें स्वर मुखरित!

मर्म कथा मूर्छित जो निःस्वर
भाव गीत विस्मृत जो सुन्दर,
स्वप्न ध्वनित कर अमर स्पर्श से
उन्हें करो नव जागृत !

युग - युग के स्मृति तार साधकर
हृदय - हृदय के मिला मौन स्वर,
शोभा शक्ति मधुरिमा में नव
करो विश्व उर स्पन्दित!

जन - जन की आशा अभिलाषा
जिसे नहीं कह पाती भाषा,
जग जीवन के मूर्त राग में
हो समवेत प्रवाहित !

बरसें नव भू स्वप्नों की झर,
प्रीति तरंगित हो उर अम्बर,
एक गीत हो जन भू जीवन
तुम जिसमें हो वन्दित !

परिणय

फिर स्वर्ग बजाये
धरती की वीणा निश्चय,
जो कर्म - भग्न उर
तुम पर नहीं करे संशय !

नभ के स्वप्नों से
जगत जलधि हो रहस ज्वलित,
जो अमर प्रीति से
हृदय रहे नित आन्दोलित !

ऊषा पावक से
भू के कण हों नव चेतन,
तम का कपाट जो
खोल सके तन्द्रित भू मन !

फिर ऊर्ध्व तरंगित
हो जन धरणी का जीवन,
शाश्वत के मुख का
मानव मन जो हो दर्पण!

मर्त्यों पर सुरगण
करें अमरता न्योछावर,
जो व्यक्ति विश्व में
मूर्त बने मानव ईश्वर!

फिर स्वर्ग बजाये
भू की हृत्तन्त्री निश्चय,
जो ज्ञान भावना,
बुद्धि हृदय का हो परिणय!

भू प्रांगण

आज वरो धरणी का प्रांगण!
नव प्रभात के स्वर्ण हास्य से
रश्मि गर्भ हों धरा रेणु कण!

छोड़ो निज स्वर्णिम रहस्य शर
धरा वक्ष इच्छा-विदीर्ण कर,
स्वर्ग रुधिर मृण्मांस से बहे
उर में हो चेतना-गहन व्रण!

शोभा से सिंचित हो भू तन,
मनुज प्रीति संव्यथित लोक मन,
स्वप्नों के वैभव से व्याकुल
हँसे अश्रुओं में वसुधानन!

लिपटे भू के जघनों से घन
प्राणों की ज्वाला जन मादन,
नाभि गर्त में घूम भँवर-सी
करे मर्म आकांक्षा नर्तन!

अग्नि गर्भ उर के शिखरों पर
उतरे सुर-आनन्द रस निखर,
अन्तर्जीवन के वैभव से
मुकुलित हों जगती के दिशि क्षण!

जीवन उत्सव

अरुणोदय नव, लोकोदय नव!
मंगल ध्वनि हर्षित जन मन्दिर
गूंज रहा अम्बर में मधुरव!

स्वर्णोदय नव, सर्वोदय नव!
रजत झाँझ-से बजते तरुदल
स्वर्णिम निर्झर झरते कल-कल,

मुखर तुम्हारे पग पायल,
यह भू जीवन शोभा का उत्सव !

स्वप्न ज्वाल धरणी का अंचल,
अन्धकार उर रहा आज जल,
स्वर्ण द्रवित हो रही चेतना,
विजय दीप्त अब विश्व पराभव !

हरित पीत छायाएँ सुन्दर
लोट रहीं धरती की रज पर,
स्वर्णारुण आभाएँ झर - झर
लुटा रहीं अम्बर का वैभव !

ईंगुर रँग के खिलते पल्लव
उर में भर स्वप्नों का मार्दव
रक्तोज्वल यौवन प्ररोह में
फूट रहा वसुधा का शैशव !

यह जीवन मंगल का गायन,
युग संघर्षण निरत पुरातन,
जन युग के कटु हाहारव में
मानव युग का होता उद्भव !

रूपान्तर

खोलो हे, मन का अवगुण्ठन !
युग प्रभात में देख सकूँ मैं
नव मानव का आनन !

छिन्न करो जड़ पाश पुरातन,
भग्न रुद्ध-प्राणों के वन्धन,
गत आदर्शों की बाँहों से
मुक्त करो जन जीवन !

आज शिखर सब उच्च उच्चतर
ज्योति द्रवित ढह रहे धरा पर,
रक्तोज्वल चेतना ज्वार में
मुक्त स्वप्नस्थ दिशा क्षण !

उतर तुम्हारी आभा चेतन
नव मानव मन करती धारण,
भावी की स्वर्णिम छायाएँ
भू पर करतीं विचरण !

नव प्रकाश रेखाओं से भर
मनः स्वर्ग नव उठा अब निखर,
अन्तर्वैभव से तुम निर्मित
करते नव मानवपन !

भू यौवन

फूलों की चोली में कस दो
आज धरा उर यौवन !
उमड़ें सौरभ उच्छ्‌वासों के
अम्बर में सतरँग घन !
प्राणों में जागे मधु गुंजन,
अन्तर्नभ में पंचम कूजन,
स्वप्न मंजरित हो शोभा से
युग स्वर्णिम जन प्रांगण !
ज्वाल प्ररोह दिशा हों पुलकित
रँग - रँग की इच्छाएँ कुसुमित,
झुकें सफल जग जीवन डालें
रश्मि ज्वलित पा चुम्बन !
मनुज स्पर्श से हो भू चेतन,
देव हर्ष से अन्तर्लोचन,
सीमाओं में, भंगुरता में
बने असीम चिरन्तन !
बाँहों में हो प्रीति पल्लवित,
अन्तर में रस जलधि तरंगित,
स्मित उरोज शिखरों पर बरसे
स्वर्ग विभा सुर मोहन !

भू जीवन

ना, तुमको भी क्या डँक लेगी धरती की वेणी अँधियाली ?
तुम भू के जीवन के तम में दो गूँथ उषा मुख की लाली !
वह हरी मखमली चोली में बाँधे मुकुलों के स्वप्न शिखर,
तुम उन पर निज चेतना रश्मि बरसाओ, वे नव उठें निखर !
फूलों की शय्या पर लेटा मधु से गुंजित उसका यौवन,
तुम उसके कम्पित अधरों पर धर दो प्रकाश का चिर चुम्बन !
कामना लता उसकी बाँहें कँपतीं पल्लव पुलकित थर - थर,
तुम भू रज के परिरम्भण में दो निखिल स्वर्ग का वैभव भर !
उसकी पृथु श्रोणी में सोये शत ज्वाल गर्भ निश्चल भूधर,
जीवन का छायातप ओढ़े लेटे जिन पर भू - जन सिर धर !
मधुकर कोकिल से कल झंकृत मंजरित स्वर्ण काँची कटि पर
जन - मन के गुंजन कूजन से रखती रज के तम को उर्वर !
उसके जघनों के पुलिनों में सोयी शत झरनों की मर्मर,
उनमें प्राणों की बेला का लहरा दो चन्द्र ज्वलित सागर !
वह चलती, ज्यों उड़ती नभ पर, जीवन के धर शत चरण मुखर,
लहरी - सी, गन्ध समीरण - सी, पग - पग पर शोभा पड़ती झर !

चेतना चाँदनी - सी उसकी, तम औ' प्रकाश जिसमें गुम्फित,
तुम उसका निर्जन शयन कक्ष नव स्वप्नों से कर दो दीपित !
वह कहती, तुम उसके प्रकाश वह जिसकी जीवन-प्रिय छाया,
श्री सुषमा, प्रीति मधुरिमामय हो, देव, तुम्हारी रज काया !
वह प्रणत - यौवना चरणों पर बैठी, उर में प्रिय स्मृति दंशन,
तुम आओ, उसके सँग बैठो, संगीत बने भू का क्रन्दन !

मौन गुंजन

आओ हे, इस मनस विभा में
स्वप्न चरण धर नूतन,
अब न रहस्य रहे अन्तर का
बहिर्जगत से गोपन !
आज मिल गया आभा से तम
चेतन ज्योत्स्ना में हँस निरुपम,
आओ, निज शशि मुख से सतरँग
उठा मोह अवगुण्ठन !
स्वप्नों की कलियों - सा कोमल
खोल वक्ष शोभा का उज्ज्वल,
मेरे उर कम्पन में अपना
अमर मिलाओ स्पन्दन !
मौन हुआ प्राणों का गुंजन,
डूब गये मधु विस्मृति में क्षण,
मन में मर्मस्पृह सौरभ का
खुला रहस वातायन !
यह उर की नीरवता का क्षण,
निष्क्रिय शून्य न जीवन वर्जन,
नव जीवन का स्वप्न हृदय में
करता जो अब धारण !
कर दो नव स्वर-लय में परिणत
प्राणों का क्रन्दन मर्माहत,
आओ हे, मन की द्वाभा में
स्वप्न-चरण धर नूतन !

काव्य चेतना

तुम रजत वाष्प के अम्बर से
बरसातीं शुभ्र सुनहली झर,
शोभा की लपटों में लिपटा
मेघों का माया कल्पित घर !
सुर प्रेरित ज्वालाएँ कँपतीं
फहरा आभाएँ आभा पर,

शत रोहितप्रभ छायाओं से
भर जाता तड़ित चकित अन्तर !

सुषमा की पंखड़ियाँ खुलतीं
फैला रहस्य स्पर्शों के दल,
भावों के मोहित पुलिनों पर
छाया प्रकाश बहता प्रतिपल !

सतरंगे शिखरों पर उठ - गिर
उड़ता शशि सूरज - सा उज्ज्वल,
चेतना ज्वाल - सी चन्द्र विभा
चू पड़ती प्राणों में शीतल !

जलते तारों - सी टूट रहीं
अब अमर प्रेरणाएँ भास्वर,
स्वप्नों की गुंजित कलिकाएँ
खिल पड़तीं मानस में निःस्वर !

तुम रहस द्वार से मुझे कहाँ
गीते, ले जाती हो गोपन,
शोभा में जाता डूब हृदय
पा स्पर्श तुम्हारा सुर - चेतन !

सम्मोहन

स्वप्नों की शोभा बरस रही
रिमझिमझिम अम्बर से गोपन,
शत धूपछाँह सुरधनु के रँग
जमते अन्तर-पट पर प्रतिक्षण !

तुम स्वर्ग चाँदनी-सी नीरव
चेतनामयी आतीं भू पर,
प्राणों का सागर चन्द्र ज्वाल
लहराता इच्छा में नूतन !

जीवन की हरियाली हँसती,
कँपतीं छाया पर छायाएँ,
रँग - रँग की आभाएँ बखेर
सजती आशा नव सम्मोहन !

सुख दुख में भर नव स्वर संगति
कल्पना सृष्टि रचती अभिनव,
कवि - उर स्वप्नों के वैभव से
करता जन-भू का अभिवादन !

हृदय चेतना

तुम चन्द्र ज्वाल-सी सुलग रहीं
जीवन की लहरों में चंचल

स्वर्गिक स्पर्शों से अन्तः स्मित
कँप-कँप उठता चल मानस जल!

तुम स्वप्न द्वार पट हटा रहस
लिपटातीं शोभा में दिशि पल
निज स्वर्ण मांस का वक्ष खोल
सुषमा के मुकुलों का कोमल!

तुम मौन शिखर से बरसातीं
लावण्य प्रीति उल्लास नवल
मिट्टी के तन्द्रिल रोम्रों में
प्राणों का पावक भर विह्वल!

अब मन्थित विश्व विरोधों में
जन जीवन वारिधि क्षुब्ध विकल,
तुम चूम घृणा - अधरों का विष
तम का मुख करतीं स्वर्णोज्वल!

निर्माण काल

लो, आज झरोखों से उड़कर फिर देवदूत आते भीतर,
सुरधनुओं के स्मित पंख खोल नव स्वप्न उतरते जन भू पर!

रँग - रँग के छाया जलदों-सी आभा पंखड़ियाँ पड़तीं झर,
फिर मनोलहरियों पर तिरतीं बिम्बित सुर-अप्सरियाँ निःस्वर!

यह रे भू का निर्माण काल हँसता नव जीवन अरुणोदय,
ले रही जन्म नव मानवता अब खर्व मनुजता होती क्षय!

धू-धू कर जलता जीर्ण जगत लिपटा ज्वाला में जन अन्तर,
तम के पर्वत पर टूट रही विद्युत्-प्रपात-सी ज्योति प्रखर!

संघर्षण पर कटु संघर्षण यह दैविक भौतिक भू कम्पन,
उद्वेलित जन-मन का समुद्र, युग रक्त - जिह्व करता नर्तन!

ढह रहे अन्ध विश्वास शृंग युग बदल रहा, यह ब्रह्म अहन्!
फिर शिखर चिरन्तन रहे निखर यह विश्व - संचरण रे नूतन!

बज रहे घंटियों-से तरुदल छबि - ज्वाल - पल्लवित जग जीवन,
नव ज्योति-चरण धर रहा सृजन फिर पुष्प वृष्टि करते सुरगण!

अब स्वर्ण द्रवित रे अन्तर्नभ झरते नीरव शोभा निर्झर,
अवतरित हो रही सूक्ष्म शक्ति फिर मौन गुंजरित उर अम्बर!

बँधता प्रकाश तम-बाँहों में सुर मानव - तन करते धारण,
फिर लोक चेतना रंग भूमि, भू-स्वर्ग कर रहे परिरम्भण!

अनुभूति

तुम आती हो,
नव अंगों का
शाश्वत मधु विभव लुटाती हो!

बजते निःस्वर नूपुर छम - छम,
साँसों में थमता स्पन्दन क्रम,
तुम आती हो,
अन्तस्तल में
शोभा ज्वाला लिपटाती हो!

अपलक रह जाते मनोनयन,
कह पाते मर्म कथा न वयन,
तुम आती हो,
तन्द्रिल मन में
स्वप्नों के मुकुल खिलाती हो!

अभिमान अश्रु बनता झर - झर,
अवसाद मुखर रस का निर्झर,
तुम आती हो,
आनन्द शिखर
प्राणों में ज्वार उठाती हो!

स्वर्णिम प्रकाश में गलता तम,
स्वर्गिक प्रतीति में ढलता भ्रम,
तुम आती हो,
जीवन पथ पर
सौन्दर्य रहस बरसाती हो!

जगता छाया वन में मर्मर,
कँप उठती रुद्ध स्पृहा थर - थर,
तुम आती हो,
उर तन्त्री में
स्वर मधुर व्यथा भर जाती हो!

आवाहन

तुम स्वर्ण चेतना पावक से फिर गढ़ो आज जग का जीवन
मधु के फूलों की ज्वाला से रँग धरणी के उर का यौवन!
आदर्शों का जलता प्रकाश तुम दो उँडेल भू अंचल में,
स्वप्नों की लपटों में लिपटा मन के अँधियाले को पल में!

जलता तरु के तम में पलाश जीवन की इच्छा से लोहित,
जग की डाली कर दो शाश्वत शोभा के शोणित से मुकुलित!
कामना वह्नि से दमक रहा भूधर - सा भू का वक्षः स्थल,
तुम अमृत प्रीति निर्झर-से फिर उतरो, हों ताप अखिल शीतल!

ममता विद्युत्-सी मचल रही, छाया-वाष्पों का अन्तस्तल,
तुम शुभ्र किरण से फूट, उसे रँग दो स्वर्गिक स्मित से सतजल!
युग - युग के जितने तर्कवाद मानव ममत्व से वे पीड़ित,
तुम आओ, सीमा हो विलीन, फिर मनुज अहं हो प्रीति द्रवित!

स्वर्ग विभा

कैसी दी स्वर्ग विभा उँडेल तुमने भू मानस में मोहन,
मैं देख रहा, मिट्टी का तम ज्वाला बन धधक रहा प्रतिक्षण !

नव स्वप्नों की लपटें उठतीं शोभा की ग्राभाएँ बखेर,
शत रँग की छायाएँ कँपतीं उपचेतन मन का गहन घेर !

ज्यों उषा प्रज्वलित सागर में डूबता ग्रस्तमित शशि मण्डल
चेतना क्षितिज पर ग्राभा स्मित भूगोल उठ रहा स्वर्णोज्वल !

लिपटीं फूलों से रंग ज्वाल, गूँजते मधुप, गाती कोयल,
हरिताभ हर्ष से भरी धरा, लहरों के रश्मि ज्वलित ग्रंचल !

भौतिक द्रव्यों की घनता से चेतना भार लगता दुर्वह,
भू जीवन का ग्रालोक ज्वार युग मन के पुलिनों को दुःसह !

चेतना पिण्ड रे भू गोलक युग-युग के मानव से ग्रावृत,
फिर तप्त स्वर्ग-सा निखर रहा वह मानवीय बन, सुर दीपित !

नव पावक

ग्रब नव ऊषा के पावक का पल्लवित हो रहा भू-जीवन
शोभा की कलियों का वैभव विस्मित करता मन के लोचन !

मैं रे केवल उन्मन मधुकर भरता शोभा स्वप्निल गुंजन,
कल ग्रायेंगे उर तरुण भृंग स्वर्णिम मधुकण करने वितरण !

यह स्वर्ण चेतना की ज्वाला मानव ग्रन्तःपुर की गोपन
जो कूद-कूद नव सन्तति में बढ़ती जायेगी नव चेतन !

वह पूर्ण मानवों का मानव जो जन में धरता क्रमिक चरण,
वह मर्त्य भूमि को स्वर्ग बना जन भू को कर लेगा धारण !

ग्रब धरा हृदय-शोणित से रँग नव युग प्रभात श्री में मज्जित,
ग्रब देव नरों की छाया में भू पर विचरेंगे ग्रन्तःस्मित !

गीत विभव

मैं गाता हूँ,
मैं प्राणों का
स्वर्णिम पावक बरसाता हूँ !

कब टूटेंगे मन के बन्धन
रज की तन्द्रा होगी चेतन,
कब, प्रेम ! कामना की बाँहें
खुल, तुम्हें करेंगी ग्रालिंगन !

मैं गाता हूँ,
मैं जन-मन को
ज्वाला का पथ बतलाता हूँ !

कब दीपित होगा जीवन तम
कब विस्तृत होगा मनुज ग्रहं,

अन्तर के स्वप्न रहस्य शिखर
भू पर विचरेंगे ऊर्ध्व चरण ?
मैं गाता हूँ,
मैं स्वप्नों की
स्मित पंखड़ियाँ बिखराता हूँ

कब डूबेंगे सुख-दुख के क्षण
लय होंगे तुममें विरह मिलन,
कब तप्त लालसा के मुख पर
चापोगे तुम शीतल चुम्बन ?
मैं गाता हूँ,
मैं मर्त्यों को
अमरों के पास बुलाता हूँ !

शोभा के रहस उरोजों पर
कब प्रीति धरेगी उपकृत कर,
कब मानव के आनन्द कर्म
उर वैभव से होंगे शोभन ?
मैं गाता हूँ,
जन धरणी पर
जीवन का स्वर्ग बसाता हूँ !

पल्लवित प्रणय की तरुण डाल,
सुलगी प्राणों में विरह ज्वाल
कब मिट्टी की मांसल ममता
प्रिय, तुम्हें करेगी आत्मार्पण ?
मैं गाता हूँ,
मैं अन्तर की
आभा में उर नहलाता हूँ !

भू वर्ग

तुम किन आकाशों में मन को
ले जाती हो नीलिमा तरल !
तह-तह मुझको नीहार रजत
ढँक लेता खुल उर-सा कोमल !
अन्तर आभाओं के पथ से
उठता नीरव मन ध्यान चरण,
स्वप्नों की कलियाँ रोओं में
हँसतीं, भर सौरभ सुर मादन !
कँपता उर, लगते तड़ित स्पर्श
चेतना जलधि के हर्ष चपल,
बरसातीं शत ऊषा लाली
स्वर्गिक वातायन से उज्ज्वल !

टूटते शिखर पर मानस के
रँग - रँग के छाया रव निर्भर,
नव सुषमा, प्रीति मधुरिमा से
भर जाता ज्योति द्रवित अन्तर!

मैं उतर, देखता चकित नयन
रवि आभा में डूबी धरती,
हरियाली के चल अंचल में
किरणें स्वप्नों के रँग भरतीं!

भू की अतृप्त अन्तर ज्वाला
फूलों में विहँस रही सुन्दर,
आकांक्षा का आकुल क्रन्दन
मधुकर में गूँज रहा मनहर!

वह मिट्टी की शय्या में जग
भरती प्रकाश में अँगड़ाई,
मुकुलित अंगों से फूट रही
उन्मत्त स्वर्ग की तरुणाई!

वह देवों के उपभोग हेतु
मिथ खोल रही निज वक्ष:स्थल,
उसके प्राणों का हरित तिमिर
जीवन में निखर रहा उज्ज्वल!

वह मानवीय बन उभर रही
पा स्पर्श निर्जरों का चेतन
वह बनी शिला से मातृ मूर्त्ति
उर में करुणा का संवेदन!

आकाश झुक रहा धरती पर
बरसा प्रकाश के उर्वर कण,
धरती उसके उर में बुनती
छाया का सतरँग सम्मोहन!

हो रहा स्वर्ग से धरणी का
जड़ से चेतन का रहस मिलन
भू स्वर्ग एक हो रहे शनैः
सुरगण नर तन करते धारण!

शोभा क्षण

फूलों से लद गये दिशा क्षण
भरता अम्बर गुंजन
पुलकों में हँस उठा सहज - मन
निर्जर करते गायन!
अवचेतन में लीन पुरातन,
स्वप्न वृष्टि अब करता नूतन,

तन्मय हुआ अहं युग - युग का
बाँहों में बँध चेतन !
यह क्या भावी का संवेदन,
या देवों का मौन निमन्त्रण ?
देह प्राण के पुलिन डुबाकर
बहता अन्तर यौवन !
धरा शिखर का रे यह मधुवन,
भू मन अहरह करता क्रन्दन—
मृण्मय पलकों पर फिर उतरे
यह शाश्वत शोभा क्षण !
आओ हे, यह निभृत प्रीति मग,
धरो ध्वनित पग-चिह्नों पर पग,
अश्रुत पद चापों से गुंजित
आज धरणि का प्रांगण !
रजत घण्टियाँ बजतीं छन - छन,
स्वर्णिम पायल झंकृत झन - झन,
स्वप्न मांस के इन चरणों पर
करो प्राण मन अर्पण !
पद गति से शोभा पड़ती झर,
पग छवि उठती भावों से भर,
सृजन नृत्य रत रे कवि अन्तर,
सुन नूपुर ध्वनि गोपन !

युग दान

जीवन-बाँहों में बाँध सकूँ सौन्दर्य तुम्हारा नित नूतन,
जन - मन में मैं भर सकूँ अमर संगीत तुम्हारा सुर मादन !
आनन्द तुम्हारा बरस सके भव व्यथा क्लान्त उर के भीतर,
जग जीवन का बन सके अंग देवत्व तुम्हारा लोकोत्तर !
करुणा धारा से मानव का भू निर्मम अन्तर हो उर्वर,
संयुक्त कर्म जग जीवन के तुमको अर्पित हों उठ ऊपर !
अब मनुष्यत्व से मनोमुक्त देवत्व रहा रे शनैः भिखर,
भू मन की गोपन स्पृहा स्वर्ग फिर विचरण करने को भू पर !
यह अन्धकार का घोर प्रहर हो रहा हृदय चेतना द्रवित,
फिर मानवीय बन जाग रहीं जड़ भूत शक्तियाँ अभिशापित !
तरुओं के सिर पर पुष्प मुकुट ज्यों गन्ध पवन-उर में मादन,
जीवन से मन से फूट रहे तुम नव श्री शोभा में चेतन !

जीवन कोंपल

क्या एक रात ही में सहसा ये हरित शुभ्र कोंपल फूटे ?
क्या एक प्रात में स्वप्न निद्र जीवन तरु के बन्धन टूटे ?

पत्रों की मर्मर में झंकृत अब सुर वीणाओं के प्रिय स्वर,
शोभा की अरुण शिखाओं से प्रज्वलित धरा दिक् प्रान्तर !
यह विश्व क्रान्ति ! मानव उर में सौन्दर्य ज्वार उठता नूतन,
मन प्राण देह की इच्छाएँ करतीं शिखरों पर आरोहण !
तुम क्या रटते थे, जाति, धर्म, हाँ वर्ग युद्ध, जन आन्दोलन !
क्या जपते थे, आदर्श, नीति, वे तर्क वाद अब किसे स्मरण !
गोपन-सा कुछ हो रहा आज जन-मन के भीतर परिवर्तन,
अन्तश्चेतन तारुण्य फूट गढ़ता अब नव जग का जीवन !
यह मानवीय रे सत्य अखिल, आधार चेतना, कला कुशल,
वह सृजन प्राण : होती विकसित जड़ से जीवन मन में अविकल !
वह विस्मृत कड़ी जगत क्रम की जिससे समृद्धि परिणति सम्भव,
फिर आने को ऐश्वर्य ज्वार अब लोक चेतना में अभिनव !

जीवन दान

मैं मुट्ठी भर-भर बाँट सकूँ जीवन के स्वर्णिम पावक कण,
वह जीवन जिसमें ज्वाला हो मांसल आकांक्षा हो मादन
वह जीवन जिसमें शोभा हो, शोभा सजीव, चंचल, दीपित,
वह जीवन जिसको मर्म प्रीति सुख-दुख से रखती हो मुखरित !
जिसमें अन्तर का हो प्रकाश, जिसमें समवेत हृदय स्पन्दन,
मैं उस जीवन को वाणी दूँ जो नव आदर्शों का दर्पण !
जीवन रहस्यमय, भर देता जो स्वप्नों से तारापथ मन,
जीवन रक्तोज्वल, करता जो नित रुधिर शिराओं में गायन !
इसमें न तनिक संशय मुझको यह जन-भू जीवन का प्रांगण,
जिसमें प्रकाश की छायाएँ विचरण करतीं क्षण-ध्वनित चरण !
मैं स्वर्गिक शिखरों का वैभव हूँ लुटा रहा जन धरणी पर,
जिसमें जग जीवन के प्ररोह नव मानवता में उठें निखर !
देवों को पहना रहा पुनः मैं स्वप्न मांस के मर्त्य वसन,
मानव आनन से उठा रहा अमरत्व ढँके जो अवगुण्ठन !

स्वप्न वैभव

मैं ही केवल इस धरती पर धर रहा नहीं स्वप्नों के पग,
मैं देख रहा, छायाओं के पद-चिह्नों से कम्पित भू-मग !
ये मर्त्यों के पद कभी रहे देवों के चरण, नहीं संशय,
नव स्वप्नों के ज्वाला-पग धर जन कभी चलेंगे हो निर्भय !
मन के वाष्पों का सूक्ष्म जगत बन रहा स्थूल जीवन का घन,
उसमें घनत्व आ रहा सजल वह तड़ित्-गर्भ भरता गर्जन !
लो, अब स्वप्नों का रजत व्योम हो रहा द्रवित, जीवन झर बन,
वह किरणों का रोहित प्रकाश वितरण करता उर में चेतन !
मानव के अन्तर्नभ में घिर उड़ते नव आभा-पंख जलद,
हो रही मनःसंगठित आज फिर विश्व चेतना लोक वरद !

सत्य

तुम वस्तु तमस से ढँक दोगे
आदर्शों का अक्षय प्रकाश ?
यान्त्रिक पशु बल से रोकोगे
मानव का देवोत्तर विकास !

तुम क्या घनत्व में बाँधोगे
द्रव की गति प्रियता, चंचलता,
निर्मम जड़त्व में आँकोगे
जीवन की चेतन कोमलता !

तुम हो तुषार की शिला स्वयं,
पल में जल में जाग्रोगे गल,
शीतल प्रकाश ही नहीं सत्य
वह बन सकता है ताप प्रबल !

तुम बँध नियमों के कूलों में
बहते जाग्रो, इसमें मंगल,
तर्कों के रोड़ों से टकरा
बढ़ते जाग्रो, क्षण-फेन उगल !

सीमा के पुलिनों से उठकर
जो उड़ते अम्बर में उदार,
वे सूक्ष्म वाष्प क्या पकड़ोगे
जो करते शिखरों पर विहार ?

उनके अन्तर्नभ में सुलगी
शत रत्नों की ऐश्वर्य ज्वाल,
लिपटे उनसे स्मित ज्वलित पिण्ड,
रवि शशि करणों के इन्द्रजाल !

वर मिला चेतना का उनको,
जड़ सीमाओं से हो बाहर
वे अब देवों के प्रिय सहचर,
भू मन के मानों से ऊपर !

उनके उर स्पन्दन में बजता
स्थिर मन्द्र सत्य का गुरु गर्जन,
उनके भीतर से छन झरते
स्वर्गिक प्रकाश के विद्युत् कण !

तुम भाप उन्हें कहते हँसकर,
वे तुमको मिट्टी का ढेला !
वे उड़ सकते, तुम अड़ सकते,
जीवन तुम दोनों का मेला !

फिर भी यदि जड़ता तुमको प्रिय,
उनको चेतनता;—दुख नितान्त,
है सत्य एक,—जो जड़ चेतन,
क्षर अक्षर, परम, अनन्त, सान्त !

युग मन

अब मेघ मुक्त होता युग मन !
अटपट पड़ते कवि छन्द चरण,
बहता भावों में शब्द चयन !

जिन आदर्शों में उर सीमित,
जिन अभ्यासों से जन पीड़ित,
जिन स्थितियों से इच्छा कुण्ठित
उनमें बढ़, निखर रहा नूतन !

जगते मन में नव संवेदन
नव हर्ष कर रहे प्राण वहन,
अज्ञात नव्य का आकर्षण
मज्जित करता जन-मन प्रतिक्षण !

अब स्वप्न सत्य बनते निश्चय,
अब तथ्य स्वप्न-सा होता लय,
जन हृदय-क्रान्ति का रे यह क्षण
प्रतिबिम्ब बहिर्जग संघर्षण !

भू होगी उर शोणित रंजित
अरुणोदय होने को निश्चित,
रजनी का क्रन्दन डूब रहा
बन युग प्रभात में जय कीर्तन !

यह रे तमिस्र का शेष छोर,
देखो, वह हँसता स्वर्ण भोर,
अन्तर्नभ नव चेतना द्रवित,
मानव युग धरता भूति चरण !

छाया सरिता

क्या आकुल अन्तर ?
गाती रहती जो प्रतिक्षण !
क्या दारुण सुन्दर ?
बनती रहती जो मोहन !
छाया सरिता-सी
बहती रहती हो निःस्वर,
नीरव लहरों में जगा
अतल के संवेदन !

सोया निचले तल में
प्रकाश,—जो केवल तम,
भू श्रोणि-देश
प्राणों के जीवन का मादन !

प्रिय स्वर्ण मांस के स्पन्दित
ऊपर शुभ्र शिखर
जिन पर स्वप्नों के मुकुलों का
अपलक मधुवन !

सौरभ से उन्मन हो उठता
उर का मधुकर,
आनन्द प्रीति शोभा रज पी
भरता गुंजन !

क्रन्दन मर्मर होता जाने
किस नभ में लय,
तुम प्राण, भेजती मौन
जहाँ से आमन्त्रण !

संवेदन

छाया सीता - सी आ चुपके जाने, तुम क्या कहतीं निःस्वर,
सुन पड़तीं परिचित चरण चाप कँप उठता स्वप्न ध्वनित अन्तर !

खिल पड़ते उर में ज्योति चिह्न नीरव शोभा लाली से भर,
आनन्द मधुरिमा से गुंजित आभा पंखड़ियों-से झर - झर !

अन्तर पा प्रीति परस, अदृश्य खोजता तुम्हें बाहर विस्मित,
युग-युग का उर का व्यथा भार गा उठता शाश्वत-क्षण पुलकित !

स्मृतियों के स्वर्गिक संवेदन लहराते मानस में गोपन
मैं सुन - सुनकर मोहित पग ध्वनि बढ़ता जाता निर्दिष्ट चरण !

तुम सूक्ष्म स्वप्न देही बनकर आतीं अन्तर पथ से प्रतिक्षण
मैं रहस निमन्त्रण पा तुमसे अभिनव जग में करता विचरण !

है ज्ञात मुझे, तुम भू घट से फिर फूट रहीं करुणा धारा,
तुम मातृ मूर्ति, चिर मंगलमयि, शोभा चेतन हो जग सारा !

वैदेही

स्वप्नों के मांसल शिखरों में मैंने निज छिपा लिया आनन,
यह शोभा का प्रिय वक्षःस्थल जिसका संगीत हृदय स्पन्दन !

चेतना स्वयं ज्यों स्वर्ण गौर कोमल उर-कलियों में पुंजित,
उल्लास अमर साँसों में बह रखता इनको आभा दोलित !

इनमें अन्तरतम सुषमा के खिलते नित रत्न प्रभा पल्लव,
नव ऊषा का स्वर्गिक पावक जलता इच्छाओं में अभिनव !

यह रुद्ध बद्ध लालसा नहीं जो नारी प्रतिमा में मूर्तित
यह देवों के उर में बसती श्रद्धा प्रतीति से अभिषेकित !

जन इसे कला मन्दिर में नित करते अन्तर्मन के स्थापित,
शिव सुन्दर सत्य चयन कर चिर प्रिय चरणों पर करते अर्पित !

शत इंगित बनते मुखर नृत्य, पलकें रुक, छबि करतीं अंकित,
जीवन के सुख - दुख इसे देख स्वर गीतों में होते झंकृत !

प्रीति

मेघों के उड़ते स्तम्भ खड़े
लिपटीं जिनसे विद्युत् ज्वाला,
बाहर को अर्ध खुला विराट्
जीवन कपाट तम का काला !

भीतर वाष्पों के कौश मसृण
नव इन्द्र जलद लटके कम्पित,
जिन पर प्राणों की रंग छटा
करती मन के लोचन विस्मित !

चल जलदों के पट के भीतर
दिखते उड़ते तारक अगणित,
निज ज्वलित द्रवों के पंख खोल
क्षण प्रभ उर भृंगों से गुंजित !

आगे अकूल चेतना तीर्थ
नव शरद चाँदनी - सा प्रहसित,
नीरव रहस्य सुख से सुरभित
स्वप्नों की कलियों का मोहित !

जाज्वल्यमान रवि लोक वहाँ
वहु दिव्य रश्मियों से मण्डित,
अन्तर तुषार के शिखरों पर
नीहार ज्ञान का चिर पुंजित !

आनन्द धाम शोभित भीतर
झरते अनन्त रस के निर्झर,
शोभा के स्वर्णिम फेनों पर
कँपते सुर वीणाओं के स्वर !

उर कम्पों, पुलकों से कल्पित
शशि-रेख प्रीति-प्रसाद सुघर,
झाँकते झरोखों से बाहर
अनिमेष सत्य शिव औ' सुन्दर !

रहतीं अन्तः पुर में शाश्वत
तुम अवचनीय सुषमा में लय;
होते कृतार्थ, छू चरण परम
जीवन के सुख-दुख, भय संशय !

शरदागम

आज प्राण चिर चंचल !
नवल शरद ऋतु, ओस धुला मुख,
धूप हँसी - सी निश्छल !

गौर वक्ष शोभा - सी उज्ज्वल
दिन की कोमल आभा मांसल
स्वप्नों की स्मृतियाँ उकसाती
पुलकित कर अन्तस्तल !

खिले अधखिले फूलों के अँग,
मर्म स्पृहा-से खुले मुक्त रँग,
प्राणों को निज स्पर्श ज्वाल से
दीपित करते प्रतिपल !

खोल निसर्ग रहा निज अन्तर
मधुर सन्तुलन में खिल सुन्दर,
फैलाती कामना प्रकृति की
रँग - रँग के चंचल दल !

कँपता तरुओं का तम मर्मर,
कँपता मारुत लालस मन्थर,
कँपती स्रस्त वस्त्र - सी छाया,
कँपता नव दूर्वादल !

जी करता शोभातप में मिल
विचरूँ छाया वन में झिलमिल,
जाने किस पथ से निसर्ग में
खो, हो जाऊँ ओझल !

कौन भेजता मौन निमन्त्रण
मुझे निभृत देने हृदयासन,
स्वप्नों के पट में लपेट उर,
तन - मन करता शीतल !

आज मिलन को उर अति विह्वल
मानस में स्वप्नों का बादल
झर-झर पड़ता, किन स्मृतियों में
सुलगा चिर विरहानल !

तुम आओगी, कहता है मन,
खिलता ही क्यों ऋतु का आँगन ?
निखर मेघ से शरद रेख - सी
बरसाओगी मंगल !

शरद चेतना

तुम फिर स्वप्नों का पट बुनती
ले जीवन से छाया प्रकाश,
फिर गीत स्वरों का जाल गूँथ
उलझाती सुख-दुख अश्रु हास !

अब बिखर गया पावस का घन,
ठण्डा निदाघ का खर अँगार,
अब हँसती उज्ज्वल धुली धूप
उजियाली में आया निखार !

ऋतु आर्द्र जलद के वस्त्र फेंक
अलसायी अंगों में कोमल,
फिर गूढ़ प्रकृति का मौन स्पर्श
अन्तर को छू करता शीतल !

फूलों के रंगों की ज्वाला,
तरु वन का छायातप कम्पित,
तुममें भू का कलरव कूजन
सौरभ गुंजन मर्मर गुम्फित !

तुम स्वप्नों का नीरव पावक
सुलगातीं प्राणों में पुलकित,
तुममें रहस्यमय मौन भरा
तुम स्निग्ध शान्ति-सी विरह द्रवित !

ज्यों बादल के अंचल से छन
आभा रह जाती क्षण-छाया,
तुम मन के गुण्ठन में जगती
लिपटा इच्छा, ममता, माया !

तुम मुझे डूबा लो अपने में
या मुझमें जाओ स्वयं डूब,
तुम फूटो मेरा मोह चीर
ज्यों कढ़ती भू को चीर दूब !

जगता लो, तरुण प्ररोह एक
अब फाड़ धरित्री का अंचल,
कँपता अंगों में हरित रुधिर,—
उड़ने को पंख खोल विह्वल !

तुम खोल देह मन के बन्धन
चेतना बन गयी फिर उज्ज्वल,
उमगा प्राणों का मेघ, लिपट,
निखरी तुम,—अब बादल ओझल !

चन्द्रमुखी

उठा इन्द्र प्रभ घन ग्रवगुण्ठन
चन्द्रमुखी ऋतु, वारिज लोचनि
सरित पुलिन पर करती विचरण !
शीतल शोभा-पावक का तन,
स्वप्न प्रज्वलित तारापथ मन,
स्वर्ग ज्वार चेतना चन्द्रिका,
डूबे रे मोहित जड़ चेतन !

सद्य स्नात, कृश शुभ्र पीत ग्रँग,
कुन्द मुकुल स्मिति, गुंजित पट रँग,
सौम्य सजल, चिर प्रकृति ग्रंक में
पली, मोहती मुग्धा जन - मन !
चन्द्रातप - सा मृदु सूर्यातप
तारों-से हिम बिन्दु रहे कँप,
स्वप्न चरण धरती वह भू पर
दिवस निशा छवि करता धारण !

उर में छाया-मर्मर कम्पन,
साँसों में भू गन्ध समीरण,
ग्रविकच रंग-चपल ग्रंगों से
नव श्री शोभा करती वर्षण !
कहता नभ कुछ नीरव निस्तल
कँपता भू का श्यामल ग्रंचल,
लहराता निर्मल सरसी जल,
पुलकित रे तन, शेफाली वन !

बदल गया कुछ ग्रब उर भीतर
मज्जित ज्योत्स्ना में युग ग्रन्तर,
सुलभ हो गया, दुर्लभ - सा कुछ
मेघ मुक्त नभ, विरह मुक्त मन !

शरद श्री

सौम्य शरद श्री का यह ग्राँगन,
जीवन ग्रातप लगता कोमल,
हरियाली के अंचल में बँध
धरती का तम जलता शीतल !

निखर उठा प्राणों का यौवन
फूल मांस के खिले चपल ग्रँग,
नीले पीले लाल पाटली
हँसते ग्राकांक्षाग्रों के रँग !
मिट्टी की सौंधी सुगन्ध से
मिली सूक्ष्म सुमनों की सौरभ,

रूप स्पर्श रस शब्द गन्ध की
हरित धरा पर झुका नील नभ !
क्या समीर ने लिपट, विटप को
किया पल्लवों में रोमांचित ?
अँगड़ाई ले बाँह खोलना
सिखलाया डालों को कम्पित !
क्या किरणों ने चूम, खिलाये
रंग भरे फूलों के आनन ?
सृजन प्राण रे स्पर्श प्रेम का
सच है, जीवन करता धारण !
मूल भूत - कामना एक ज्यों
पत्रों में कँप उठती मर्मर,
प्रिय निसर्ग ने अपने जग में
खोल दिया फिर मेरा अन्तर !
एक शान्ति - सी, पावनता - सी
विचर रही धरती पर निःस्वर,
छायातप में, तृण-अंचल में,
ज्वाल-वसन कुसुमों के तन पर !
रंग प्राण रे प्रकृति लोक यह
यहाँ नहीं दुख दैन्य अमंगल,
यहाँ खुला श्री शोभा का उर,
यहाँ कामना का मुख उज्ज्वल !

ममता

अब शरद मेघ - सा मेरा मन
हो गया अश्रु झर से निर्मल,
तुम कँपती दामिनि - सी भीतर,
शोभातप में लुक - छिप प्रतिपल !
विद्युत् दीपित करती घन को
वह नहीं ज्वाल में उठता जल,
वह उसके अन्तर की आभा
तुम मेरी हृदय शिखा उज्ज्वल !
यह प्रीति द्रवित हलका बादल
मेरे ममत्व की छाया-भर,
तुम तड़िल्लता - सी खिल पड़ती
जिसमें जीवन की सत्य अमर !
इस विरल जलद पट से छनकर
तुम बरसाती ऐश्वर्य ज्वार,
छाया प्रकाश के पटल खोल
भावों की गहराई निखार !

तुम विद्युत् प्रभ कर पलक पात
करतीं मिथ नीरव सम्भाषण,
वाष्पों के आवृत मानस में
अंकित कर भेद रहस गोपन !

यह मौन मन्द गर्जन भरता
युग-युग की प्रिय स्मृतियाँ जगतीं,
शोभा की, स्वप्नों की, रति की,—
आशा अभिलाषाएँ कँपतीं !

चाँदनी चार दिन रहती है,
तुम क्षण - भर में होतीं ओझल,
तुम मुझे चाँदनी से प्रिय हो
चपले, मैं ममता का बादल !

फूल ज्वाल

फूलों की ज्वालाएँ भरतीं मेरे अन्तर में उद्दीपन,
जीवन के शोभा-तम के प्रति मेरे मन में चिर आकर्षण !

इस धरती के उर से लिपटे कितने प्रकाश के रंग चपल,
मेरी इच्छाओं से उपमित, किरणों में, प्राणों में ओझल !

मिट्टी के तन्द्रिल मानस में जगते उज्ज्वल फूलों के पल,
मैं शोभा स्रष्टा, ज्ञात मुझे ज्वाला का उसका अन्तस्तल !

ये निःस्वर, सहज मधुरिमा से अन्तरतम कर देते झंकृत,
मैं वाणी का सुत, विदित मुझे रमणीय अर्थ व्यंजित, अकथित !

इनमें न भले ही आयें फल जग का मग सतत करें कुसुमित,
सौरभ से भर न सके नभ को, दृग अपलक कर दें, उर पुलकित !

मैं स्वप्नों का प्रेमी, मुझको करता न सत्य जग का मोहित,
मैं बढ़ूँ ज्वार - सा डुबा पुलिन, कूलों में बन्दी बहे सरित !

मैं फूलों के कुल में जनमा, फल का हो मूल्य जगत के हित,
उर शोभा का दे अमर दान मैं झर, चरणों पर हूँ अर्पित !

स्मृति

परित्यक्ता वैदेही - सी ही
अब हृदय कामना उठी निखर
प्राणों की ममता, अश्रु स्नात,
कृश, शरद शुभ्र लगती सुन्दर !

प्रेयसि की मुख छवि मेघ मुक्त
शशि रेखा - सी उगती मन में,
नीरव नभ में विद्युत् घन-सी
एकाकी स्मृति जगती क्षण में !

ज्योत्स्ना में झंझा से कम्पित
हलकी फुहार-सी पड़ती झर
वह भीगी स्मृति, मानस तट पर
छाया लहरी-सी बिखर-बिखर !

सुख-दुख की लपटों में लिपटी,
भू के अंगारों पर पग धर,
वह बढ़ती स्वप्नों के पथ पर
शत अग्नि परीक्षाएँ देकर !

अब प्रेमी मन वह नहीं रहा
ध्रुव प्रेम रह गया है केवल
प्रेयसि स्मृति भी वह नहीं रही
भावना रह गयी विरहोज्वल !

बाहर जो कुछ भी हो बदला
मन का पट बदल गया भीतर,
विकसित होती चेतना, उधर
परिणत जग जीवन का संगर !

नमन

नमन तुम्हें करता मन !
हे जग के जीवन के जीवन,
प्रीति-मौन प्रति उर स्पन्दन में
स्मरण तुम्हें करता मन !

अश्रु सजल अब मेरा आनन
तुहिन तरल वारिज के लोचन,
यह मानस स्थिति, स्मृति से पावन
करता तुम्हें समर्पण !

तुम अन्तर के पथ से आओ,
चिर श्रद्धा के रथ से आओ,
जीवन अरुणोदय सँग लाओ
नव प्रभात, युग नूतन !

वहे रुधिर में स्वर्गिक पावक,
स्वप्न पंख लोचन हों अपलक,
रँग दे श्री शोभा का जावक
जीवन के पग प्रतिक्षण !

आज व्यक्ति के उतरो भीतर,
निखिल विश्व में विचरो बाहर,
कर्म वचन मन जन के उठकर
बनें युक्त आराधन !

असफल हो जब श्रान्त मनोबल,
आवेशों से अन्तर विह्वल,

तुम करुणा-कर से छू उज्ज्वल
जड़ता कर दो चेतन !

वन्दना

खोलो, अन्तरमयि, खोलो
अपना स्वर्गिक वातायन,
निज स्वर्णिम आभा से भर दो
मेरा स्वप्नों का मन !
नींद घनेरी भरी दृगों में
पलकें झँप - झँप जातीं
सुख-दुख की स्मृतियाँ मानस में
मा, - कँप कँप लहरातीं !
घोर अँधेरी निशा घिरी अब
आओ, शुभ्र उषा बन,
खोलो, मानसि, खोलो अपना
श्रद्धा का वातायन !
दिव्य चेतना का प्रभात नव
बन उर में तेरा मुख,
मौन मधुरिमा से अन्तर को
भर दे, डूबें सुख - दुख !
नयनों में स्मित नयन भरो सखि,
उठा किरण अवगुण्ठन,
मेरे अपलक उर में खोलो
शोभा का वातायन !
मेरे मानस जल में फूटे
उषा ज्योति रक्तोज्वल
फूल मांस के तेरे सुन्दर
चरण कमल बन कोमल !
भर जावे सूने अन्तर में
नव भावों का गुंजन,
खोलो, आभामयि, खोलो,
निज करुणा का वातायन !

मानव ईश्वर

नव जीवन शोभा के ईश्वर
स्वर्गिक करुणा के वर,
स्वर्ण शुभ्र चेतना मुकुल तुम
खिलते उर में सुन्दर !
शान्त अभय हो जाता अन्तर
ध्यान तुम्हारा स्नेह मौन धर,

श्रद्धा पावन हो उठता मन
हर्ष प्रणत चरणों पर !
सो जाता ममता का मर्मर
खुलता अन्तरतम का अम्बर,
दिव्य दूत - से पंख खोल स्मित
स्वप्न उतरते निःस्वर !
अवचनीय आकांक्षा के स्वर
तन्मय करते मुझे निरन्तर,
ज्योति शक्ति के नीरव निर्झर
मानस में पड़ते झर !
जगतीं मानव में देवोत्तर
मिट्टी की प्रतिमाएँ नश्वर
युग प्रभात छवि स्नात निखरते
भू जनपद पुर प्रान्तर !

स्तवन

तुहिन शिखर पर स्वर्ण रश्मि प्रभ
ज्योति मुकुट जाज्वल्य शीश पर,
शत सूर्योज्वल कुवलय कोमल
स्फुरित् किरण मण्डित मुख सुन्दर !
नयन अकूल क्षमा गरिमामय
ज्योति प्रीति के अतल सरोवर,
अधर प्रवालों पर चिर गुंजित
मौन मधुर स्मिति के मुरली स्वर !
सहृदय वक्ष विशाल सिन्धुवत्
विश्व भार भृत अंस धुरन्धर,
करुणालम्बित बाहु, वरद कर,
मृत्यु कलुष हर चारु धनुष शर !
बढ़ते युग - युग चरण, छोड़ निज
अक्षय चिह्न समय के पथ पर,
विश्व हृदय शतदल पर स्थित तुम
हृदयेश्वर, जगदीश, परात्पर !
सृजन नृत्य उल्लास निरत नित
चिर त्रिभंगमय, रहस रतीश्वर,
अभय इंगितों से जीवन की
शाश्वत शोभा पड़ती झर - झर !
जय पुरुषोत्तम, प्रणत प्राण मन
नयनों में भर रूप मनोहर,
चिर श्रद्धा विश्वास भक्ति का
मंगलमय, निज़ जन को दो वर !

अभिलाषा

एक कली यह मेरे पास !
तुम चाहो, इसको अपना लो,
कर दो इसका पूर्ण विकास !

तुम इसमें स्वर्गिक रँग भर दो
निज सौरभ में मज्जित कर दो,
उर को अक्षय मधु का वर दो,
अधरों पर धर शाश्वत हास !

तुम्हीं मूल इसके बन जाओ,
मधुकर बन इसके ढिग गाओ,
प्राण वृन्त पर इसे झुलाओ,
स्वर्ग किरण बन, करो विलास !

देखे एक तुम्हारा यह मुख,
अपलक ऊपर को हो अभिमुख,
दुख में भी माने असीम सुख,
काँटों में बिखरा उल्लास !

मलयानिल दे भले निमन्त्रण,
पंख खोल उड़ना चाहे मन,
तोड़े यह न प्रणय का बन्धन,
करे हृदय डाली पर वास !

नयन रहें स्वप्नों से रंजित,
पलकें विरह अश्रु हिम से स्मित,
उर असीम शोभा से विस्मित,
छोड़े जब यह अन्तिम श्वास !

यह हँसते - हँसते झर जावे,
जग में निज सौरभ भर जावे,
भू रज को उर्वर कर जावे,
नव बीजों से, हो न विनाश !

एक कली जो मेरे पास,
वह अभिलाष !

विनय

मुझे प्रणति दो
प्रीति समर्पित प्राण कर सकूँ
निज पद रति दो !
विनय मुक्त, जन में मिल जाऊँ,
श्रद्धानत, ऊपर उठ पाऊँ,
ध्यान मौन, मर्मस्पृह गाऊँ,
अन्तर्गति दो !

मैं मर्त्य वेणु का शून्य बांस
तुम दिव्य साँस,
मैं छिद्र भरा निःस्वर निराश
तुम गीति लास !
मैं शुष्क, सरस कर दो विकास,
मैं रिक्त, पूर्ण कर भर दो
नव आशाऽभिलाष;
स्वर संगति दो !

जब मुँदें कुमुद अन्तर्लोचन,
जब जगे पद्म वन स्वप्न-नयन,
तब गीत मुक्त मधुकर - सा मन
गा - गा जीवन मधु करे चयन,
चिर परिणति दो !
मुझे प्रणति दो !

आह्वान

तुम आओ हे,
मैं धरूँ ध्यान
बन निरभिमान
तुम बसो प्राण में, गाऊँ मैं !
तुम आओ हे !
अरुणोदय-से हृदय शिखर पर
उतरो नव स्वप्नों के जलधर,
बरसाओ चेतना-मौन स्वर
जीवन पुलिन डुबाऊँ मैं !
तुम आओ हे !

स्वर्ण द्रवित अब जीवन का तम,
चमक रहा मन का घन थम - थम,
मिटता जाता धरा स्वर्ग भ्रम
यह छबि कहाँ छिपाऊँ मैं !
तुम आओ हे !
रुधिर मदिर हो कँपता थर - थर
स्मृति किस सुख में जाती मर-मर !
अमर स्पर्श पा कहता अन्तर
फिर ज्वाला में न्हाऊँ मैं !
तुम आओ हे !

आभा स्पर्श

तुम जीवन के सपने !
मन को लगते आज
विश्वमय, अपने !

कब खुल गये हृदय के बन्धन,
अपलक-से रह गये विलोचन,
भेद भाव सो गये अचेतन,
पलकें, भर अपार शोभा से,
पातीं तनिक न झँपने !

मिट-सी गयी क्षितिज की रेखा
भूल गया मन ने जो देखा,
जगी चेतना की शशि लेखा
नव स्वप्नों को सत्य बनाने
लगे प्राण मन तपने !

सिमट गयी जीवन तम छाया
जाग गया मन, सोयी काया,
उतर प्रकाश तुम्हारा आया,
मोह भार से मुक्त हृदय में
लगा हर्ष नव कँपने !

परिणति

तुम बसे हृदय में !
धरती निज ज्वाला लिपटाती
तन में,—
स्वर्ग किरण आभा बरसाती
मन में,—
मति स्वप्नों से रँग-रँग जाती
क्षण में,

आज नम्र, निर्भय मैं !
धरा लगाती पग - पग बन्धन,
स्वर्ग बहाता मुक्ति समीरण,
अमित तुम्हारी दया खिलाती
मलिन पंक में पंकज नूतन,
कहता, क्या विस्मय, मैं !
छूटा अब सुख - दुख का क्रन्दन
मिटा झूठ सच का संघर्षण,
भले बुरे का हटा नियन्त्रण,
प्राण-चेतना के परिणय में !
धरती की वेदना
कामनाओं की छाया,
स्वर्ग चेतना
मृत्यु भीत स्वप्नों की माया,
दोनों तुममें पूर्ण हुए अब
बन मन काया,

बाहर भीतर ऊपर नीचे
पात्र तुम्हीं अभिनय में !

जीवनप्रभात

पद रेणु कणों से
धरा गयी भर,
स्वर्ण मरन्द रहा झर - झर
जीवन प्रभात नव आया !
डूबा शोभा में हृदय शिखर,
अब ज्योति तरंगित जीवन सर,
नव स्वप्न-रुधिर से सिहर सिहर
प्राणों का सागर लहराया !
वह स्वर्ग श्वास-सा गन्ध पवन
साँसों में, पुलकित करता मन,
जड़ धरा हो गयी नव चेतन
फूलों में रज तम मुसकाया !
धुल गया कामना का हो मुख
हिम-कण-सा अश्रु-द्रवित अब दुख,
तुम खड़े आज मन के सम्मुख
आँखों में ऐसा मद छाया !
छम छम छम नाच रही आशा,
डिम डिम डिम जगती अभिलाषा,
मन सृजन गीत से नृत्य चपल
खिसकी भू के मन की छाया !

विजय

मैं चिर श्रद्धा लेकर आयी
वह साध बनी प्रिय परिचय में
मैं भक्ति हृदय में भर लायी,
वह प्रीति बनी उर परिणय में !
जिज्ञासा से था आकुल मन
वह मिटी, हुई कब तन्मय मैं,
विश्वास माँगती थी प्रतिक्षण
आधार पा गयी निश्चय मैं !
प्राणों की तृष्णा हुई लीन
स्वप्नों के गोपन संचय में,
संशय भय मोह विषाद हीन
तेरी करुणा में निर्भय मैं !
लज्जा जाने कब बनी मान,
अधिकार मिला कब अनुनय में,

पूजन आराधन बने गान
कैसे, कब ? करती विस्मय मैं !

उर करुणा के हित था कातर
सम्मान पा गयी अक्षय मैं,
पापों अभिशापों की थी घर
वरदान बनी मंगलमय मैं !

बाधा विरोध अनुकूल बने
अन्तश्चेतन अरुणोदय में,
पथ शूल विहँस मृदु फूल बने
मैं विजय बनी, तेरी जय में !

अवगाहन

मैं सुन्दरता में
स्नान कर सकूँ प्रतिक्षण
वह बने न बन्धन !
जिस स्वर्ग विभा का
करता मन आवाहन,
उस रूप शिखा में
जलें न प्राण शलभ बन,

तुम मुझे घेरकर
बरसो, श्री शोभा घन,
मैं उर शोभा में
स्नान कर सकूँ प्रतिक्षण !

तुम प्रीति दान कर सको
बनूँ मैं निर्भय,
तुम हृदय दे सको
पूजूँ मैं निःसंशय,

मत दो केवल
मधु स्वप्नों का सम्मोहन,
मैं अमर प्रीति में
स्नान कर सकूँ प्रतिक्षण !

मानव उर आशाओं से
आकुल चंचल,
प्राणों की अभिलाषाओं का
क्रीड़ा स्थल,

वह हृदय नहीं
जो करे न प्रेमाराधन,
मैं चिर प्रतीति में
स्नान कर सकूँ प्रतिक्षण !

जो चातक की हो
साध अगाध चिरन्तन,

बरसायेंगे ही करुणा कण
करुणा घन;

भू पर श्रद्धा विश्वास
सुरों के भूषण,
मैं कृतज्ञता में
स्नान कर सकूं प्रतिक्षण !

व्याकुल रहता मेरा
कवि उर का यौवन
तुम समा सको मुझमें
उर की प्रिय उर बन;

वह क्या श्रद्धा विश्वास
न दे जो जीवन ?
मैं नव जीवन में
स्नान कर सकूं प्रतिक्षण !

प्रीति समर्पण

ऊषा आज लजायी !
ओसों के रेशमी जलद से
अधर रेख मुसकायी !

कलियों के वक्षों में कोमल
डुबा रहा मुख मारुत विह्वल,
प्राणों में सहसा उन्मादन
सौरभ रहस समायी !

तुहिन अश्रु स्मित अपलक लोचन
करते नीरव प्रणय निवेदन,
मधुकर ने गुंजित पंखों में
स्वर्णिम रज लिपटायी !

कँपता छायातप का भूतल,
कँपता द्रवित हृदय सरिता जल,
सरसी के अन्तर में कँपती
ज्वाला - सी लहरायी !

यह स्वप्नों की बेला मोहन
देती गोपन मौन निमन्त्रण,
निभृत विरह की - सी पवित्रता
नव विभात में छायी !

यह कामना रहित रहस्य-क्षण,
केवल निश्छल आत्म समर्पण,
तुम्हें हृदय मन्दिर में पाकर
प्रीति मधुर सकुचायी !

प्रतीक्षा

चुम्बन दो, मधु चुम्बन !
अपलक नव मुकुलों का मधुवन !

बहता रहस परस मलयानिल
प्राणों को कर लालसा शिथिल,
शुभ्र अरुण कलियों में खिल-खिल
रँग उठता पुलकित तन !

अंग - अंग में हृदय उछलता
रोम - रोम में प्रणय सिसकता,
तुममें तन्मय होने को उर
करता क्रन्दन गायन !

स्वप्न पंख उड़ते सुख के क्षण
प्राणों में भर विधुर गुंजरण,
मौन हृदय पिक करता कूजन
साँसों में बहता मन !

अमर प्रतीक्षा से ही सुन्दर
ज्ञात मुझे, यह मानव अन्तर,
विरह प्रीति बन, व्यथा गीति स्वर
करते तुमको धारण !

अमर्त्य

समझा, क्यों हँस - हँस गये बिखर !
जब सौरभ के, रँग के दल झर
कर गये रिक्त मधुमय अन्तर,
क्यों फूल, धूल में गये बिखर !

वह कैसी थी स्वर्णिम आशा,
वह कैसी स्वर्गिक अभिलाषा,
कह पाती नहीं जिसे भाषा,
जो तुममें मूर्तित हुई निखर !

दुलराती थी तन मलय पवन,
आशी देती थी स्वर्ग किरण,
धोते थे सस्मित मुख हिमकण,
मधु अधर चूमते थे मधुकर !

अब म्लान मृदुल अँग, मुँदे नयन,
छूटा शोभा का वृन्त शयन,
भरते स्नेही न मधुप गुंजन,
लोटा लावण्य निखिल भू पर !

नभ वैसा ही नीला निर्मल
धरती भी वैसी ही श्यामल,

प्रिय, केवल तुम्हीं हुए ओझल,
अह, हुआ न विश्व व्यथित पल-भर !
सूनी लगती यदि मूक नाल
हँसती वैसी ही मुखर डाल,
दिखते वैसे ही दिशा काल,
भ्रम होता, तुम थे मर्त्य, अमर ?
तुम आये गये, जगत का छल,
तुम हो, तुम होगे, सत्य अटल,
रीता हो भरे धरा अंचल
तुम परे अचिर चिर से,—सुन्दर !

मुक्ति क्षण

हरसिंगार की बेला हँसती
तुम पर कर शृंगार निछावर !

कँप - कँप उठता फूलों का तन,
उड़ - उड़ बहता सौरभ का मन,
शोभा से भर, अपलक लोचन
पथ में बिछ जाने को तत्पर !

एक-साथ लद पुलकों से वन,
भर जाता सुख स्वप्नों से घन,
करता तुमसे प्रणय निवेदन,
कौन समीर कँपाती अन्तर !

एक रात, ज्योत्स्ना में गोपन
अन्तर शोभा में खिल मोहन,
तारों से कर नीरव भाषण
हँसता वह यौवन कृतार्थ कर !

आता प्रातः मधुर मुक्ति क्षण,
जग को कर उर सौरभ वितरण,
हँस - हँस वन श्री आत्म समर्पण
करती प्रिय चरणों पर झर-झर !

वन-श्री

मर्मर करते तरुदल मर्मर,
कल-कल झरते निर्मल निर्झर !
कुहू - कुहू उठती कोयल ध्वनि,
गुंजन रह रह भरते मधुकर !
निभृत प्रकृति का यह छाया-वन,
फूलों की शय्या रच मोहन
जीवन सोया जहाँ चिरन्तन,
स्वप्न गीत गाते सचराचर !

सोयी ज्योति यहाँ तम में घन,
सोया मन पशु में उपचेतन,
सोयी शीतल हरियाली बन
प्राण कामना रज में मन्थर !
लो, अब खुला क्षितिज वातायन,
आयी वन में स्वर्ण किरण छन,
जगे नीड़ के मुखर विहग गण,
बरस रहे नभ से मंगल स्वर !

वसन्त

फिर वसन्त की आत्मा आयी,
मिटे प्रतीक्षा के दुर्वह क्षण,
अभिवादन करता भू का मन !
फूलों में मृदु अँग लपेटकर,
किरणों के सौ रंग समेटकर,
गुंजन कूजन से जग को भर,
फिर वसन्त की आत्मा आयी,
हरित शुभ्र स्वर में भर मर्मर,
अरुण पीत लौ में कँप - कँपकर !
दीप्त दिशाओं के वातायन,
प्रीति साँस - सा मलय समीरण,
चंचल नील, नवल भू यौवन,
फिर वसन्त की आत्मा आयी,
आम्र मौर में गूँथ स्वर्ण कण,
किंशुक को कर ज्वाल-वसन तन !
सिहरी मांसल वन-श्री थरथर,
अंगों पर काँपा छायाम्वर,
सहसा पुष्प शिखर उठे उभर,
फिर वसन्त की आत्मा आयी,
पल्लव क्षितिज बना परिरम्भण,
शोभा करती आत्म समर्पण !
देख चुका मन कितने पतझर,
ग्रीष्म शरद, हिम पावस सुन्दर,
ऋतुओं की ऋतु यह कुसुमाकर,
फिर वसन्त की आत्मा आयी
विरह मिलन के खुले प्रीति व्रण,
स्वप्नों से शोभा-प्ररोह मन !
सब युग, सब ऋतु थीं आयोजन,
तुम आओगी वे थीं साधन,
तुम्हें भूल कटते ही कब क्षण ?

फिर वसन्त की आत्मा आयी,
देव, हुआ फिर नवल युगागम,
स्वर्ग धरा का सफल समागम !

रंग मंगल

आज रँगो फिर जन-जन का मन !
नवल होलिके, नव शोभा से
रँगो पुनः भारत का यौवन !
नव पल्लव से रँगो दिगंचल,
रँग ज्वाला से फूलों के पल,
रंग भरे लोचन आनन से
रँगो सकल गृह के वातायन !
गूंजे रंग ध्वनित भू गायन,
उमड़े रँग-रँग के सौरभ घन,
नव स्वप्नों की रंग वृष्टि से
रँग जाये धरणी का जीवन !
रँगो प्रीति से घृणा द्वेष रण,
नव प्रतीति से कटुता के क्षण,
जीवन सुन्दरता के रँग से
श्री पंकिल हो भू का प्रांगण !

रजत शिखर

[प्रथम प्रकाशन-वर्ष : १६५२]

प्रियवर
दिनकर को

विज्ञप्ति

रजत शिखर में मेरे छः काव्य रूपक संगृहीत हैं, जो आकाशवाणी से संक्षिप्त रूप में प्रसारित हो चुके हैं। इन रूपकों में चौबीस मात्रा का अतुकान्त रोला छन्द प्रयुक्त हुआ है, जिसमें नाटकीय प्रवाह तथा वैचित्र्य लाने के लिए यति का क्रम गति के अनुरूप ही बदल दिया गया है एवं तेरह ग्यारह के स्थान पर दो बारह अथवा तीन आठ मात्रा के टुकड़ों पर रखना अधिक आलापोचित सिद्ध हुआ है। पद के अन्त में दो गुरु मात्राओं के स्थान पर लघु गुरु या दो लघु मात्राओं का प्रयोग कथोपकथन की धारावाहिकता के लिए अधिक उपयोगी प्रमाणित हुआ है। पद्य नाट्य में लय की गति को अक्षुण्ण रखने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि पढ़ते समय प्रत्येक चरण के अन्त में यथेष्ट विराम दिया जाय। इति—

१५ जुलाई '५१ — सुमित्रानंदन पंत

रजत शिखर

'रजत शिखर' मनुष्य की अन्तश्चेतन का शुभ्र प्रतीक । इ
काव्य रूपक में जीवन के ऊर्ध्व तथा समतल संचरणों का न्स
प्रदर्शित किया गया है। मानव मन के विकास की वर्तमान स्थिति
में ऊर्ध्व के अवरोहण तथा समतल के आरोहण पर बल देकर
दोनों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है।

स्त्री पुरुष स्वर
युवक साधक
युवती
मनोविश्लेषक
राजनीतिज्ञ
विस्थापित

(प्राणोन्मादन वाद्य संगीत)

पुरुष स्वर

वन मर्मर की हरी - भरी घाटी यह सुन्दर,
कल-कल बहती जहाँ मुखर प्राणों की सरिता
आवेशों के फेनिल मानस पुलिन डुबाकर !
यहाँ प्रसारों में हँसता जीवन स्वर्णातप
शोभा के ताने - बाने में सतरँग गुम्फित,
मृगजल - सी शत छाया-इच्छाएँ लहरातीं
नि:स्वर नूपुर बजा वीथियों में ममता की !

यहाँ बनैले फूलों की मांसल सुगन्ध पी
मारुत उन्मद लोटा करता हरीतिमा के
घने उभारों में, गर्तों में, इन्द्रिय मादन !
मुग्ध स्वर्ण प्रभ भृंग गूँजते वीरुध जग की
कुसुम योनियाँ चूम गन्ध रज, गर्भ दान दे !
यहाँ तितलियाँ रंग अंग भंगिमा दिखातीं
वन - अप्सरियों-सी फिरतीं शोभा इंगित कर,
मौन ज्योतिरिंगण निशीथ के अन्धकार में
चमक झमक उठते प्रकाश के संकेतों-से !

स्त्री स्वर

नाम - हीन आशाऽकांक्षाएँ यहाँ अतन्द्रिल
इन्द्रजाल बुनतीं अपलक स्वप्नों के मोहक :
अमिट लालसा तृष्णाओं की चल केंचुलियाँ
रेंगा करतीं गरल मदिर क्षण फन फैलाये !
यहाँ प्रीति ज्वाला सुन्दरता हाला पीकर
लिपटी रहती सघन मोहतम के कुंजों में :
और सुनहले रहस पंक में धँस जीवन के
मन के मुग्ध चरण बँध जाते अलस श्रान्ति में !

(ग्रात्मोन्नयनसूचक वाद्य संगीत)

पुरुष स्वर

दूर वहाँ, उस पार, मर्मरित अन्तरिक्ष के
ऊपर, नभ का नील चीरते, शुभ्र रजत के
शिखर दिखायी पड़ते जो स्थिर ज्योति ज्वार-से
तड़ित चकित जलदों के खुलते अन्तराल से,—
मौन, अटल, उल्लंग, आत्म गरिमा में जाग्रत,
शाश्वत, अमर, असीम,—परम आनन्द लोक-से,—
स्वर्ग क्षितिज को उठे विश्वास स्तम्भ-से,—
जहाँ चेतना का प्रकाश हँसता दिग् विस्तृत,
स्वच्छ हिमानी-सा शशि की किरणों से प्रहसित,
उज्ज्वल, स्निग्ध, प्रशान्त,—जिसे जगती का कलमष
स्पर्श नहीं कर पाता तम तृष्णा के कर से—

स्त्री स्वर

वहाँ पहुँचने को चिर व्यग्र, महत्त्वाकांक्षी,
एक युवक, जो रहता छाया की घाटी में,
जग जीवन के संघर्षण से श्रान्त क्लान्त हो,
सोच रहा, मैं कैसे प्राप्त करूँ महिमोज्ज्वल
मानस की उस निभृत रुपहली ऊँचाई को
जो निष्कम्प शिखा-सी उठकर, महानील को,
आलोकित करती अपने अन्तः प्रकाश से !
जहाँ विचरते सुरगण गोपन सुख से प्रेरित
स्वप्नों की पगध्वनि से कम्पित कर दिगन्त को;
जहाँ प्रेरणाओं के स्वर्णिम मेघ बरसते
मर्म स्वरों की रजत फुहारों में अजस्र झर !

(वाद्य संगीत : आकाश गीत)

शुभ्र कान्ति रही बरस
शुभ्र शान्ति रही हरस,
शाश्वत शोभा असीम
दिशि पल से रही विहँस !
गाते गन्धर्व अमर
झरते स्मित स्वर्णिम स्वर,
तन्मय तन मनस् प्राण
अकथित आनन्द परस !
चेतना रही निहार
अपलक दृग आर - पार,
जयति, सत्य ज्योति शिखर,
अन्तः स्मित रहे विलस !
अमृत कलश चन्द्र भाल,
विजित अचित् व्याल माल,

स्फुरित शीर्ष चेतनोर्मि,
जयति, शक्ति पुरुष स्ववश !

(तानपूरे के स्वर)

युवक

बरस रहा आत्मस्थ स्वरों का निःस्वर निर्झर
अधिमानस के नभ से, सुधा स्रवित कर अन्तर,—
किन्तु हाय, मैं सौरभ मृग - सा गन्ध अन्ध हो
भटक रहा प्राणों की इस मोहित घाटी में :
जिसकी छलना के दिङ् मायावी प्रसार में
खो खो जाती मन की गति, चल इन्द्रिय सुख के
पंखों में छटपटा, श्रान्त श्लथ हो अतृप्ति से !

हँस हँस यौवन की सतरँग आशाऽकांक्षाएँ
इन्द्रधनुष दीपित वाष्पों की भाव भूमि में
विवश मोह लेतीं मानस को, निज रोमांचित
रंग पाश में बाँध, लिपट कंटकित लता-सी !
चारों ओर बिछे हैं मोहक जाल अगोचर
आवेशों की रत्नच्छायाओं के गुम्फित;
कोमल मुखर स्वरों से मर्माहत करती उर,
फूल मौन छबि से मोहित कर लेते अन्तर;
रूप हीन सौरभ अदृश्य मृदु रजत सूत्र से
खींच चेतना को कर देती व्याप्त बहिर्मुख ! —

हास अश्रु की घाटी यह : हँसमुख फूलों की
पलकों से झरते रहते मोती के आँसू :
धरती का चातक प्रेमी आकाश कुसुम का,
अन्ध चकोर अँगारे चुग निज तृषा बुझाता,
गन्ध मधुप गाता काँटों में फूल के लिए ! !

(मनोमोहक वाद्य संगीत)

इच्छाओं की मर्म गुंजरित इस द्रोणी में
जब प्रवृत्ति पथ, रत्नखचित आकाश सेतु - सा,
अपनी शत रंगों की छायाएँ बखेरकर
अपलक कर देता लोचन : मुग्धा चपलाएँ
स्मित कटाक्ष से पुलकित कर देतीं तन, चंचल
ज्वालाओं के स्पर्शों से प्राणों को उकसा :
शरद चाँदनी दुग्ध फेन - सा कम्पित उर ले
स्वप्नों की गुंजित चापों से निशा कक्ष को
मुखरित कर देती सहसा जब : नव वसन्त श्री
फूलों के मृदु अवयव शोभा में लपेटकर
अँगड़ाई भरती, वन सौरभ की साँसों से
समुच्छ्वसित कर हृदय : और उन्मद स्वप्नों की
मोहकता से भरी नवल यौवन की अगणित

आशाऽकांक्षाएँ हर लेतीं आत्मबोध को,—
तब, जाने, मानस में, नीरव ज्योति चरण धर,
स्नेह मधुरिमामयी कौन, नव उषा किरण - सी,
करती सहज प्रवेश, हृदय में जगा अभीप्सा,—
मुग्ध, आत्म विस्मृत कर अन्तर को क्षण-भर में !
खुलता हो अन्तरतम का चिर रुद्ध द्वार ज्यों
खुलता उर का रहस व्यथामय मर्म प्रीति व्रण
विद्रुम विगलित दिव्य मौन लालिमा लोक-सा,
करुणा शीतल करता जो लालसा दाह को !

(करुण वाद्य संगीत)

कैसे मैं जीवन के रंजित कर्दम से उठ,
भाव तृषित मृग मरीचिका से मोह मुक्त हो,
आरोहण कर रजत चेतना सोपानों पर
पहुँचूँ अन्तर्मन की उस प्रज्ज्वलित भूमि तक,
जिसके शान्त शिखर मोहित करते भू का मन,
चिर हिल्लोलित मानस के हर्षातिरेक-से !

(द्विविधासूचक वाद्य संगीत)

अह, फिर स्वर्ण रजत वाष्पों के सतरंगी पट
आच्छादित कर लेते अन्तः शुभ्र शिखर को,—
चपलाओं के विभ्रम से कर चकित मनोदृग !
फिर-फिर प्राणों की अभिलाषा कनक भुजग-सी
लिपट, बाँध देती उत्सुक बढ़ते चरणों को !
हँसमुख गर्त निगल जाते उच्चाकांक्षा को,
अतल मग्न कर उर प्रान्तर को अन्धकार में !
धीरे - धीरे झींगुर - सी फिर रेंग कामना
जड़ विषाद को कँपा, जगाती सुख की तृष्णा,—
इस प्रकार नित चलता रहता जीवन अभिनय
और बदलते रहते चल पट छायातप के !

(कोयल की कूक)

लो, जीवन की नव मंजरित प्रथम वसन्त - सी
प्राण सखी आ रही इधर ही, राह भूलकर !
या गत स्मृतियों से प्रेरित हो ? कोयल उसका
अभिनन्दन करता है उत्सुक मर्म कूक भर !
कुहू, कुहू,—लहरों-से उठते स्वरावेश में
मेरे प्राणों की उत्कण्ठा बरस रही है !

मेघों के अम्बर में शशि की रजत तरी ज्यों
तिरती स्वप्नों से रँग-रँगकर शिखर फेन के,
मेरे प्राणों में उतराती प्रेयसि की स्मृति
निज किशोर लीला का चंचल मुग्ध हास्य भर !
विरल जलद से स्वर्ण बिम्ब-सा उसका स्पन्दित

गौर वक्ष है सतत झलक उठता स्मृति पट में !
आज उतर आयी वह ज्यों साभार धरा पर
नव मधु की इच्छाओं के पंखों में उड़कर !

(दूर से प्रवाहित गीत के स्वर)

नव वसन्त क्या लाया ?
प्राणों की घाटी में फिर
फूलों का पावक छाया !
सुन कोयल का दाहक कूजन
मधुपों का उन्मादक गुंजन,
स्वप्नों ने अन्तर् मर्मर भर
कैसा गीत जगाया !
रँग-रँग की इच्छाएँ हँस - हँस
मन को पागल करतीं बरबस,
पग - पग पर रुकती मैं उन्मन
किसने मुझे लुभाया !
घिरते आज क्षितिज में क्यों घन
सौरभ के, भावों के मादन,
चल वसन्त के नभ में मन्थर
सावन क्यों घिर आया ?
अधरों में नव कलियों की स्मित,
पलकों में स्मृति की झर अविदित,
मन समीर के पंखों में,
उर में समुद्र लहराया ?

(युवती का प्रवेश)

युवती

नव वसन्त का अभिवादन देने आयी हूँ !

युवक

प्रणय मुखर कोयल को अपना दूत बनाकर
स्वयं वसन्त श्री आयी है नव शोभा में
मेरी भग्न कुटी के चिर विस्मृत प्रांगण में !
स्वागत करता हूँ प्रिय ऋतुओं की रानी का !

युवती

पिक की वाक्पटुता से उपकृत है वसन्त श्री !

युवक

तुम्हें ज्ञात है, मेरे जीवन के निकुंज में
तुम्हीं प्रथम मधुऋतु आयी थीं, जब प्राणों के
पल्लव, मर्मर भर, स्वप्नों से सिहर उठे थे !
मदिरारुण लपटों में उर की आकांक्षाएँ
फूट पड़ी थीं, सहसा तुमको घेर चतुर्दिक्,

मौन मुकुल को घेरे रहते ज्यों नव किसलय !
फूलों की ज्वालाओं सी - अन्तर प्रान्तर में
सुलग लालसाएँ अवचेतन की चिर संचित
विहँस उठी थीं आवेशों के नवल दलों में !

युवती

बीता हुआ सदैव रहस स्मृति से रंजित हो
मोहक बन जाता है ! तब वास्तव का दंशन
विस्मृत क्षण हो जाता, स्मृति के पट में केवल
इच्छा का आनन्द स्पर्श संचित रह जाता !

युवक

भूल गयीं तुम उस नव यौवन के वसन्त को ?
प्राणों के पावक के उन्मादन वैभव को ?
तब जाने किस निभृत गहन के अन्तराल से
अन्ध समीरण उठ, सौरभ के पंखों से छू,
मानस को कर जाता था सौन्दर्य उच्छ्वसित,
भावों के श्लथ सागर को आनन्द तरंगित !
रोमांचित हो उठता था तन, कण्टक - वन-सा,
जाने किसके मधुर स्पर्श से !

युवती

नहीं जानती !

युवक

जब भी आती थीं तुम इस अपलक कुटीर में
वह मधु की मदिरा पी, किसलय लोहित दृग हो,
प्रणय कुंज बन जाती थी, कल केलि गुंजरित !
कितने ही गोपन वसन्त, पावस, रहस शरद
हमने साथ बिताये हैं एकान्त प्राण-मन,
सूक्ष्म अदृश्य सूत्र में बँध अज्ञात प्रणय के !
हाथ हाथ में लिये, तरुण स्वप्नों के पग धर,
विचरण करते थे हम निर्जन वन वीथी चुन,
लहर समीरण से अभिन्न, सौरभ-से कलि-से !

मर्मर शीतल तरुओं की कम्पित छाया में
बैठ ग्रीष्म की अलस दुपहरी में हम प्रतिदिन
प्रणय निवेदन के सुख की मादन विस्मृति में
तन्मय हो जाते थे ! वर्षा में श्यामल घन
घिरकर यौवन के दिगन्त में, गुरु गर्जन भर,
आकुल कर देते थे अन्तर, आकांक्षा की
गहरी छाया डाल धरा पर : विद्युत् अपने
क्षण इंगित से प्रणय भीरु उर को अनजाने
शंकित कर देती थी—

युवती

भावी की लेखा - सी !

युवक

कितनी बार शरद के रेखा शशि की मैंने
एक और मुख की रेखाओं से तुलना कर
उसे सदोष बताया है, तुमको कूंई के
अपलक नयनों का विस्मय अर्पित कर सादर...!
और तुम्हारी वेणी के चिर कोमल तम में
गूंथ कभी जब मधु के मुकुलों की सद्यः स्मिति
मैं मन ही मन तुम्हें हृदय स्वप्नों के मुकुलित
प्रीति पाश में भर लेता था, तब प्रसन्न मन,
तुम अनिमेष दृगों से मेरी ओर देखकर
मन्द हास्य से निज गोपन स्वीकृति देती थीं ! —
कह दो, तब क्या वह केवल सान्त्वना मात्र थी,
या कोमल उर का सुमधुर उपचार मात्र था ?

युवती

जो भी समझो, वह केवल कैशोर प्रणय था !
अभी नहीं छूटी क्या मुग्ध तुम्हारे मन से
मेंहदी की लाली - सी वह कैशोर भावना
जिसने निज यौवन उन्मुख प्रच्छन्न राग से
था अजान रँग दिया कपोलों की व्रीड़ा को ?
उस अबोधता को प्रमाण मानोगे क्या तुम ?...
स्पर्श नहीं कर सकी तुम्हारे भावुक उर को
हाय, वास्तविकता जीवन की नित्य बदलती !

युवक

स्पर्श नहीं कर सका तुम्हारे चंचल मन को
हाय, हृदय का सत्य, कभी जो नहीं बदलता !!

युवती

आज प्रेम विषयक इन मध्य युगी, शुक जल्पित
उद्गारों की कीर्ति तुम्हारे मुख से सुनकर
मेरा मन अवसन्न, हृदय उद्विग्न हो उठा !

युवक

तब क्यों तुम मुझको फिर से विस्मृत वसन्त की
याद दिलाने आयी, ऋतु श्रृंगार सजा नव ?
वह क्या केवल क्रूर व्यंग्य, उपहास मात्र था ?
या नारी उर की स्वाभाविक निर्दयता थी ?
जिस निगूढ़ निर्ममता की पाषाण शिला से
मायावी विधि ने निर्मित की नारी प्रतिमा,
उसमें मृगजल शोभा, छाया कोमलता भर ?

तुम्हें नहीं क्या ज्ञात, प्रणय चेतना हृदय को
रिक्त पात्र-सा जब रस सूना कर जाती है,
तब उसको ये उद्दीपन के कुसुमित साधन,
सुख के रंजित उपादान दुखमय लगते हैं,
और सुधाधर की स्मिति भी विष बरसाती है ?

युवती

मुझे ज्ञात है, ये दुर्बल उच्छ्वास मात्र हैं,
तुम परिणीत नहीं इन थोथे विश्वासों से !

युवक

कहते हैं, कामिनी कनक साधक के पथ के
बाधक हैं ! पर लक्ष्मी के चल पद क्षेपों से
मेरा कांचन का मद कब का चूर्ण हो चुका,
जो स्त्री का यौवन टुकड़ों में क्रय कर सकता,
व्रीड़ा की लाली को डुबा सुरा प्याली में
शोभा को अवगुण्ठन हीन बना सकता औ'
शोषित कर सकता है संख्याओं के जग को !!

किन्तु शेष थी अभी कामिनी की मृदु ममता,
वह भी विधि ने हँसते - हँसते आज कुचल दी
निर्दय अँगुलियों से तोड़ निरीह फूल-सी,
उसकी रंगों की पंखड़ियाँ छिन्न-भिन्न कर
धरा धूल में, जिसमें सब कुछ मिल जाता है !

कनक काम के ही पावक का, तपःपूत कर,
रूपान्तर करना होगा पर नव मानव को,
उसे वासना धूम, राग की दाहकता से
क्षार मुक्त कर, परिणत कर शीतल प्रकाश में :
धूम अग्नि का न्याय प्रकृति का नव संस्कृत कर !
काम - शुद्ध कांचन की प्राणोज्ज्वलता से ही
जीवन शोभा की प्रतिमा हो सकती निर्मित !

युवती

मनःशास्त्र कुछ और बताता है, पर जो हो···
मैं उन्मन-सी हो, उनसे मिलने आयी थी
सुहृद् तुम्हारे हैं अभिन्न जो, मानव मन के
सूक्ष्म तत्व विश्लेषक, अपने गहन ज्ञान से
मेरी सुप्तात्मा को जगा जिन्होंने सहसा
नव चेतन कर दिया, उसे नव दृष्टि दान दे !
अवगाहक - सा उतर अचेतन के निस्तल में
गुह्य सत्य की निधियाँ जो लाये हैं ऊपर,
आर पार अनुशीलन कर मानस विधान का !

युवक

समझ गया मैं ! ...दूर हो गया मेरा संशय ! ...
नया केन्द्र मिल गया तुम्हारी मधुर वृत्ति को,
नया हृष्ट आधार हृदय की प्रणय क्षुधा को !
सदा रहीं आवेग शील, चिर अभिनव प्रिय तुम,
छिपा रही हो मुझसे अब उर की दुर्बलता
मनोज्ञान का उस पर अंचल डाल रुपहला !
लो, सुखव्रत आ रहा इधर ही, तुम्हें खोजता !

(मनोविश्लेषक सुखव्रत का प्रवेश)

सुखव्रत

नमस्कार ! ...ओ, तुम भी यहाँ उपस्थित हो तब!

युवक

इन्हें खींच लाया पहिले ही मन का आग्रह !

युवती

सुनती थी मैं, दीप तले रहता अँधियाला,
वह सच निकला : तुमने अपने बाल्य सखा को
अन्धकार ही में रक्खा, अपने प्रकाश से
उनको वंचित कर,—क्या यह आश्चर्य नहीं है ?

सुखव्रत

तुमने नहीं सुना, साधक, कवि, प्रेमी, पागल
वायवीय तत्वों के बने हुए होते हैं :
विधि ने उनका हृदय सूक्ष्म कल्पना द्रव्य से
स्वप्न ग्रथित है किया : नित्य वे स्वर्ग धरा के
मध्य भावना पंख मारते रहते निष्फल !
मेरे बाल्य सखा भी साधक हैं : सम्भव है,
प्रेमी भी : इनकी उत्तेजन - शील शिराएँ
सदा ज्वार भाटाओं पर उतराती रहतीं !
जीवन और जगत के प्रति ये अनासक्त हैं,
और, अपरिचित भी शायद !—

युवती

क्या विडम्बना है !
मैं इन पर बचपन से ही ममता रखती हूँ,
पर ये मुझको नहीं समझते !

सुखव्रत

मुझे ज्ञात है,
प्रणय दान तुम इन्हें नहीं दे सकीं, कदाचित्
हृदय समर्पण करना तुमको इष्ट नहीं था,—
इसमें इनका दोष नहीं है : अवचेतन की

प्रबल शक्ति से ये सन्तत अनभिज्ञ रहे हैं !
उच्च ध्येय से पीड़ित है इनकी सुप्तात्मा,
बोधात्मा पर पित्र्य प्रभाव रहा छुटपन से,
अहमात्मा नित हीन भाव से रही प्रतारित :
दमित भावना मार्ग खोजती क्षुधापूर्ति का,
जिससे संघर्षण रहता नित चेतन मन में !

युवती

कैसी अन्तर्दृष्टि तुम्हें है मानव मन पर !

सुखव्रत

ऐसी स्थिति में आत्म पलायन के स्वप्नों पर
मोहित हो, उन्नयन खोजता व्यक्ति निरन्तर :
वास्तवता से कटकर वह काल्पनिक तुष्टि के
ऊर्ध्व गर्त में गिर पड़ता, छाया सुख सस्मित !

युवती

स्वत: स्पष्ट है ! ···किन्तु प्रेम कैसे होता है ?
क्यों बँध जाते युगल हृदय अज्ञात सूत्र में ?

सुखव्रत

प्राण चेतना अपने ही मौलिक नियमों से
संचालित करती मानव की रागवृत्ति को,
सजातीयता प्राणों की आर्कषित करती
युग्मों के हृदयों को गोपन प्रणय पन्थ पर !
प्रेम चयन कर, संग्रह कर होता कृतार्थ नित,
अन्ध समर्पण मात्र नहीं वह आवेगों का
अवचेतन परिचालित करता उसकी गतिविधि
स्तम्भित इच्छाएँ विमुक्त कर, पिण्ड द्रवित कर,
कुण्ठाओं को मिटा, रुद्ध ग्रन्थियाँ खोल शत
गुह्य वासनाओं की, आत्मदमन से गुम्फित !
निश्चेतन मन का रहस्य चिर दुरवगाह्य है !

युवक

तब क्यों शुक की भाँति रटें हम अवचेतन के
उपभेदों को, उच्छृंखलता से प्रेरित हो,
यदि उन पर अधिकार नहीं है चेतन मन का ?

सुखव्रत

सामाजिक भी एक पक्ष है मन:शास्त्र का,—
जिन मूल्यों पर रागात्मक सम्बन्ध मनुज के
निर्धारित होंगे भविष्य में, उनको नूतन
मन:शास्त्र देगा, अवचेतन के समुद्र को
कूल मुक्त कर, रूढ़ि रीति के प्रतिबन्धों को

ज्वार मग्न कर, उच्छल प्राणों के प्रवाह को
आवर्तों से गण्ड शून्य—

युवती

इसमें क्या संशय !

सुखव्रत

पचहत्तर प्रतिशत मनुष्य के उद्वेगों का
कारण, रागात्मक प्रवृत्ति का अन्ध दमन है !
थोथी, रुग्ण, अवैज्ञानिक आचार भित्ति पर
प्राणभावना का है भवन बना समाज का,
रुद्ध द्वार, कुण्ठित गवाक्ष : नीचे निस्तल से
उठते शत दुर्गन्ध मलिन उच्छ्वास विषैले,
जिनसे रहता सिन्धु - क्षुब्ध मानव का अन्तर !

हमें मुक्त करनी है पहिले काम चेतना
युग-युग की कृमि जटिल ग्रन्थियों से जो पीड़ित,
रागद्वेष, कुत्सा, कलंक की कृपण दृष्टि से
उसे बचाना है, गत नैतिक कोण बदलकर !

युवती

घोर क्रान्ति मच रही आज मानव के भीतर !

सुखव्रत

जब प्राणों का स्वास्थ्य बहेगा मुक्त वेग से
नव प्रणालियों से सामूहिक सहजीवन की,
नवल भावनाओं, प्रवृत्तियों का शोणित तब
स्वतः प्रवाहित होगा मांसल चेतन मन में,—
द्वन्द्व चेतना का रूपान्तर कर देगा जो !—
और युगों के शमन दमन, उन्नयन पलायन
उड़ जायेंगे प्राणों के झंझा प्रवेग में !
अवचेतन के अतल सिन्धु से उठ जीवन का
रंग ज्वार मज्जित कर देगा जन भू के तट !
शत सहस्र फन खोल पुनः निद्रित निश्चेतन
मनोराग की वंशी के स्वर संकेतों पर
नाच उठगा —कर विराग के प्रति विरक्त मन !
यह भावात्मक देन अनोखी है इस युग की,
मानस विश्लेषण विज्ञान जिसे देता है !

युवक

बहुत सुन चुका अधः प्राण सन्देश तुम्हारा,
निश्चय ही अब नरक द्वार खुलनेवाला है !
निश्चेतन के अन्धकार में युग का भू-मन
भटक रहा है, नैतिक मूल्यों का प्रकाश खो !

अधःपतन में मुक्ति नहीं है! ऊर्ध्व गमन ही
मुक्ति द्वार है! ···मोह मुक्त हो गया आज मन!

रंग पंख वासना प्रणय का मोहक गुण्ठन
मुख पर डाले, प्रकट हुई थी मेरे सन्मुख
मधुर रूप धर स्त्री का, निज छाया-सा अस्थिर,—
यौवन के स्वप्नों का खोल गवाक्ष अर्धस्मित!
मैं जाने कब, अनुभव शून्य, मधुर तृष्णा के
हँसमुख कर्दम में फँस गया, नियति परिचालित!
नारी की पावन शोभा को देख न पाया,
केवल निज इच्छाओं के मोहक वेष्टन से
रहा खेलता, छाया को उर से चिपकाकर!

युवती

कैसा है दुर्भाग्य—

सुखव्रत

मांस की दुर्बलता का!

युवक

लज्जित हूँ मैं! क्षमा चाहता हूँ दोनों से!
स्पर्धा के दंशन से पीड़ित, संवेदन क्षम,
इन्द्रिय स्पर्शों से मर्माहत, भूल गया था
मैं अपने को, मानव आत्मा के गौरव को!

रोमांचक है हाय, इन्द्रियों की यह घाटी,
करुणाजनक कथा है प्राणों के प्रदेश की!
घोर अँधेरी नगरी निस्तल निश्चेतन की,
मुक्त कामना तन्त्र राज्य प्यासे असुरों का!!
देवासुर संग्राम क्षेत्र है मानव का मन,
प्राण भावना समर स्थल है जिसका शाश्वत;
एक रोज मानव को भू की अन्ध गुहा में
ऊर्ध्व ज्योति की विजय ध्वजा फहरानी होगी,—
तभी मुक्त होगी निःसंशय प्राण चेतना!

ऊर्ध्व मान्यताओं का ही सामूहिक जीवन
समतल गत संचरण,—धरा के निश्चेतन से
अविरत संघर्षण कर, नित ऊपर उठकर जो
सामाजिक भू-जीवन में संगठित हुआ है!—
यही ऊर्ध्व इतिहास सभ्यता का है निश्चय!

सुखव्रत

यही करुण आख्यान रुद्ध आकांक्षा का भी!

युवक

यह सच है, सम्प्रति, मानव के चेतन मन पर

आकर्षण है अधःप्राण अवचेतन मन का,
युग्म भावना लक्ष्य आज दृग आक्षेपों की,
नर नारी का सख्य, मर्म है निभृत कुंज का,
गुह्य कक्ष का, अन्ध विवर का,—जनरव दूषित !
उसे उदार, विशद दृग बनना है, विकास प्रिय
मानव सीमाओं को स्वीकृत कर भूपथ की !
दूत दूतिकाओं की, पटु परकीयाओं की
पृष्ठ भूमि कटु बदल, प्रणय के अभिसारों की !
मानवीय संस्कार श्रेणि में, यौवन हर्षित
प्राणों के रंग स्फुरणों को मधुर स्थान दे !

निम्न प्राणचेतना एक दिन ऊर्ध्व गमन कर
रागात्मक भू स्वर्ग रचेगी स्वप्न जाल स्मित;
भले उपेक्षित रही रूक्ष नैतिकता से हो,
अपने आरोहण पथ में वह देव योनि बन
बरसायेगी भू पर रत्नस्मित आभाएँ
श्री शोभा, विश्वास प्रीति, आनन्द ज्योति की ! ···
व्यापक ऊर्ध्वस्थल पर उठकर प्राण शक्ति ही
मनुष्यत्व में परिणत होगी सुर आकांक्षित !
नव नारी नर, विभा रश्मि से चिर अन्तःस्मित,
विचरेंगे जग में, कृतार्थ कर भू विकास पथ !

सुखव्रत

धन्यवाद ! ये पुण्य कल्पनाएँ हैं केवल !

युवती

हाय, पुण्य इच्छाएँ पंख अश्व भी होतीं !

युवक

छँटते जाते हैं अब धूमिल वाष्पों के घन,
हटती जातीं स्वर्णिम नीलारुण छायाएँ,
खुलते जाते अन्तरिक्ष के अन्तर्मुख पट,—
और निखरने लगे शुभ्र निर्वाक् शिखर फिर
ऊर्ध्व प्राण, अन्तश्चेतन सोपान से खड़े,—
समाधिस्थ हो उठा पुनः हो बहिर्व्याप्त मन !

इस मरकत द्रोणी के हँसमुख सम्मोहन से
मोह मुक्त हो रजत अभीप्सा अन्तस्तल की
आतुर है उड़ने को उन्मेषित पंखों में
मनःक्षितिज के पार चेतनातप के नभ में,—
जहाँ विचारों का अनुगुंजन लय हो जाता !

अन्तिम तृण हट गया, कट गया दुर्गम पर्वत ! ···
अतल गर्त नीचे, ऊपर दुर्लंघ्य शिखर है !
नीचे इन्द्रिय रौंद रहीं निर्मम चरणों से,

दुरारोह निर्जनता ऊपर द्वैत शून्य है !—
सहज एक-बहु की स्थिति का आकांक्षी है मन !
जल-जल उठते शीत स्वच्छता से इच्छा पग,
कँप उठता उर, हरित ऊष्मता के अभाव से;
ज्यों - ज्यों आरोहण करता मन मौन शान्ति में
धरती का क्रन्दन ही ऊपर स्वर संगति पा
बन जाता संगीत सुनहली झंकारों का !
मानव ही सुर में परिणत हो जाता उठकर !
अन्न प्राण मन हँस उठते चेतनाऽलोक में,—
सर्वशक्तिमय दिव्य तमस है जड़ धरणी का !

महाश्चर्य है ! वही सत्य है ! ऊपर है जो
शिखर, वही नीचे प्रसार है ! एक संचरण
मात्र ! ऊर्ध्व हो अथवा समदिक्, दोनों ही पर
अन्योन्याश्रित है निश्चय ! दोनों के ऊपर
एक अनिर्वचनीय रहस्य, हृदय रोमांचक !

(जनरव)

किन्तु, कौन आ रहे इधर वे गीत रुदन भर ?

(दूर से प्रवाहित समवेत गीत)

कहाँ मिले स्वर्गवास,
घोर त्रास, घोर त्रास !

एक स्वप्न गया टूट,
एक नीड़ गया छूट
आस पास मची लूट
मृत्यु कर रही विलास !
किधर बह रहा समीर
अतल सिन्धु जल अधीर,
कहाँ मिले, दूर तीर,
भँवर में पड़े प्रयास !
जा रहा किधर उदास
मनुज आज चिर निराश,
यह विकास या विनाश ?
बदल रहा युग लिबास !
बीत गयी काल रात
बज्र गिरा अकस्मात्,
खड़ा शिखर पर प्रभात—
हृदय में न पर हुलास !

(विस्थापितों का प्रवेश)

विस्थापित

विस्थापित हैं, हम धरती के विस्थापित हैं !

शरणार्थी, नव भू जीवन के शरणार्थी हैं !
उफ, जिन काले कृत्यों के अँधियाले से हम
किसी तरह बाहर निकले वे अकथनीय हैं !
मार काट, हत्या, निर्दयता, कटु नृशंसता,
पैशाचिक उद्दाम कामना का खर ताण्डव !
नारकीय प्रतिहिंसा, घोर घृणा का उत्सव !
नग्न वासना नृत्य, प्रेत ज्यों अवचेतन के
अट्टहास भर, बाहर सकल निकल आये हों
धरती की रज योनि चीरकर, बलात्कार कर !
बलात्कार, व्यभिचार, मृत्यु के मुख का कटु सुख ! !

कुछ स्वर

उफ, किसने चीरा कोमल कदली स्तम्भों को,
स्वर्ण कन्दुकों को लूटा,···फूलों की कम्पित
डालों को धर निर्दयता से तोड़ मरोड़ा !
पागलपन था, पागलपन सिर पर सवार तब !
कहाँ मर गयी थी लज्जा सज्जा की ममता ?
कहाँ उड़ गये थे आँखों से फूलों के रँग ?
बिखर गयी थीं उर की स्वप्न भरी पंखड़ियाँ,
अन्तर की कोमलता थी पाषाण बन गयी ! !

शील सभ्यता, दया मधुरता, श्री सुन्दरता
कहाँ मिट गये जीवन के उपचार ये मधुर ?
ढेर हो गये ढेर, सभी बीभत्स दृश्य बन,—
भाँय-भाँय करता था तब भूतल श्मशान-सा,
साँय - साँय करता था उर निर्जन मरुथल-सा !

कुछ स्वर

आग, आग ! भगदौड़ ! लीलती लपटों का जग !
कान जल रहे, अब भी सुनकर कान जल रहे !
लूट पीट, छीना झपटी ······हम भूत-प्रेत हैं,
सम्प्रदाय के कट्टरपन्थी भूत - प्रेत हं !
रूढ़ि रीतियों के धर्मान्ध पिशाच प्रेत हैं ! !
कायरता, निष्ठुरता, मानव की बर्बरता का !
प्रतिनिधि है मानव धरती की बर्बरता !
भूमिकम्प था वह मुर्दों के सम्प्रदाय का,
समा गया अब धरती की घायल छाती में ! !

युवती

कान जल रहे, अब भी सुनकर कान जल रहे !

सुखव्रत

एक अचेतन की तरंग के प्रबल घात से
बालू का-सा दुर्ग, यान मानव जीवन का

तहस-नहस हो गया, तिमिंगल पुच्छ पात से ! ...
सब प्रकार के सामूहिक ऊहापोहों का,
राग द्वेष, ईर्ष्या स्पर्धा का, कलह क्रोध का,
धर्मों वर्गों के विरोध का, रीति नीति गत
विद्रोहों का—एक मात्र गोपन कारण है
अवचेतन का उद्वेलन, कुण्ठित तृष्णाएँ,
रुद्ध अतृप्त पिपासाएँ वासना गुहा की !

रागात्मक सन्तुलन नहीं आयेगा जब तक
प्राणों के जीवन में, तब तक मानव जग में
नैतिकता के मुख से गुण्ठन नहीं हटेगा !
धर्मों के सिंहासन में भूकम्प रहेगा !
सामाजिक सम्बन्ध सजीव न हो पायेंगे,
धरती के अंगों का कर्दम धुल न सकेगा !
बौना, नाटा, ठिगना, कुबड़ा मानव जीवन
लँगड़ायेगा भूपर, दबकर पाप भार से !

(राजनीतिज्ञ का प्रवेश)

राजनीतिज्ञ

शान्ति, शान्ति ! मैं धरती के निर्वासित जन को
फिर स्थापित करने आया हूँ, पुनर्वास दे !
प्रथम भूख है, काम नहीं : मैं उदर क्षुधा से
पीड़ित जीवन कंकालों को अर्थशास्त्र का
लोकतन्त्र मय संजीवन देने आया हूँ !

एक स्वर

नेता हैं क्या आप ?

राजनीतिज्ञ

मात्र जन सेवक हूँ मैं !
मेरे पास अनेक नयी योजना बनी हैं,
कार्य रूप में जिनको परिणत - भर करना है !
अन्न, वस्त्र, आवास,—कमी है यद्यपि इनकी,
मनु के सुत को किन्तु सदा धीरज धरना है !
वैसे कागज की हैं बनीं अनेक योजना !

कुछ स्वर

हमें ज्ञात है, हमें ज्ञात, तुम बहुमत से नित
चलते, अपना नहीं कभी रखते कोई मत;
परिवेशों के सतत बदलते मूल्यों पर ही
अवलम्बित रहते, अपने हैं मान न मौलिक :
नित्य परिस्थितियों की ही चेतना तुम्हारी
अपनी भी चेतना रही, तुमको बाहर का
कार्य भार है घोर,—स्वतः चेतना शून्य तुम

भीतर से बस सूने, कोरे अभिनेता हो !

कुछ स्वर

हम उन्मूलित हैं, उच्छेदित इस जगती के,
निज स्वजनों से दूर, परिजनों से चिर वंचित !
नष्ट हो गया सब विनाश के भृकुटि पात से,
हम खँडहर हैं महाध्वंस के, भीषण पंजर !
खेत बाग, घर आँगन, दारा सुत, स्त्री सम्पद
आँखों के सन्मुख फिरते छायाभासों-से;
दुःस्वप्नों से प्रेत ग्रस्त, हम घोर जागती
निद्रा हैं, जो टूट-टूट जाती फिर भय से !
कुचल रही हैं वज्र हृदय को निर्दयता से
दुःस्मृति की दारुण छायाएँ, कटु प्रहार कर !

कुछ स्वर

क्या होगा अब, क्या होगा ?···अह, उस मिट्टी का,
उन ईंटों का ? कहाँ खो गया दृढ़ घनत्व वह,
ठोस रूप वह ?—जो झंझा झड़, लू अन्धड़ में
अविचल रहता था, अब सहसा पिघल गया क्यों ?
रिक्त वाष्प बनकर उड़ गया अचानक कैसे ?
रूप रेख आकृति सब ओझल कहाँ हो गयीं ?
क्यों सूना, खोखला हो गया जग क्षण-भर में !
दुःस्मृति है केवल···हम भी अपनी दुःस्मृति हैं !!

युवक

एक ओर मानव मन, जीवन सीमाओं को
अतिक्रम कर, उत्सुक है नव चेतना स्वर्ग में
आरोहण के हित : अभिनव आनन्द मधुरिमा
ज्योति प्रीति का मंगल धाम बनाने भू को :
और दूसरी ओर धरा के अन्ध गर्भ से
निश्चेतन की क्रूर शक्तियों की कल्लोलें
मृत्यु नृत्य कर जीवन शोभा के प्रांगण में
मग्न कर रहीं जन धरणी को महाध्वंस में,
घृणा द्वेष, हिंसा स्पर्धा के रक्त पंक में !
घोर विरोधी प्रतिस्पर्धी बन अडिग खड़े हैं
पुनः स्वर्ग पाताल, परीक्षा हित मनुष्य की !
मानवता पिस रही युगल निर्मम पाटों में,
स्वर्ग नरक पर जय पानी होगी मनुष्य को !

कुछ स्वर

हम फिर से घर द्वार बसायेंगे जन-भू पर,
हम मानव परिवार बढ़ायेंगे जन-भू पर !
मृत्यु ज्वार पर चढ़कर फैल समस्त धरा में,
नव जीवन संचार करायेंगे हम भू पर !

एक वृत्त हो रहा समापन जग जीवन का
हम फिर नव संसार बनायेंगे जन भू पर !
कलह क्रोध, ईर्ष्या स्पर्धा का गरल पान कर,
हम जीवन का भार बँटायेंगे जन-भू पर !
आधि व्याधि का, रोग शोक का, दैन्य जरा का
हम फिर से उपचार करायेंगे जन-भू पर !
उजड़ गया जो फिर उसको आबाद कर नया,
हम नव जीवन ज्वार उठायेंगे जन-भू पर !

कुछ स्वर

चुप हो जाओ, चुप हो जाओ ! ···छायाएं हैं
चली आ रहीं, दल बाँधे,—जीते मनुजों की
भीड़ चीरतीं ! छिन्न-भिन्न अवयव हैं उनके,
टूटे हाथ - पैर, हिलते हड्डी के ढाँचे,—
माया ममता और अधूरी तृष्णाओं का
बोझ पीठ पर लादे वे सब भटक रही हैं
अन्धकार में राह टोह, लोहू से लथपथ,
तार - तार जीवन छायाएँ,—बुड्ढे, बच्चे
नौजवान,···सब दल पर दल हैं चले आ रहे !

लँगड़ातीं, गिरती - पड़तीं, कँपतीं छायाएँ
अंगों को छटपटा रहीं दुख की आँधी में;
टपक रहे हैं घाव, खौलता रुधिर बह रहा,
जीवन की इच्छाओं से, सपनों से लोहित···
मा-बहनें हैं, मा-बहनें वे,···जो पीड़ा से
चीख रहीं ! ···दुख की कराह से कान फट रहे,
धरती की गूंगी पुकार से हृदय छिद रहा !
बहरा है आकाश ! दिशा भी बहरी हैं क्या !
बहरा क्या हो गया विश्व ! ···यह असहनीय है ! !

युवती

अह, कराह से कान फट रहे, हृदय छिद रहा,
भाले की-सी तीव्र नोक से मर्म बिंध रहा !

युवक

हाय, निखिल सभ्यता और भू जीवन की ही
गाथा है शोणित से पंकिल, हृदय विदारक !
विस्थापित हैं हम सब, भूले विस्थापित हैं,
छूट गया कब कहाँ न जाने देश हमारा,
हम धरती पर विस्थापित हैं, निर्वासित हैं !
यहाँ खोजने आये सब उस स्वर्ण धरा को,
यहाँ मिटाने आये हम भय रोग जरा को !
लहरों पर लहरें उठतीं धरती के तम की,
तह पर तह खुलता जाता नभ का प्रकाश है !

पुनः उतर आया मैं धरती की खाई में
अंजलि-सी जो बनी ज्योति को संचित करने :
पुनः उतर आया मैं प्राणों की घाटी में
आकुल है जो अग्नि बीज गर्भित होने को !

सुखव्रत

स्वागत है, स्वागत है !

युवती

सुनने दो, सुनने दो !

युवक

अन्तस् ही में नहीं, बाह्य से बाह्य क्षेत्र में
मैं अनुभव कर सकूँ अनिर्वचनीय सत्य के
अमृत स्पर्श का : जन-मन के भावों के स्तर पर,
जीवन की प्रत्येक दिशा, प्रत्येक रूप में !
मैं अतिक्रम कर सकूँ बाह्य भीतर के अन्तर,
यही प्रार्थना है अन्तर्यामी से मेरी !

सुखव्रत

भाव प्रवण उर का यह नूतन परिच्छेद है !

युवक

इस घाटी में, अपनी ही छाया के पीछे
भटक रहे जन : छोटे मन के छोटे - मोटे
स्वार्थों में अनुरक्त : परस्पर की स्पर्धा से
उन्नति में रत : एक - दूसरे के परिभव से
जीवन सक्षम : इसीलिए कुण्ठित मानव मन
जीवन विमुख, विरक्त, तिक्त हो उठता जग में !
यहाँ बरसता नहीं स्नेह हर्षित नयनों से,
सहज समव्यथा छलक नहीं उठती हृदयों में,
इस घाटी के रहन - सहन में श्री शोभा का
घोर अभाव खटकता मन को : मानव उर में,
यहाँ अभी तक प्रेम नहीं हो सका प्रतिष्ठित
मानव के प्रति, आदर जीवन गौरव के प्रति !
रिक्त प्रतिष्ठा भार झुकाये हुए रीढ़ को !!
भर-भर उठता हृदय घृणा, थोथे विराग से
श्रान्त क्लान्त अनचाहा मानव जब घर-घर में
सुनता नित्य कलंक कथा, कुत्सा, पर निन्दा !

युवती

यही रूप है आज धरा की वास्तवता का !

युवक

साधक अब मैं नहीं,—नम्र आराधक-भर हूँ !
साधक मेरे पूजनीय हैं, ऊर्ध्वारोही,—

समतल गामी जगत प्रणत है जिनके पद पर !

ऊर्ध्व शुभ्र, एकाग्र शिखर पर खड़े चिरन्तन
देख रहे हैं जग के स्वामी भू के उर्वर
इस बहुमुख फैले प्रसार में, सतजल कल्पित !
अपनी ही आनन्द तरंगित रहस प्रकृति को
फूलों की चोली पहने, लहरा हरितांचल,
चूर्ण नील कुन्तल छहरा दिक् सौरभ विश्लथ,
घुटनों के बल बैठ, उच्छ्वसित हृदय सिन्धु ले,
अपलक आयत दृग जो देख रही ऊपर को
अमृत प्रीति वरदान हेतु जीवन साथी से—

'अपने मन्थर दिग् विस्तृत आवर्त शिखर में
धूम असीप छटा में अथक अनन्त काल तक,
फिर - फिर तन्मय होती निज अन्त:प्रकाश में
प्राप्त करूँ चैतन्य अमर मैं ज्योति शक्तिमय !
ऊपर से नीचे अपार शोभा सुन्दरता
हर्ष प्रीति की आभाएँ नित रहें बरसतीं—
अन्न प्राण मन के त्रिदलों को विकसित करतीं !

युवती

कैसी उच्च विराट् कल्पना है धरती की !

युवक

आराधक बन सकूँ प्रणत मैं दिव्य ज्योति का,
जो इस मृण्मय धरा दीप की अमर शिखा है,
जिसकी करुणा किरणों के अन्त:स्पर्शों से
इस द्रोणी का तम स्वप्नों में दीपित होता !
हम सब विस्थापित हैं : हम सब उत्थापित हैं !
पुन: बसायेंगे हम धरती की घाटी को,
नव स्वप्नों के स्रष्टा, नव जीवन शिल्पी बन,
मानवीय शोभा गरिमा, आनन्द मधुरिमा
ज्योति प्रीति का स्वर्ग बना जन मंगल भू को !

युवती

मैं भी हाथ बटाऊँगी इस लोक कार्य के
आयोजन में साथ आपके, श्रद्धानत हो !
मेरा मन सन्देह रहित हो गया आज चिर
आश्वासित हो !···ऊपर है प्रकाश का द्योतक,
नीचे निस्तल अन्धकार का ! निचले मन के
आवेगों को हमें संगठित करना होगा
ऊर्ध्वज्योति में !···संयम ही वास्तविक मुक्ति है !
प्राणों का सन्तुलन मुक्ति है मानव मन की,
ऊर्ध्व चेतना का जो क्रीड़ा स्थल है उज्ज्वल !

युवक

यही मर्म है, मैं कृतज्ञ हूँ !

सुखव्रत

प्रवंचना है,
यह प्रवंचना···खूब मनोहर छलना निकली
तुम मायामयि, अवचेतन की मोहक तृष्णा···

युवती

मनुज स्वयं अपने मन को छलता रहता है,
मुक्त हो गया मेरा मन अब उस छलना से !

सुखव्रत

मुक्ति नहीं है आत्म पलायन, मधुर मृत्यु है !
जाता हूँ मैं, घोर पलायन के प्रमाद से
मानव मन को सद्य मुक्त करने का व्रत ले !

(प्रस्थान)

युवक

आज नयी मानवता के शुचि प्राण सूत्र में
नर नारी का हृदय बँध रहा लोक कर्म हित
मिलन शान्ति स्मित, विरह अकातर, प्रीति समर्पित
नयी चेतना से स्पन्दित, सद्भाव संगठित !

आओ, हम दोनों मिल, प्राणों की घाटी में
विस्थापित मानव का फिर घर-द्वार बसायें,
शुभ्र रजत शिखरों की ऊर्ध्वग दिव्य शान्ति ले,
अम्बर की व्यापकता, सागर की गभीरता,
गिरियों का चिर धैर्य, अथक सरिता की गति ले
भू जीवन के उत्पादन नव आज जुटायें,
आओ, हम नव मानव का घर-द्वार बसायें !

नव वसन्त शोभा से, स्वच्छ शरद सुषमा से
फूलो के मारल्य, युक्त तृण - तृण के बल से,
हम सुन्दर स्वप्नों का जीवन नीड़ बनायें,
आओ, हम नव का मानव घर-द्वार बसायें !

भ्रातृ भावना, विश्व प्रेम से भी गभीरतम
प्रीति पाश में बाँधे हम नव मानवता को,
जिसका दृढ़ आधार एकता हो आत्मा की,
जिसकी शाश्वत नींव चेतना की उज्ज्वलता
मनुज प्रेम के लिए मात्र हो मनुज प्रेम वह,
जग को नव संस्कृति का स्वर्णिम द्वार दिखायें,
आओ, हम नव मानव का घर-द्वार बसायें !

युवती

आज दौड़ता भूमि कम्प जन - मन धरणी में,
कैसे हम नव आशा, नव विश्वास बँधायें ?
गरज रहा भीषण अणु दानव विश्व गगन में
मृत्यु अंक में कैसे हम अमरत्व जगायें !
क्षुधा दैन्य का भार ढो रहे जब असंख्य जन
कैसे भू को जीवन शोभा में लिपटायें ?
आदर्शों से विरत आज स्वार्थों में रत जग,
कैसे स्वर्णिम मनुष्यत्व की ज्योति दिखायें ?
कैसे हम नव मानव का घर - द्वार बसायें !

युवक

यह सच है, नव मनुष्यत्व के निर्जन पथ में
बाधा विघ्नों के दुराग्रही शृंग अड़े हैं
स्थापित स्वार्थों से जकड़े,—जो पूर्व पक्ष है;
उत्तर पक्ष क्षितिज से इंगित करता ज्योतित
मानव भावी के स्वर्णोदय में दिक् प्रहसित !

आओ, हम अन्तः प्रतीति को धर्म बनायें,
आओ, हम निष्काम कर्म को वर्म बनायें,
हम आत्मा की अमर प्रीति के धरा स्वर्ग में
सब मिलकर जीवन स्वप्नों का नीड़ सजायें;
आओ, हम नव मानव का घर - द्वार बसायें !

युवती

आज बहुत ही बड़ा चाँद आया है नभ में,
अन्तर का खुल गया रुपहला हो वातायन,—
मौन क्षितिज से, शुभ्र हास्य बरसाते भू पर
रजत शिखर, मानव आत्मा की गरिमा-से उठ !
आज प्रार्थना के हित आकुल स्वप्नों का मन !

(समवेत प्रार्थनागीत)

धरा शिखर हे,
अन्तर के ज्योति ज्वार
अजर अमर हे !

ध्यान मौन, उर्ध्वप्राण,
तदाकार पूर्ण ज्ञान,
श्रद्धारोहण समान
शुभ्र सुघर हे !

शान्त क्लेश हों अशेष,
शान्त निखिल राग द्वेष,
भाषा हो भाव वेश
सुन्दरतर हे !

विकसित हो जन अन्तर,
कसुमित जन - भू के घर,
भोगें नव जीवन वर
नारी नर हे!

ऊर्ध्व गगन उठा निखर,
चन्द्र किरण रहीं उतर
स्वप्न पंख रहे विचर
स्मित नभचर हे!

(२५ जून, १९५१)

फूलों का देश

फूलों का देश सांस्कृतिक चेतना का धरातल है। प्रस्तुत काव्य रूपक में इस युग के अध्यात्मवाद भौतिकवाद तथा आदर्शवाद वस्तुवाद सम्बन्धी संघर्ष को अभिव्यक्ति देकर उनमें व्यापक समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की गयी है एवं विश्व जीवन में बहिरन्तर सन्तुलन तथा परिपूर्णता लाने के लिए दोनों की ही उपयोगिता दिखायी गयी है।

स्त्री पुरुष स्वर
कलाकार
वैज्ञानिक
विद्रोही जन

(नव वसन्त सूचक वाद्य संगीत)

पुरुष स्वर

यह फूलों का देश, ज्योति मानस का रूपक :
जहाँ विचरते अन्तर्द्रष्टा कलाकार, कवि
निभृत कल्पना पथ से नित, भावोन्मेषित हो !
यहाँ प्रेरणाओं की स्मित अप्सरियाँ उड़कर
बरसातीं आभा पंखड़ियाँ शत रंगों की,
स्वप्नों से गुंजरित : यहाँ स्वर्णिम भृंगों की
रजत घण्टियाँ बज उठतीं हर्षातिरेक से—
देवों का संगीत अमर वाहित कर भू पर !
यहाँ काँपती-छायाएँ, शोभा वसनों-सी,
गोपन मर्मर ध्वनि भरतीं मानस श्रवणों में,—
भावी की अश्रुत चापों-सी आकृति धरतीं !

स्त्री स्वर

यहाँ प्राण पुलिनों को भावों से स्पन्दित कर
जीवन की आकांक्षा बहती कल-कल ध्वनि में;
प्रीतिश्वास-सी समुच्छ्वसित रहती मलयानिल
नाम हीन सौरभ से आकुल कर अन्तर को !
यह मोहित अभिसार भूमि है गन्धर्वों की,
जहाँ दूर वास्तविक जगत के कोलाहल से
स्वर्णिम द्वाभा में रचती है सृजन कल्पना
सूक्ष्म विश्व मानव भावी का सतरँग कल्पित !
यहाँ गूँजता रहता है संगीत अहर्निशि,
भाव प्रवण मानस द्रव्यों से प्रवहमान हो !

(वाद्य संगीत : समवेत गान)

यह फूलों का देश !
यहाँ निरन्तर जीवन शोभा
सजती नव-नव वेश !

यहाँ लोटते इन्द्रचाप शत

हँसते अपलक स्वप्न मनोरथ
यहाँ झूलता रश्मि दोल में
मानस का उन्मेष !

झरते स्वर्णिम निर्झर कलकल
भरते प्राणों में स्वर कोयल,
सुन्दरता को देती स्वर्गिक—
प्रीति हर्ष सन्देश !

यहाँ गूंजते अहरह दिशिपल
बरसा करता जीवन मंगल,
सृजन चेतना की यह स्वप्निल
लीला भूमि अशेष !

(तानपूरे के स्वर)

पुरुष स्वर

यहाँ विजन छाया वन में रहता एकाकी
एक स्वप्न द्रष्टा कवि, तरुण अरुण-सा सुन्दर,
लता प्रता से मण्डित कुसुमित पर्ण कुटी में !

जीवन का संघर्ष, करुण क्रन्दन, चीत्कारें
उसके भाव जगत को छूकर मर्म गीत में
परिणत हो जातीं, युग जीवन के स्वप्नों की
शोभा से वेष्टित हो, नव सन्तुलन ग्रहण कर !
खोजा करता वह विनाश के महाध्वंस में
नवल सृजन की स्वर संगति, उड़ते मेघों के
त्रस्त जाल में घिरती तिरती शशि रेखा-सी !
भावोद्वेलित वक्ष, खड़ा तृण कक्ष द्वार पर,
सोच रहा वह स्वगत, गन्ध गुंजित मधुकर-सा—

(स्वप्नवाहक वाद्य संगीत)

कवि

यह छाया का देश, कल्पना का क्रीड़ा स्थल,
वस्तु जगत अपना घनत्व खोकर इस जग में
सूक्ष्म रूप धारण कर लेता, भाव द्रवित हो !
जीवन के संघर्षों की प्रतिध्वनियाँ उठकर
यहाँ बदलती रहतीं उर संगीत में विकल !
इस मानस भू पर निःस्वर चलते नित सुरगण
स्वप्नों के धर चरण चिह्न आशाऽकांक्षा स्मित !

यहाँ बिछातीं शत-शत रंगों की ज्वालाएँ
अपलक इन्द्र जाल शोभा का, जन - मन मोहन :
सुन पड़तीं अप्सरियों की पदचाप रुपहली
कँपती-छायाओं के पुलकित दूर्वांचल में—
आँखमिचौनी खेला करतीं जो जीवन से !

बड़ी - बड़ी चट्टान यहाँ धरती की आदिम
चुप्पी-सी दम साधे नीरव चिन्तन करतीं :
अर्धरात्रि में झिल्ली तरु कोटर में झन - झन
स्वर भर, सूनापन विदीर्ण करती वन भू का,
घोर गुहच आकांक्षा-सी। जग निश्चेतन की !
यहाँ भयानकता सुन्दरता प्रीति पाश में
बँधकर करतीं क्षण उपहास नियति का निर्मम !

(गम्भीर प्रसन्न वाद्य संगीत)

कवि

शान्त, सौम्य, सोयी वन श्री अब जाग रही है
नव प्रभात के स्पर्शों से स्वर्णिम चेतन हो,
बरस रहा नीड़ों से कलरव सृष्टि गान-सा,
सिहर रहे पत्ते थर्-थर्, सुख से विभोर हो !
गन्धपवन में धरती भीनी साँस ले रही,
जाग रहीं वन छायाएँ अँगड़ाई भरतीं !
तरुण मधुप, षट्पद से हटा पँखुरियों के पट
अर्धस्मित कलियों के मृदु मुख चुम्बन करते ?

यह प्रभात भी संसृति का आश्चर्य है महत्,
मौन प्रार्थना-सा, पवित्र आशीर्वाद-सा !
विस्मित कर देता जो भू मानस पलकों को
दिव्य स्वप्न-सा, अमर स्वर्ग सन्देश-सा उतर !
धरती का जीवन सहसा निज ज्योति केन्द्र से
पुनः युक्त होकर, हो उठता पूर्ण काम है !

यह फूलों का देश आज फिर धन्य हो उठा,
वाहित करता जो धरती की ओर निरन्तर
देवों का ऐश्वर्य अतुल,—शोभा सुन्दरता,
ज्योति प्रीति आनन्द अलौकिक स्वर्ग लोक का !

जाग रही हैं सुप्त प्रेरणाएँ मानस में,
यह अन्तर्नभ का प्रभात है जन मंगलकर !
तरु पत्रों के अन्तराल से छन नव किरणें
लोट रहीं भू रज पर ज्योति प्ररोहों-सी हँस !

(हर्ष वाद्य संगीत)

युग प्रभात यह : एक वृत्त हो रहा समापन
धरा चेतना में संस्कृति का आज पुरातन !
नव युग की प्राणों की आशा अभिलाषाएँ
मर्म मधुर संगीत लहरियों में मुखरित हो
गूंज रही हैं, छाया वन के नव मुकुलों को
घेर चतुर्दिक् ! सद्यः स्फुट कुसुमों के मुख पर
विहँस रहे हैं स्वर्णिम ओसों के मुक्ता कण,

स्वप्नों की पद चापों से कँप उठता भूतल!
देख रहा मैं मनश्चक्ष से, ताल में ध्वनित,
अगणित निर्भय चरण क्षितिज की ओर बढ़ रहे!

(वाद्य संगीत : दूर से आता हुआ नर-नारियों का समवेत गान)

युग प्रभात,
रक्त स्नात, युग प्रभात!

अन्धकार गया हार
मानस का हटा भार,
मुक्त पन्थ, मुक्त द्वार
गयी रात!

सागर में बाँध सेतु
अम्बर में उड़ा केतु
मानव की विजय हेतु
बढ़ो तात, बढ़ो भ्रात!

पर्वत के गिरें शिखर
मरुथल हों नव उर्वर,
विघ्नों पर, रहो निडर,
करो घात, करो घात!
करो घात!

(नर-नारियों का प्रवेश)

स्त्री स्वर

कौन, कौन तुम, अरुण, वसन्त, मदन-से सुन्दर
पत्रों के प्रच्छाय नीड़ में यहाँ छिपे हो
पक्षी-से एकाकी? नगरों से, वासों से
दूर, सभ्यता के केन्द्रों से विरत, विमुख हो
युग जीवन संघर्षण से, जन आकर्षण से?

कवि

अरुण वसन्त मदन-सा! पक्षी-सा एकाकी?
कलाकार हूँ मैं, पर जीवन संघर्षण से
विरत नहीं हूँ!…देखो, मेरी स्वप्न निमीलित
आँखों में भावी का स्वर्णिम बिम्ब पड़ा है!

पुरुष स्वर

(साश्चर्य) भावी का प्रतिबिम्ब?

कवि

स्वर्ग की वेणी से मैं
इन्द्रधनुष को छीन, धरा के तिमिर पाश में
उसे गूँथ जाऊँगा,—देवों की विभूति से
मनुष्यत्व का पद्म खिला जीवन कर्दम में!

ताराग्रों के छायातप से रँग-रँगकर मैं
जन-भू का उपचेतन, रज की पंखड़ियों को
अन्तः सुरभित कर जाऊँगा, नन्दन वन के
फूलों की शाश्वत स्मिति-भर मृण्मय अधरों में...
मैं नव मानवता की प्रतिमा यहाँ गढ़ रहा
अन्तर्मन के सूक्ष्म द्रव्य से !

जनगण

हः हः हः हः !!

कवि

मैं विराट् जीवन का प्रतिनिधि हूँ ! मैं वन के
मर्मर से, युग के जनरव से चिर परिचित हूँ !
भौंरों का मधु गुंजन, कोयल का कल कूजन
मेरे ही स्वर हैं ! स्वर्णातप मेरी स्मिति है !
मेरे उर के स्वप्न तितलियों की फुहार-से
रँग-रँग की शोभा बखेरते जन मानस में !
ऊषा, ज्योत्स्ना, ओस और तारे मेरा ही
चिर सन्देश वहन करते ! पर्वत निर्झर-से
मेरे गायन फूट, दग्ध युग मन के मरु में
प्राणों का कलरव, जीवन हरियाली भरते !
धरा स्वर्ग को स्वप्न सेतु में बाँध सुनहले
मैं सोपान बना जाऊँगा सुर नर मोहन !

प्रथम स्वर

खूब अहंता का ऐश्वर्य मिला है तुमको !

द्वितीय स्वर

आत्म वंचना का उन्माद पिये हो मादक !

प्रथम स्वर

कलाकार हो, तभी हवा में महल बनाते !
रिक्त स्वर्ग में रहते आत्म पलायन के हो !

कवि

तुम जो अस्त्रों - शस्त्रों से सज्जित सेना ले,
विजय ध्वजा ऊँची कर, चलते संख्याग्रों में,
तुम भी मेरा कार्य कर रहे ! ...धरा धूलि में
जो जीवन तृष्णा, भुजंग, सी शत फन फैला
लोट रही है नीचे, मैं ऊपर से उसकी
शोभा रेखाएँ अंकित करता तटस्थ हो,
व्यापक युग पट में सँवारकर : उसकी घातक
विष की फुंकारों को पीकर, मर्माहत हो,
हृदय दाह में जलता प्रतिपल, मैं उस पर हूँ
बरसाता चेतना अमृत निज, तिक्त घृणा को

मधुर प्रीति में, कटु तमिस्र को उर प्रकाश में
आत्म विद्रवित कर ! केवल स्वर शब्दों की ही
रिक्त साधना मात्र नहीं होती युग कवि की,
उसे साम्य संगति, सार्थकता भरनी होती
जीवन विशृंखलता में, सौन्दर्य खोजकर,
मानस कमल खिला कर्दम में !

प्रथम स्वर

बहुत हुआ बस !

रहन दो यह वाक् चपलता ! वह शोभा की
सीमा लाँघ चुकी है ! मृगतृष्णा के पूजक,
तुम अपने को जीवन का प्रतिनिधि बतलाते ?
और विधाता बन बैठे हो मनुज नियति के !

द्वितीय स्वर

हम हैं भावी के निर्माता, मानवता के
जीवन शिल्पी, भू के जनगण, जो युग-युग की
लौह शृंखला तोड़, वज्र संगठित हुए हैं !
बन्धन मुक्त, नयी जन मानवता के रक्षक !

हम वन पर्वत, सागर मरुथल में मानव की
विजय ध्वजा फहरायेंगे ! इस वन प्रान्तर में
जहाँ बनैले पशुओं की हैं गुहा, वहाँ हम
सेना शिविर बनायेंगे निज, जहाँ खगों के
नीड़ मात्र हैं, वहाँ जनों के वास बनेंगे !
हमको सामूहिक जीवन की आवश्यकता
समतल मनुज बनाने को है बाध्य कर रही !
तभी तुम्हारे-से आदिम जन, युग जीवन के
नव स्पर्शों से विकसित, संस्कृत हो पायेंगे !

कवि

निःसंशय, आदिम हूँ मैं !

कुछ स्वर

(दर्प से) हम चिर नवीन हैं !

स्त्री स्वर

नहीं, नहीं,—परिहास कर रहे हो तुम हमसे !
तुम कवि हो, तुम कलाकार हो ! तुम युग-युग के
अभिशापित, शोषित जनगण के साथ रहोगे !
युग संकट में उद्बोधन के गान छेड़कर
तुम जनता को साहस दोगे, सम्बल दोगे !

कवि

अगर साथ रहने देंगे जनगण के नायक !!

स्त्री स्वर

देखो, तुम देखो इन हड्डी के ढाँचों को—

एक स्वर

वज्र बन चुके हैं दधीचियों के ये पंजर !

स्त्री स्वर

देखो, नग्न क्षुधित मनुष्यता की छलना को,
रक्त क्षीण, निष्ठुर विषण्णता को जीवन की ! !
वर्तमान का भीषण उत्पीड़न है इनको
निर्ममता से कुचल रहा ! यदि एक बार तुम
आँख खोलकर इन्हें देख लोगे जो सचमुच,
करुणा से विगलित उर हो, मर्माहत हो तुम
सहम उठोगे, हे फूलों के जग के वासी !

एक स्वर

और क्रोध से पागल हो जाओगे शायद
आदर्शों के मूर्ति - पूजकों के इन कुत्सित
दुष्कर्मों को देख, घृणा से आँख फेरकर !
मृत प्रतिमाओं के पूजक जीवित जनता के
पूजक कभी नहीं हो सकते,—जीवन्मृत जो !

कवि

देख रहा हूँ, मैं लज्जा से गड़ा जा रहा !
कब से मेरे मन की आँखों के सम्मुख उठ
नाच रही हैं छायाएँ संक्रान्ति काल की !
मूढ़ों के कंकाल खड़े चीत्कार कर रहे,
अवचेतन के प्रेत भर रहे अट्टहास हैं !
क्रूर, ह्रास-युग के लोभी असुरों से पीड़ित
मानवता कातर वन रोदन छोड़, एक हो,
आज क्रुद्ध ललकार रही, हुंकार भर रही !

(तुमुल वाद्य संगीत : समवेत गान)

भूत के कंकाल हैं हम,
क्रुद्ध रुद्ध कराल हैं हम !
कण्ठ से लिपटे त्रिशूली के
भयंकर व्याल हैं हम !

मनुजता के प्रेत हैं हम
आज सब समवेत हैं हम,
बीज हैं हम, खेत हैं हम,
शक्ति अमिट विशाल हैं हम !

खड्ग हैं हम, ढाल हैं हम,
ज्वार से उत्ताल हैं हम,

रुद्र की दृग ज्वार हैं हम
धरणि की जयमाल हैं हम !

कुछ स्वर

मिथ्या है, सब मिथ्या जग में आज चतुर्दिक्,
केवल सत्य मनुज के उर की घोर घृणा है !
मिथ्या नैतिकता, मिथ्या आदर्श हैं सकल,
जन पीड़न शोषण के हित जो उद्धृत होते !
केवल सत्य विषमताएँ हैं, प्रतिहिंसा है,
केवल सत्य अतृप्त पिपासा है, तृष्णा है !!

उबल रहा है द्वेष गरल से जन-गण का मन,
भभक रहा है क्रोध अग्नि से मानव अन्तर,
फटने को है आज विकट ज्वाला का पर्वत,
थूकेगा वह, उगलेगा दाहक लपटों को,
और जला देगा छल झूठ कपट के जग को,
मानव उर की निर्ममता को, नृशंसता को,—
भस्मसात् कर देगा जग के दुःस्वप्नों को !

(विवर्तन संगीत)

कुछ स्वर

छायाएँ हैं, छायाएँ आदर्श भयानक,
छायाओं को कुचलेंगे हम, आभासों को
रौंदेंगे पाँवों के नीचे, युग-युग के मृत
संस्कारों को खोद, मिटा देंगे जन-मन से !

(उत्तेजना-द्योतक संगीत)

कवि

इसीलिए तुमने सम्मानित जीवन श्रम को
छोड़, अहेरी जीवन फिर स्वीकार किया है !—
देख रहा हूँ, आज संगठित मन युग-युग का
सामूहिक जन बर्बरता में बिखर रहा है,
आदर्शों के स्वर्ग विचुम्बी शिखर टूटकर
भू लुण्ठित हो रहे विवर्तन की आँधी में,
और नाश के घने अँधेरे के उतने ही
गहरे गर्तों में गिर, धरती के अन्तर को
क्षत विक्षत कर रहे, चूर्ण हो !

जीवन की वे
पावन, मोहित, निभृत घाटियाँ, जो चिर करुणा,
ममता के स्वर्णिम प्रकाश से भरी हुई थीं,
जहाँ सभ्यता का क्रन्दन न पहुँच पाया था,
पद मर्दित हो रहीं आज वे अविश्वास के
प्रतिहिंसा के दैत्यों के निर्मम चरणों से !!

मानव की निर्दयता उनके भीतर घुसकर
बोल रही तोपों के मुख से विकट नाद कर ! !
भले-बुरे, काले सफेद औ' सत्य झूठ के
सभी मान इस सतत बढ़ रही अँधियाली के
प्रलय ज्वार में डूब रहे हैं किमाकार हो !

(विप्लवसूचक वाद्य संगीत)

एकाकार हुए जाते हैं पाप पुण्य सब,—
मानव के अन्तरव्यापी घन अन्धकार से
घृणा द्वेष, अन्याय कपट, छल स्पर्धा हिंसा
आज पुकार रहे चिल्लाकर—बाह्य संगठन
मात्र सत्य है ! बाह्य संगठन चरम लक्ष्य है !
बाह्य आसुरी एका ही सब कुछ है जग में,
अन्तर्जगत, हृदय का एका,—केवल भ्रम है !
अन्तर्मुख संगठन पलायन, बहलावा है !
संस्कृति ? वर्गों के हित साधन की दासी है !
युग अपनी मुट्ठी में अणु संहार लिये है !!

विज्ञापन करता विनाश भीषण शब्दों में !
हिल-हिल उठते आज चेतना भुवन मनुज की
भावी की आशंका से ! आह, आज मनुज का
आत्म प्रतारक द्वेष बन गया विश्व विनाशक !!

कुछ स्वर

कायर हो तुम कायर ! जो उपदेश दे रहे
नंगे - भूखे लोगों को अध्यात्मवाद का !
कलाकार तुम नहीं, तुम्हारे दुर्बल उर में
वज्र घोष विद्रोह नहीं युग की प्रतिभा का !

खौल न उठता रक्त तुम्हारा घृणा क्रोध से
शोषित पीड़ित मानवता की नग्न व्यथा पर !
दया द्रवित भी नहीं दिखायी देते हो तुम !!
जग जीवन से विरत, निरत फूलों के वन में,
स्वप्न लोक में रहते हो तुम आत्मतोष के !

साथ नहीं दोगे तुम जन का युग संकट में
रिक्त कला, सुन्दरता के थोथे आराधक !!
धिक् तुमको ! यह व्यक्ति अहं जन पथ कण्टक है!

कवि

किन्तु हाय, यह सन्ध अहं दुर्गम पर्वत है !!
भीतर भी हैं जनगण, भीतर ही जन का मन,
भीतर भी हैं सूक्ष्म परिस्थितियाँ जीवन की,
भीतर ही रे मानव, भीतर ही सच्चा जग,
जाति वर्ग श्रेणी में नहीं विभाजित है जो,

उसे नव्य संगठित, पूर्ण सक्रिय, चेतन कर
बहिर्जगत में स्थापित करना है मानव को !

कुछ स्वर

चलो, बढ़ो हे भूजन, असिधारा के पथ पर,
सागर को मथने, पर्वत का शीश झुकाने,—
विजय ध्वजा स्थापित करने देवों के सिर पर !

रौंदेंगे हम परियों की चापों से गुंजित
इस वन फूलों की घाटी को ! बिखरा देंगे
इसकी स्वप्न भरी पंखड़ियाँ धरा धूल में !
तोड़-मोड़ इसकी शोभा पल्लव शाखाएँ
लूटेंगे रस के मटकों-से भरे फलों को,
जो खगोल से, चेतन भुवनों से लटके हैं !

ध्वंस भ्रंश कर देंगे हम इस आदर्शों की
माया मोहक पंचवटी को, भटकाती जो
मानव मन को नित नव स्वर्ण मृगों के पीछे !
बहिर्जगत की लौहमुष्टि फिर अन्तर जग का
नव निर्माण करेगी जीवित आघातों से ! ...
नहीं रहेगा बाँस, बजेगी तब क्या वंशी ?
हम युग विद्रोही हैं, आज हमारी इच्छा
सत्य न्याय की उद्घोषक है ! —शेष झूठ है !

(प्रयाण संगीत)

चलो तात, बढ़ो भ्रात
गौरव के गिरे शिखर
जन भू हो नव उर्वर,
जड़ता पर, रहो निडर,
करो घात, करो घात,
करो घात !

(तानपूरे के स्वर)

कवि

धरती का निस्तल अवचेतन उमड़ रहा है
बर्बर युग के आवेशों से आन्दोलित हो,
जग जीवन की क्रूर विषमताओं में फिर से
नव युग का मांसल समत्व भरने जन वांछित,—
मानव उर की मोह दम्भ की वज्रशिला पर
शत निष्ठुर प्राकृत प्रहार कर प्रतिहिंसा के !

विस्मित हूँ मैं ! आज उपेक्षित जन धरणी का
भू विस्तृत समतल जीवन जब विहँस चतुर्दिक्
प्रथम बार पल्लवित, लोक संगठित हो रहा

भौतिक स्तर पर, दैन्य दुःख से अखिल मुक्त हो :
छूट रहा जब करुण पराभव संख्याओं का
विगत युगों की निठुर नियति से भाल पर लिखित,—

प्रथम बार जब युग-युग का भू कल्मष कर्दम
आज धुल रहा प्रणत रीढ़ जनगण के मुख से,
खड़े हो रहे जो अगणित पैरों पर फिर से
दैन्य गर्त से निकल, असंख्य भुजाएँ फैला,
अँगड़ाई भरते प्रचण्ड जीवन लपटों-से,
अग्नि शस्य-से लहरा भू पर प्राण प्ररोहित,—
ऐसे युग में एक ऊर्ध्वदिक् दिव्य संचरण
जन्म ले रहा अन्तरतम में युग मानव के,
निज अपूर्व चेतना शिखा से आलोकित कर
जीवन मन की अतल गहनताओं का वैभव,
सूक्ष्म प्रसारों की अतुलित दिग्व्यापी शोभा,—
मानव मन को ज्योति चमत्कृत कर, जीवन का
स्वर्गिक रूपान्तर कर, स्वर्णिम ऊँचाई से!
देख रहा मैं, स्वर्ग क्षितिज से उतर रही है
नव जीवन शोभा की प्रतिमा आभा देही,
नव संस्कृति की अन्तःस्मित किरणों से मण्डित,—
जो बहिरन्तर ऐक्य साम्य मानव जीवन में
पुनः प्रतिष्ठित कर देगी ऊर्ध्वग, भू व्यापक!
···किन्तु कौन तुम, मौन ज्योति विद्रवित जलद-से
चिन्तन की मुद्रा में, यहाँ खड़े हो कैसे ?
छोड़ साथियों को अपने,—किस अभिप्राय से ?

वैज्ञानिक

किस आशा से ? वैज्ञानिक हूँ मैं ! इतना ही
मेरा परिचय ! मैंने ही चंचल विद्युत् को
वाष्प रश्मि को बाँध, बनाया युग मानव की
क्रीता दासी ! मैंने अणु का गर्व चूर्ण कर
भूत प्रकृति की मूल शक्ति को किया निछावर
मानव के चरणों पर ! आज मनुज स्वामी है
सिन्धु गगन का, देशकाल का—निखिल प्रकृति का !
और अनेकों चमत्कार मैंने इस युग में
दिखलाये हैं यन्त्रों के बल से मनुष्य को,
जो पिछले युग के मन्त्रों-तन्त्रों के छल से
कहीं सत्य, विस्मयकारी हैं,—उन्हें गिनाना
आत्म प्रशंसा कहलायेगा, पातक है जो !

कवि

परिचित हूँ मैं सुहृद्, तुम्हारे अमर दान से,
व्याप्त तुम्हारी शुभ्र कीर्ति है दशों दिशा में,

रूपान्तर कर दिया मनुज जीवन का तुमने
भूत परिस्थितियों में उसकी महत् क्रान्ति कर !

किन्तु पूछता हूँ मैं तुमसे, आज मनुज क्या
स्वामी है या दास प्रकृति का ? वह विद्युत् पर
शासन करता है या विद्युत् वाष्प यन्त्र ही
अधिकृत उसे किये हैं ?—हाय, मनुज का अन्तर
चूर्ण हो रहा आज दर्प से, बहिर्जगत की
अन्ध वीथियों में शत खोकर, लक्ष्य भ्रष्ट हो !
हृदय हीन कर दिया उसे जड़ भौतिकता ने !!
आज प्रकृति की मूल शक्ति देकर, मानव को
महानाश के पथ पर तुमने छोड़ दिया है !!

वैज्ञानिक

स्यात् बदल जाती जग की कटु अर्थ व्यवस्था,
बाह्य विषमताएँ पट जातीं युग जीवन की :
स्वार्थ लोभ के पैने पंजों से मानव पशु
मानव का मुख नहीं नोचता रक्त सिक्त कर ! —
लौह अस्थि पंजर में भीषण यान्त्रिक युग के
मनुज हृदय की धड़कन पुनः सुनायी पड़ती !
क्रूर वाष्प विद्युत् के दानव मानवीय बन
शोषक से सेवक बन जाते जन समाज के !

कवि

यदि अन्तः संगठित आज हो जाता युग मन,
मनुज हृदय का परिवर्तन सार्थक हो सकता,
तो आदिम संस्कार उभड़ते नहीं धरा के,
युग जीवन का स्वर्णिम रूपान्तर हो उठता !
हिम फुहार-सी बरस सुनहली शान्ति चतुर्दिक्
शुभ्र हास्य से अभिषेकित करती भू प्रांगण,
जीवन मन के मूल्य निखिल अन्तः परिणत हो
व्यापक, उर स्पर्शी बन जाते स्वर्ग क्षितिज छू !
अन्तर् जीवन की ऊर्ध्वग महिमा से मण्डित
नव चेतन हो उठती जड़ धरणी सुर प्रहसित !

वैज्ञानिक

अगर मुक्त हो सकती रचना शक्ति जनों की
समुचित वितरण हो पाता जीवनोपाय का,
सामाजिक सन्तुलन ग्रहण कर लेता भू श्रम
बँट जाता यन्त्रों का बल आर्थिक समत्व में,—
स्वार्थ लोभ, अन्याय द्वेष स्पर्धा उठ जाते
भूव्यापी जन रक्तपात टल जाता युग का,
मानव के संयुक्त कर्म से स्वर्णिम चेतन
युग प्रभात हँस उठता भू तम को निरस्त कर !

कवि

और साथ ही अगर ऊर्ध्व चेता बन जाता
समदिक् मानव, अतिक्रम कर मन की सीमाएँ,
मिट जाते खण्डित भू जीवन के विरोध सब,
भौतिक नैतिक मान नियोजित होते युगपत् !
मानवीय सन्तुलन ग्रहण कर लेता जन युग,
यन्त्रों की जलती साँसें ठण्ढी पड़ जातीं !
मनुज चेतना के पारसमणि स्निग्ध स्पर्श से
लोहे की निर्ममता स्वर्ण द्रवित हो उठती !

नयी चेतना के प्रकाश में केन्द्रित मानव
पुनः सत्य का मुख विलोकता नये रूप से,
नयी दृष्टि मिल जाती उसको जीवन के प्रति,
मिट जाती सब विगत युगों की घृणित क्षुद्रता !
बाह्य रुद्ध बौनेपन से निज ऊपर उठकर
ऊर्ध्व-मुक्त, अन्तश्चेतन बन जाता जन-मन,
अन्तः स्थित, अन्तः स्मित हो, अन्तः कृतार्थ हो !

वैज्ञानिक

यही सोचता हूँ मैं भी अब ! आज मुझे है
महत् प्रेरणा मिली·· मनुज अन्तर्जीवी है !
स्पष्ट देखता हूँ मैं, अन्तर का विधान ही
मानव है ! अन्तः संयोजित, ऊर्ध्व समन्वित !
आज मनुज मर गया ! ···पराजित हो भीतर से
दौड़ रहा है वह बाहर, व्यक्तित्व हीनहो !
व्यक्तिहीन सामाजिकता निर्जीव ढेर है !

ढेर हो गया मानव का मन, यान्त्रिकता से
चूर्ण हो गया मनुज हृदय ! वह अब समूह है !
यन्त्रों से चालित इच्छाओं का समूह है,
घृणा, द्वेष, स्पर्धा, तृष्णाओं का समूह है !
नाटकीय कटुता, निर्ममता का समूह है,
अवचेतन की अन्ध वासना का समूह है !!

महत् व्यक्ति चाहिए आज सामूहिक युग में,—
दुर्निवार कामना किन्तु है मुक्त हो उठी,
रौंद रही जो मानव के मिथ्याभिमान को !
आज निखिल विज्ञान शक्ति मानव हाथों में
विश्व प्रलय कारिणी बन गयी, लोक विनाशक
कापालिक बन गया मनुज है, जीवन बलि प्रिय,
मानव शव का पूजक, साधक भू श्मशान का !!

कवि

यद्यपि अब भी लसरों की रुपहली पायलें
बजती छम, खेतों में हंसमुख हरियाली

सोना उगला करती है, नव मुग्धाओं की
चल चितवन से स्वर्ग झाँकता, नव शिशुओं को
घेर स्वर्ग की परियाँ मँडराती लुकछिपकर,—
किन्तु चतुर्दिक् गरज रहे युग संघर्षण में,
हिंस्र सभ्यता की हुंकारों में, जीवन की
मोहकता सब बिखर गयी है ! ···मानस सूना,
जग फीका लगता है मरुस्थल-सा निरर्थ, मृत,—
जीवन इच्छा तुच्छ, रूप चल मृग तृष्णा-सा,
आशा का इंगित निष्प्रभ, भूतल मरघट-सा !!

(आशाप्रद वाद्य संगीत)

अमृत पुत्र है पर मानव,—है व्यर्थ निराशा !
मांस पेशियाँ आज पर्वताकार खड़ी हो
भले रोकती हों अन्त: केन्द्रित प्रकाश को,
फूट पड़ेगा वह स्वर्णिम निर्झर वन उर से !

पतझर आया है यह फूलों के प्रदेश में,—
झरने दो मानस के मुरझाये वैभव को,
अरुण किसलयों से कलियों के अवगुण्ठन से
झांक रहा फिर नवल रुपहला आशा का जग !

फिर से बहिरन्तर संयोजित होगा मानव,
पुन: ज्ञान विज्ञान समन्वित होगा जीवन !
व्यक्ति समाज परस्पर अन्योन्याश्रित होकर
बढ़ते जायेंगे विकास के स्वर्णिम पथ पर !
बहिर्जगत के शिखर ज्वार पर आरोहण कर
नव्य चेतना उतरेगी किरणों से मण्डित !
सत्य अहिंसा होंगे भावी के पथ दर्शक,
विचरेगी मानवता फूलों के प्रदेश में
नव संस्कृति की श्री शोभा सौरभ से पोषित !

(हर्षसूचक वाद्य संगीत)

वैज्ञानिक

स्वप्न नहीं है यह, नि:संशय मूर्त सत्य है !
मनुज सदा अपने को अतिक्रम कर, अन्तर्मुख
आदर्शों के नित नूतन ऊर्ध्वग प्रकाश को
नवल वास्तविकता में बांधेगा जीवन की,
मानवीय होगी निश्चय वास्तविकता वही !

कवि

तुमसे यह सुनकर कृतकार्य हुआ अब जीवन !
आओ, हम दोनों बहिरन्तर के प्रतिनिधि मिल
अमृत चेतना को इस फूलों के प्रदेश की
नव युग जीवन में परिणत कर, सत्य बनायें !

(जनरव : रणवाद्य)

देखो, लौट रहे हैं जनगण श्रान्त क्लान्त मन,
शोणित पंकिल तन,—धरणी को रक्त पूत कर !
आज प्रार्थना जनश्रम मिलकर ज्योति शक्ति से
शान्ति धाम, जन मंगल ग्राम बनायें भू को !

(समवेत गीत)

मंगलमय पूर्ण काम
जन-मन का लो प्रमाण !

द्वेष रहित हो भू मन
शोभा स्मित जन जीवन.
सृजन स्वप्न भरे नयन,
कर्म जनित हो विराम !

विश्व शान्ति बने ध्येय,
श्रेय ग्रथित रहे प्रेय,
लोक ऐक्य हो अजेय,
पावन जनवास, ग्राम !

शान्त नील विश्व गगन,
शान्त हरित सिन्धु गहन
शान्त नगर पर्वत वन,
जन भू हो शान्ति धाम !

(५ मार्च, १९५१)

उत्तर शती

विंश शती का विश्व सभ्यता के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहेगा। प्रस्तुत रूपक में उसके पूर्वार्ध के संघर्ष-संग्राम का संक्षिप्त निदर्शन तथा उत्तरार्ध के आशा कल्याणप्रद क्रम-विकास की ओर संकेत किया गया है। उत्तर शती मानव जगत में नवीन स्वर्णयुग का समारम्भ कर सकेगी, इसमें सन्देह नहीं।

पुरुष स्वर
स्त्री स्वर
सन् १९५१
जनगण

(समवेत गान)

कौन कौन तुम निष्ठुर हासिनि ?
महाकाल के मुक्त वक्ष पर
नग्न नृत्य करती उन्मादिनि !

दक्षिण कर पीयूष पात्र स्मित
वाम हस्त विष ज्वाल विकम्पित,
विचर रही निर्मम अबाध तुम
विश्व विषादिनि, लोक प्रसादिनि !

टूट रहे युग - युग के बन्धन
गिरते मुकुट महल सिंहासन,
रणन झनन बज - बज उठता रण,
जय जन-मन जीवन उल्लासिनि !
सिन्धु क्षितिज अब रक्त तरंगित
अरुणोदय होने को निश्चित,
जय, विनाश के अतल गर्भ से
नव युग जीवन ज्वार विकासिनि !

(तानपूरे के स्वर)

पुरुष स्वर

विंश शती यह, अपने वज्र मुखर चरणों से
रण झंकृत कर युग के जीवन का कण्टक पथ,
दिग् घोषित करती है अपना महिम आगमन
शत-शत तोपों के गर्जन से अभिनन्दित हो !

(तुमुल वाद्य ध्वनि)

बोऽर युद्ध के साथ धरा जन के जीवन में
कर प्रवेश, भर दारुण क्रन्दन, भीषण गर्जन,
प्रलय बलाहक-सी छायी यह जग के नभ में
तड़ित् कटाक्षों से विदीर्ण कर विश्व दिगन्तर !

महासमर छिड़ चुके धरा पर हैं तब से दो,
रक्त तरंगित कर जन के जीवन का सागर,

रुधिर पंक से रँग धरती का आहत तन-मन,
दैन्य दुःख ईर्ष्या स्पर्धा के रक्त बीज बो !
मँडराते रण वायु यान मन्थित कर अम्बर
भीम काय दानव-से फैला मृत्यु पंख-निज,
हरित भरित धरणी के जन उर्वर अंचल में
बरसाकर पावक प्रचण्ड खर नरक कुण्ड का !
किमाकार चल पर्वत शिखरों से टकराकर
तुमुल नाद से चीर गगन की नील शान्ति को
घिरते विद्युत् घन विनाश के, युग के नभ में,
महामरण की छाया डाल धरा के मुख पर !

(करुण भीत वाद्य ध्वनि)

स्त्री स्वर

बढ़ता जाता संघर्षण पर कटु संघर्षण,
उद्वेलित वारिधि-सा विंश शती का मानस
आलोड़ित हो युग आवेशों के शिखरों में
डुबा रहा भू के तट, नव जीवन प्लावन भर !
निखर रही है नयी धरित्री युग कर्दम से
निखर रहे हैं नये देश प्राणों से मुखरित,
लोक साम्य की महत् प्रेरणा से आन्दोलित
उमड़ रही जन मानवता जीवन कल्लोलित !

(हर्षसूचक वाद्य ध्वनि)

जूझ रहे हैं लौह संगठन युग जड़ता को
बज्र मुष्टियों के प्रहार से जागृत करने,
नव शोणित से वैर-स्नात करने भू का मुख
परिवर्तित करने जग के कटु मानचित्र को !
टकराती हैं नव्य चेतना की हिल्लोलें
युग मन की निश्चेष्ट बधिर पाषाण शिला पर,
हाहाकारों से, जयघोषों से समुच्छ्वसित
विश्व क्रान्ति की ओर सतत आरोहण करतीं !

(द्रुत तीव्र वाद्य ध्वनि)

पुरुष स्वर

रक्त क्रान्ति के शोणित के सागर से उठकर
चमक रहा है लोहिताक्ष नक्षत्र नवोदित
युग के नभ में अंगारक-सा महत् महोज्ज्वल,
भूमि पुत्रवत्, मातृधरा के वैभव से स्मित,—
युग-युग के शोषित जनगण का स्वर्ग भूतिप्रद !
नव्य लोक वह, जिसके श्रेणि मुक्त समतल में
विचरण करती वर्गहीन मानवता निर्भय,
नव शोणित से स्पन्दित, नव शिक्षा से जागृत,

विगत विभेदों, घृणित निषेधों से विमुक्त मन,—
खींच धरा के प्राणों से नव युग का यौवन
निर्मित करती वह नव भू जीवन, जग संस्कृति,
अभिनव आशाऽकांक्षाओं, ध्येयों से प्रेरित !

तरुण रक्त में उसके अभी नहीं आ पाया
वयस सुलभ, अनुभूति गहन सन्तुलन ज्ञान का,
गत युग के संस्कार नहीं मिट सके मनस् के,
आवेगों की नयी धरा वह, ऊष्ण, बहिर्मुख,—
जिसे चाहिए जीवन मन्थन, अन्तर्दर्शन !

फैल रही है उसकी आभा, जग जीवन के
जाति ग्रथित तम को सतरंगों में रंजित कर,
विजयी अरुणध्वजा में फहराता प्रभात नव,
स्मित प्रकाश की किरण बिखरा जन प्रांगण में!
वहाँ सभ्यता मध्य युगों की, मध्य वर्ग की
रूढ़ि रीतियों के पाशों से मोह मुक्त हो
जीवन पट बुन रही विशद जन मानवता का
नव शोभा सुन्दरता, नव गौरव गरिमा के
स्वर्ण रजत ताने बाने से,—नव मूल्यांकित !
अभिवादन इस भव्य देश का, वृद्ध जगत के
साथ बढ़े वह, विश्व शान्ति का पोषक बनकर !

स्त्री स्वर

वयस शुभ्र हिम शिखरों के उस पार, पड़ोसी
ज्ञान वृद्ध प्राचीन चीन की महाभूमि भी
युग परिवर्तन की करवट ले, नव्य राष्ट्र में
उधर लोक संगठित हो रही, तरुण रुधिर स्मित,
नव जीवन से गुंजित, नव प्राणों से मुखरित,—
रक्त जिह्व ध्वज फहरा जन आशाऽकांक्षा का,
युग प्रभात सूचक ! जाग्रत् एशिया अब महत् !

गाते गरज-गरज जनगण इस भूमि खण्ड के
वंश प्ररोहों-से उठ भू का वक्ष चीरते,—
अग्नि शालि से लहरा जीवन की लपटों में,—
जय हो जनता की जय, जय मानवता की जय !

(जन गीत)

युग प्रभात जन लाये, जन लाये !
सिन्धु तरंगों गिरि शृंगों पर
विजये ध्वजा फहरायेऽ !

बढ़ते अगणित पग जब मग पर
उठते अगणित भुज जब ऊपर,
देते पथ मरु पर्वत सागर,
सादर शीश नवाये !

मिटा युगों का दैन्य त्रास तम
कटा निखिल मन का मोहक भ्रम
जग जीवन गौरव जन का श्रम
नव प्रकाश दिखलाये !

आज धरा श्रम सकल एक हो
मात्र दासता के बन्धन खो,
अग्नि बीज नव जीवन के बो
स्वर्ण शस्य बन छाये, लहराये !

(तानपूरे के स्वर)

स्त्री स्वर

भौगोलिक ही नहीं, सांस्कृतिक धर्म बन्धु भी
भारत का जो रहा पुरातन, अक्षय करुणा
ममता के स्वर्णिम सूत्रों में बँधा चिरन्तन :
भारत के अन्तः प्रकाश से ज्योतिर्मज्जित
जिसके शिखर गहन पथ विपणि हुए चिर पावन,
महाबोधि की प्रीति द्रवित संस्कृत वाणी से
जिसके पुर गृह द्वार रहे नित अन्तर्मुखरित,
ऐसे निज आत्मीय सखा का पुनः हृदय से
अभिवादन करते भारत जन, उससे नूतन
युग मैत्री, सद्भाव, सन्धि स्थापित करने को
समुल्लसित मन,—सुहृद् अभ्युदय के गौरव से
उन्नत मस्तक !—

बन्धन मुक्त, स्वतन्त्र,—आज वे
लोक क्रान्ति के लिए स्वतः भी जाग्रत्, उद्यत !
गौतम से गांधी तक सत्य अहिंसा का जो
रहे अमर सन्देश सुनाते क्षुधित जगत को,
मानव जीवन मन में अन्तःक्रान्ति के लिए
मौन प्रयासी, विश्व शान्ति के चिर अभिलाषी
भारत के सुत, नव्य चेतना से अन्तःस्मित,
नव मानवता के स्वप्नों से अपलक लोचन
जाग रहे, विस्मृत युग के स्वर्णिम खण्डहर-से,
भू जीवन की नवल कल्पना से उन्मेषित
स्वर्गिक पावक की लपटों-से, लोक यज्ञ हित !

(जागरण वाद्य संगीत)

पुरुष स्वर

यह सच है, जिस अर्थ भित्ति पर विश्व सभ्यता
आज खड़ी है, बाधक है वह जन विकास की,
उसमें दीर्घ अपेक्षित है व्यापक परिवर्तन
भू मंगल हित ! धनिक श्रमिक के बीच भयंकर
जो शोणित पंकिल खायी है वर्ग भेद की

उसे पाटना है इस युग को ग्रात्म त्याग से
सहिष्णुता, शिक्षा समत्व से,—ग्रौर नहीं तो,
सत्याग्रह से, शत-शत निर्भय बलिदानों से !
जिससे भू का रक्त क्षीण शोषित विषण्ण मुख
फिर प्रसन्न, जीवन मांसल हो, युग शोभन हो !
उत्तर शती ग्रवश्य यन्त्र युग के विप्लव में
सामंजस्य नया लायेगी जन-मन वांछित,
जिससे शिक्षा, संस्कृति, सामूहिक विकास का
पथ प्रशस्त हो जायेगा युग मानव के हित !
(घण्टों ग्रौर वाद्यों की करुण ध्वनि)

स्त्री स्वर

ग्रर्धशती ग्रब बीत रही है, घनन् घनन् घन्,
घड़ियालों का क्रन्दन उसको विदा दे रहा !
ग्रर्धरात्रि की नीरवता को चीर झनन झन
झिल्ली का कातर स्वन उससे विदा ले रहा !
शत-शत ग्राहत इच्छाएँ, ग्रसफल तृष्णाएँ
उसके चिर कुण्ठित ग्रन्तर में मौन सो रहीं,
शत मुकुलित ग्राशाएँ, ग्रभिनव ग्रभिलाषाएँ
भावी के स्वप्निल पलकों में जन्म ले रहीं !
(मन्द्र वाद्य ध्वनि)

स्त्री-पुरुष स्वर

विदा, विदा, हे पूर्वशती, गत समरों की स्मृति
मिटे तुम्हारे सँग मन से, भीषण छायाकृति !
मुक्त रुपहले पंख खोल, बरसा स्वर्णिम स्मिति
विचरे भू पर शान्ति, शान्तिप्रिय हो जन संसृति !
(द्रुत वाद्य ध्वनि)
लोक क्रान्ति की ग्रग्रदूतिके, तुम झंझा पर
चढ़कर ग्रायीं, मन्थित करने जीवन सागर !
भूमिकम्प-सी, ध्वंस भ्रंश, गर्जन-तर्जन भर
धूलिसात् कर गयी युगों के सौध स्मृति शिखर !
स्वस्ति, स्वस्ति ! ग्रब नव निर्माण करें भू के जन
ले जाग्रो ग्रपने सँग जग का दारुण रोदन !
(गभीर वाद्य ध्वनि)

पुरुष स्वर

इन पचास वर्षों के निबिड़ कुहासे से कढ़
सन् इक्यावन मौन बढ़ रहा धीरे सन्मुख !
ग्रर्धपक्व केशों के उसके प्रौढ़ भाल पर
चिन्तन की रेखा है ग्रंकित, नवल क्षितिज-सी !
रजत घण्टियों की कल ध्वनि स्वर्णिम ग्राशा के
पंखों में उड़ ग्रभिनन्दन करती है उसका !

(घण्टियों की हर्षध्वनि)

स्त्री-पुरुष स्वर

स्वागत नूतन वर्ष, शिखर तुम विंश शती के,
लाओ नूतन हर्ष, नवागन्तुक जगती के !
कब से अपलक नयन प्रतीक्षा करते भू जन,
विश्व शान्ति में लोक क्रान्ति हो परिणत नूतन !
भर जाओ स्वर्णिम समत्व जग जीवन रण में,
नव जीवन के सृजन स्वप्न जनगण के मन में !
लहरों के शिखरों में उठती जीवन आशा,
गिरि शृंगों पर चढ़ती जन-भू की अभिलाषा !
खोज रहीं गत प्रतिध्वनियाँ नव मन की भाषा,
जन मानवता जीवन की नूतन परिभाषा !
आओ, जन सारथि बन, कर्दम स्तम्भित युग रथ,
पथ बाधाएँ लाँघ, करो हे पूर्ण मनोरथ !

(आशाप्रद वाद्य संगीत)

पुरुष स्वर

रवि के चारों ओर धरा के पूर्ण पंचदश
संक्रमणों के बाद वर्ष नव उदित हो रहा
विश्व मंच पर, पार कण्टकित कर आधा पथ,
अनुभव गहन हृदय मन ले सागर-सा निस्तल !
नव आशा की किरणों से स्मित आनन श्री ले,
सोच रहा वह उच्च स्वरों में जल प्रपात-सा—

(गभीर वाद्य ध्वनि)

सन् इक्यावन

भाग्यवान् हूँ मैं ! विराट् इस विंश शती के
चिर महान युग में जो नूतन जन्म ग्रहण कर
पुनः आ सका हूँ अब सन् इक्यावन बनकर !
विश्व सभ्यता आज नवल इतिहास रच रही,
जन संस्कृति का आज धवल अध्याय खुल रहा !
कितने ही परिवर्तन आये भू जीवन में,
कितने ही संघर्ष और संग्राम छिड़ चुके;
बर्बर युग से आज यन्त्र युग में मानवता
लड़ती-भिड़ती अन्धकार में राह खोजती,
सागर - सी गर्जन - तर्जन उद्वेलन भरती
पहुँच रही अब ऐसे व्यापक संगम स्थल पर
जहाँ उसे निज पिछले जीवन का मन्थन कर
पिछले आदर्शों मूल्यों का विश्लेषण कर
लोक सभ्यता निर्मित करनी है भू विस्तृत,
विविध विगत संस्कृतियों का कर महत् समन्वय!

(प्रगति सूचकवाद्य संगीत)

महाभाग हूँ मैं ! महान् है विंश शती यह !
धन्य धरा जीवी युग के, जिनके कन्धों पर
भावी मानवता का स्वर्णिम भार धरा है !
वृहद् ज्ञान विज्ञान किया संचय इस युग ने,
वाष्प तड़ित्, बहु रश्मि शक्ति इसके इंगित पर
नाच रही हैं,—ग्राज महत् ग्रणु सिद्धि प्राप्त कर
उसने मौलिक भूत शक्ति का स्रोत पा लिया :
विजयी हुग्रा मनुज का मन जड़ भूत प्रकृति पर,
ग्राज ग्रनुचरी बनी स्वामिनी मनुज नियति की !

(विजय संगीत)

भू रचना का स्वर्णिम युग हो रहा ग्रवतरित
पुनः विश्व प्रांगण में कब से लोक ग्रपेक्षित !
ग्राज मनुज को खण्ड युगों से ऊपर उठकर
रूढ़ि रीति गत ग्रादर्शों के कंकालों को
पद लुण्ठित कर, युग वैभव की सुदृढ़ भित्ति पर
मनुष्यत्व के व्यापक तत्वों से नव जीवन
नव संस्कृति निर्मित करनी है भू जन के हित !
युग-युग से कलुषित भू का तन भाव-स्नात कर
वेष्टित करना है उसको नव श्री शोभा में
जीवन के मन के गौरव में ग्रात्म द्रवित कर !
नव्य चेतना के ग्रालिंगन में बँध जनगण
जिससे फिर संगठित हो सकें बाहर भीतर :
गूँज उठे संहार सृजन का गीत मुक्त स्वर—

(समवेत गान)

झरें, झरें
जीर्ण शीर्ण विश्व पर्ण
चिर विदीर्ण चिर विवर्ण
नव युग के प्रांगण में
मरें, मरें !

ग्रर्धशती रही बीत
भावी में लय ग्रतीत,
दैन्य ताप, रक्त पात
हरें, हरें !

हँसता जीवन वसन्त
कुसुमित जग के दिगन्त,
जन हित वैभव ग्रनन्त
भरें, भरें !

जीर्ण शीर्ण विश्व पर्ण
मरें, मरें !
(मेघ घोष और रण वाद्य)

सन् इक्यावन

किन्तु हाय, क्या देख रहा मैं, विश्व क्षितिज में
उमड़-घुमड़ घिर रहे चतुर्दिक् मेघ भयानक !
अट्टहास करती शम्पा, रण भीषण गर्जन
भरते शोणित के घन, दिङ् मण्डल विदीर्ण कर !

आज तीसरे विश्व युद्ध की भय आशंका
गरज रही इन भीम घनों में हृदय विदारक !
राष्ट्रों के कटु स्वार्थ, सत्व धन बल की तृष्णा
समर संगठित पुनः हो रही भू भागों में !!
अभी-अभी फ़ासिस्त शक्ति के युग दानव को
लुण्ठित, दर्प दलित करने जो देश धरा के
एकत्रित थे हुए प्रगति का व्यूह बनाकर,
आज परस्पर के भय दुःस्वप्नों से पीड़ित
महा प्रलय के हेतु दीखते रण तत्पर वे !!

पूंजीवाद उठा हिंसा का धूम्रकेतु ध्वज
लिये लोक संहार घोर अणु मुष्टि में विकट
फिर ललकार रहा धरती की हरित शान्ति को,
जन समुद्र के उर की नभ चुम्बी लहरों पर
दुरभिसन्धि से शासन करने ! हाय दुराशा !!
लोक राष्ट्र भी भूल वृहद् जन साम्य योजना
आज नवल साम्राज्यवाद की मद लिप्सा से
बना रहे हैं सैन्य शिविर निज जन तन्त्रों को, —
घूम रही है धरा समर के घोर भँवर में !
दम साधे है खड़ा भयंकर अणु का दानव
भूव्यापी संहार, प्रलय हुंकार छेड़ने !!

क्या भारत इस भू विभूषिका से हो जागृत
बहिरन्तर संगठित नहीं होगा इस युग में ?
आत्म शक्ति का, विश्व चेतना का प्रतीक बन,
सौम्य, शान्त, भू कर्मनिष्ठ, जन मंगल कामी,
मनुष्यत्व का प्रतिनिधि, दृढ़, निर्भीक, अहिंसक !

रूढ़ि रीतियों की इस मध्य युगीन धरा को
कौन पुनश्चेतन कर सकता आत्म दान से
जनगण के अतिरिक्त, भूमि के अधिकारी जो,
गौरव गरिमा के वाहक इस महादेश के ?
नव जन जीवन के भूव्यापी प्राणज्वार में
निश्चय हो सकते निमग्न ये अर्थ शक्ति रण
वर्ग समन्वय में नव, शोणित रहित क्रान्ति से !

(उद्‌बोधन संगीत)

कौन सुनेगा पर मेरे ये तूती के स्वर
इस भीषण तर्जन गर्जन, कटु चीत्कारों के
निर्मम युग में, छाया चारों ओर जहाँ है
भय, संशय, नैराश्य, विषाद, उपेक्षा, निन्दा
ईर्ष्या, स्पर्धा, अहंकार,—खर लौह शूल-सा !
देख चुका हूँ अर्धशती, संक्रमण कर चुका
वर्ष पंचदश, दुःसह युग परिवेश से व्यथित,
किसी तरह मैं ! सुहृदों के बाने में मुझसे
मिले अनेकों लोग, देश, भू राष्ट्र प्रतिष्ठित,
जन संस्थाएँ, लोक संघ बहु, व्यक्ति कनक घट,—
आत्म वंचना, द्वेष, कलह, स्वार्थों से पीड़ित,
पर उन्नति से क्षुब्ध, लुब्ध निज बौने बल पर !

कृमियों का उत्पात विटप ज्यों वट का सहता,
झेले हैं मैंने निष्ठुर स्पर्धा के दंशन
जीवन मन से कुण्ठित सूने अस्तित्वों के !
किन्तु नहीं मैं भूल सका, मैं महाकाल का
अमर पुत्र अवतरित हुआ हूँ सन्धिस्थल पर,
पार अनेकों कर वन पर्वत मरुथल सागर
कण्टकमय, खन्दकमय,—झंझावात तरंगित,
विनय मूक मैं चलता निर्जन शान्ति मार्ग पर
क्रीड़ा निरत कलभ-सा, लाँघ शिखर युग के बहु !

कैसे तुमसे कहूँ, आज मैं अर्धशती के
ऊर्ध्व शिखर पर खड़ा मौन क्या सोच रहा हूँ !
उद्वेलित करतीं मुझको शत भाव तरंगें,
प्रेरित करते रश्मि स्पर्श स्वप्नों के उर को !

याद मुझे आती फिर - फिर उस महापुरुष की,
अभी - अभी जो रजत शुभ्र चेतना शिखर-सा
धरती पर विचरा था स्वर्ग विभा से मण्डित,—
अपनी मंगल स्मिति से दीपित करता भूपथ !
दैन्य दासता के युग - युग के बन्धन जिसने
भारत के काटे : दुर्धर साम्राज्यवाद से
हँस-हँस लोहा ले, अजेय अस्त्रों-शस्त्रों की
हिंस्र शक्ति को किया पराजित सत्याग्रह से,
सौम्य अहिंसा के सामूहिक मंगल बल से !

एकाकी, निज आत्मशक्ति से जिसने निर्भय
भौतिकता यान्त्रिकता के दुर्मद असुरों को
किया निरस्त, जगत को दे सन्देश सत्य का,
शान्ति, अहिंसा का, श्रेयस्कर आत्मिक बल का !

आन्दोलित जन-युग दर्पण है मानव मन का,
शान्त उसे कर सकते केवल उस युग नर के
सत्य अहिंसा के आदर्श, अमर, युग पूरक !
सदाचार की रजत रश्मियों से शुभ मण्डित,
विनय त्याग नय शोभित, लोक कर्म अनुप्राणित,
सूर्य शुभ्र व्यक्तित्व एक दिन आत्म पुरुष का
भू मानस में स्वत: प्रतिष्ठित होगा निश्चय !

जीवन मन की क्षुधा तृषाओं की चीत्कारें,
अर्थ शक्तियों, संस्कृति धर्मों के संघर्षण
विश्व ऐक्य में, लोक साम्य में बँध जायेंगे
युग मानव में संयोजित, व्यक्तित्ववान् हो !
धरती का विस्तार हुआ ही इस प्रकार है
कर सकते संहार नहीं भू जीवन का जन !
प्रेम मनुज को करना होगा भ्रातृ मनुज से,
देशों को देशों से, तन्त्रों को तन्त्रों से,
ईश्वर का आवास जगत, मन्दिर है जन तन,
रूपान्तर होगा ही अधोमुखी तृष्णा का
अमृत चेतना में, अन्तर्मुख, ऊर्ध्व गमन प्रिय !
गूँज रहे हैं अभी देश, पुर पथ, गिरि सागर
उस युग मानव की महिमा के जय निनाद से,
गूँज रहीं प्रतिध्वनियाँ कभी न मिटनेवाली !

(वाद्य संगीत : जन गीत)

जय विराट् युग मानव जय, जय !
स्वर्गदूत तुम उतरे भू पर
आत्म तेज में विचरे निर्भय !

सात्विकता के रजत शुभ्र तन
साधन तप के स्वर्ण शुभ्र मन,
नव युग जीवन के प्रतीक बन
विहँसे तुम, उर के अरुणोदय !

रक्त पंक इस मर्त्य धरा पर
प्रथम बार लाये तुम निर्जर,
रक्त हीन रण जन श्रेयस्कर
जिससे हो भू स्वर्ग अभ्युदय !

(करुण वाद्य संगीत)

सन् इक्यावन

हा दुर्दैव, अतीत कथा -सी अर्धशती अब
हुई व्यतीत, बनी इतिहास ! किन्तु भू-मन का
उद्वेलन रुक सका नहीं ! उच्छ्वसित सिन्धु-सा
पीट रहा मुख युग जीवन दारुण हाहा कर
मानव उर की वज्र दम्भ पाषाण शिला पर !

उतर नहीं पा रही जनों में नव्य चेतना
भू रचना के उर्वर स्वप्नों से उद्दीपित,
विजय नहीं पा सका मनुज निज भौतिक मद पर
राष्ट्र वर्ग के, जाति वर्ण के रिक्त गर्व पर !!
विंश शती का महाज्ञान विज्ञान प्राप्त कर
महानाश के अन्ध गर्त की ओर सभ्यता
आज बढ़ रही हृदय शून्य हो, भ्रमित बुद्धि हो !
तर्कों वादों वर्गों के भेदों में खण्डित,
यन्त्रों से शोषित, जन तन्त्रों में आन्दोलित,
क्षुधा तृषा श्रम पीड़ित, तमस अविद्या मूर्छित,
रेंग रहा युग भग्न रीढ़ पर आहत अहि-सा
घूम-घूम फिर घोर वृत्त में महानाश के !!
बँटा विरोधी शिविरों में है मानव जीवन,
विश्व शक्तियों का है हुआ विभाजन निर्मम; —
लोक समन्वय, विश्व ऐक्य होगा ही निश्चय
उत्तरार्ध कर रहा प्रवेश नया युग जग में !

(आशाप्रद वाद्य संगीत)

जिस युग ने हैं दिये मार्क्स-से भौतिक चिन्तक,
श्री अरविन्द सदृश द्रष्टा, भू स्वर्ग विधाता,
लेनिन गांधी-से जन अधिनायक, जो निश्चय
भिन्न परिस्थिति, भिन्न प्रकृति मानव पदार्थ पा,
निज क्षेत्रों के रहे विधायक, जन उन्नायक,—
नव युग के पतझर वसन्त-से, नव बीजों से
गर्भित, नव जीवन से मुकुलित,—महाप्राण मन!
जिस युग में वैभव अपार संचित कोषों में,
देश काल को किये ज्ञान विज्ञान हस्तगत,
वाहित करती विद्युत् क्षण में निखिल विश्व मन
जिस युग में, वह आत्म पराजय से क्यों पीड़ित ?
क्यों उसमें सन्तुलन नहीं आ सका अभी तक ?
क्या है इसका कारण ? क्यों अधिविश्व क्रान्ति है
छायी भू जीवन, युग मन में ? शोचनीय यह !

(स्वप्नवाहक वाद्य संगीत)

देख रहा मैं मन:क्षितिज में युग स्वर्णोदय
मानव भावी का, अभिनव किरणों से दीपित,
विंश शती का जनसुख-मांसल उत्तर यौवन
निखर रहा निज भौतिक आध्यात्मिक वैभव में !

धीरे - धीरे अर्थ व्यवस्था में धरणी के
युग वांछित सन्तुलन आ रहा, भौतिक सत्ता
मानवीय बन, नव चेतन आकार धर रही !

पूंजीवादी लोक साम्यवादी देशों के
वातायन खुल रहे भाव विनिमय के व्यापक,
हृदय द्वार खुल रहे, विचारों से नव मुकुलित,
भू जीवन के आवागमन हेतु दिग् विस्तृत !

नव युग के आर्थिक नैतिक विधान के युगपत्
नव निर्मित हो जाने पर, नव मानवता की
स्वर्ण चेतना ध्वजा उड़ रही गिरि शिखरों पर,
सागर के उल्लसित वक्ष, प्रहसित अम्बर में !

(विजय वाद्य संगीत)

दैन्य दुःख मिट गये, भर गये धरणी के व्रण,
आनन की धुल गयी कलुष कालिमा युगों की,
मानस वैभव से मुकुलित हो उठे दिगन्तर,
संस्कृति के सोपानों पर आरोहण करता
जनगण का मन, देवों का ऐश्वर्य बँटाने ! —
समुल्लसित गाते नर - नारी भू जीवन के
विश्व प्रीति के गीत, भाव स्वप्नों से झंकृत !

(वाद्य संगीत तथा जन गीत)

निखर रहा मनुज नवल,
निखर रहा मनस् नवल !
जीवन के वारि चपल,
विहँस उठा हृदय कमल !
खुले रुद्ध लोक द्वार,
मुक्त वचन जन विचार,
वरस रही आर पार
ज्योति प्रीति धार तरल !
श्री हृत गत सौध धाम,
कुसुमित जन वास ग्राम,
मानवता पूर्ण काम
युक्त धरणि हुई सकल !
नवल चेतना प्रकाश,
जीवन मन का विकास,
मानवीय भू निवास !
बरस रहा जन मंगल !

(तानपूरे के स्वर)

सन् इक्यावन

उतर रही अधिमन के नभ से नव्य चेतना
स्वर्ण शुभ्र ऊषा-सी, जन मानस धरणी पर,
चीर रहे हैं रश्मि तीर शत ज्वाल स्पर्श से
भू जीवन के जड़ तम को, स्वर्णिम चेतन कर!

उतर रहे स्वर्दूतों-से स्मित पंख खोलकर
नव आशा उल्लास, ज्योति सौन्दर्य, प्रीति सुख !
बरस रही है रजत मौन स्मित शान्ति चतुर्दिक्,
जन मंगल, श्रद्धा विश्वास,—शुभ्र पावनता,
मानव भू पर,—देवों के आशीर्वाद - सी !
आज प्रसन्न हुआ घटवासी मानव ईश्वर
मानव कर्मों से, जग जीवन व्यापारों से !

(प्रसन्न गभीर वाद्य संगीत)

यह परिवर्तनशील जगत है लीला का स्थल
दिव्य चेतना का, जो अन्तरतम में निवसित,
मन, जीवन, जड़ भूत अंश हैं उसके निश्चय,—
वह सबमें है व्याप्त और सबसे है ऊपर !—
वाह्य उपकरण उपादान ये मात्र प्रकृति के
चिर विकास क्रम में हैं, सभी परस्पर आश्रित,
एक दूसरे के पूरक, पोषक, उद्धारक !

जड़ चेतन की इस विराट् क्रीड़ा के स्वामी
मानव के घटवासी भी हैं रे निःसंशय,
प्रस्तुत होता लोक-पात्र जब धारण के हित
अन्तस्तल से उठता ज्वार नवल वैभव का,
चेतन कर जो मन के जीवन के सक्रिय स्तर
मज्जित करता भूत सृष्टि को, नव कल्पित कर !
भूतों की अन्तर पुकार से सहज विद्रवित
उन्हें उठाता आत्मिक मन के सोपानों पर
अभिनव जीवन सम्बन्धों, मन के मानों में
उन्हें पुनः परिवर्तित, परिवर्धित, विकसित कर !

धन्य अभेद्य रहस्य सृजन का ! विंश शती भी
महाकाल के अतल वक्ष स्पन्दन से प्रेरित
उठ उत्ताल क्षितिज चुम्बी भूधर तरंग-सी,
प्लावित करती जीर्ण धरित्री के विपण्ण तट
जन युग की अद्भुत विराट् जीवन शोभा में,—
सिन्धु-मग्न कर विगत युगों के मान चित्र को !

(युग परिवर्तन संगीत)

मंगलमय है जीवन की केन्द्रीय चेतना,
जन मंगल का धाम बने यह मानव धरणी !
सृजनशील हो मानव मन,—स्रष्टा निश्चय ही
निर्माता से है महान्, जो सूक्ष्म द्रव्य से
बुनता नव सौन्दर्य प्रीति आनन्द के वसन
मानव आत्मा के हित,—शिल्पी स्वर्ग का अमर !

संयोजित हों मानव के आदर्श कर्म नित,
संयोजित वाणी विचार आचरण जनों के,

अन्त: संयोजित व्यक्तित्व बने मानव का,
श्री शोभा का अमर धाम हो मनुज लोक यह !

(मंगल संगीत : समवेत गान)

मंगल, जन मंगल हो !
मंगल मय का निवास
मानव हृत् शतदल हो !

प्रीति ग्रथित हों जन-जन,
ज्योति द्रवित जनगण मन,
वैभव नत जन जीवन,
शोभा स्मित भूतल हो !

नारी नर हों समान
कर्म निरत, लोक प्राण,
जग को दें आत्म दान
जन हित जन श्रम फल हो !

शान्त हो समर प्रमाद,
शान्त रिक्त तर्कवाद,
जय जीवन हो निनाद,
मुखरित दिङ् मण्डल हो !

(३१ दिसम्बर, १९५०)

शुभ्र पुरुष

'शुभ्र पुरुष' महात्माजी के तपःपूत व्यक्तित्व का शुभ्र प्रतीक है। महात्माजी भारतीय चेतना के आधुनिकतम रजत संस्करण हैं। प्रस्तुत रूपक उनकी जन्मतिथि के अवसर पर लिखा गया था। यह जनगण मन अधिनायक गांधीजी के राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक व्यक्तित्व के प्रति युग की विनम्र श्रद्धांजलि है।

स्त्री-पुरुष स्वर
जनगण

(उत्सव वाद्य संगीत)

पुरुष स्वर

राजहंस भरते उड़ान शुचि शुभ्र चतुर्दिक्
श्वेत कमल की पंखड़ियाँ बरसा जन पथ पर,
स्वर्णिम पंखों की शत उज्ज्वल ग्राभाग्रों से
नव स्वप्नों की दिव्य सृष्टि कर भू मानस में !
विचरण करतीं व्योम कक्ष में सुर बालाएँ
ज्योत्स्ना का रुपहला रेशमी ग्रंचल फहरा,
हँसता शारद चन्द्र घनों के ग्रन्तराल से
शुभ्र चेतना ज्वार उठा जीवन सागर में !

रजत घण्टियाँ बजतीं ग्रम्बर में कलध्वनि भर
झरते ग्रश्रुत स्वर ताराग्रों की वीणा से !
हिम शिखरों पर शशि किरणों की छायाएँ कँप
फहरातीं शत रंग ग्रथित बन्दनवारों - सी !
ग्राज चिर स्मरणीय दिवस है शुभ्र पुरुष की
वर्षगाँठ का : धरती पर ग्रवतरित हुग्रा जो
नव युग की ग्रात्मा बनकर जन मंगल के हित !
सदाचार के शुभ्र चरण धर जिसने भू को
फिर चिर पावन किया ग्रमर पद चिह्नों से निज!
जन्मोत्सव हैं ग्राज मनाते हर्षित सुर नर
विश्व प्रकृति के प्रांगण में स्मित पुष्प वृष्टि कर!
जय निनाद से मुखरित है जन भारत का नभ,
फहराता है मुक्त तिरंगा रंग तरंगित,—
मंगल गायन वादन से गुंजित है भू तल !

(मंगल वाद्य ध्वनि : समवेत गान)

जय जय हे, युग मानव, जय हे !

स्वर्ग शिखर से विचरे भू पर
ग्रात्मतेजमय तुम निर्भय हे !

कोटि जनों के कण्ठ गान बन
कोटि मनों के मर्म प्राण बन
जन जीवन प्रांगण में लाये
तुम नव ग्ररुणोदय हे !

सत्य खोजने आये जग में
स्वर्ग लुटाने जन के मग में,
देवों का बल लाये सँग में
जय चिर मंगलमय हे !
तप से पावन स्वर्ण शुभ्र तन
सत्य-शुभ्र सत्कर्म वचन मन,
स्वर्ग धरा का करने आये
शुभ्र पुरुष, परिणय हे !

(हर्ष वादन)

स्त्री स्वर

पराधीन थी सदियों से जब स्वर्ण धरा यह
दैन्य दासता के शृंखल जकड़े थे तन को;
घोर अविद्या के तम से पीड़ित थे जनगण,
रूढ़ि रीति के प्रेत युद्ध करते थे मन में !

घेरे थे विश्वास अन्ध आकाश बेलि-से,
मुण्ड-मुण्ड में थी विभक्त लघु लोक चेतना :
स्वार्थों में रत वर्ग, क्षुधित शोषित थी जनता,
पद लुण्ठित जीवन गौरव, मृत मानव आत्मा !
छायी थी जब विकट निराशा की निष्क्रियता,
वीर्यहीन थी भारत भू, भूपति विलास रत,—
प्रकट हुए थे लोक पुरुष तुम आत्म तेजमय
अन्धकार को चीर हुआ हो नव स्वर्णोदय !

देख धरा को तमोग्रस्त, तुम करुणा विगलित,
जीवन रण में बने दिव्य सारथि फिर जन के,
महा जागरण मन्त्र उच्चरित कर श्री मुख से
युग-युग से निद्रित, जीवन्मृत महाजाति को
जागृत तुमने किया पुनः निज रहस शक्ति से !
स्वाभिमान भर जन में, क्षण में किया संगठित
नव्य राष्ट्र में उन्हें, स्वर्गवत् मातृभूमि के
प्रीति पाश में बाँध, विरत कर लघु स्वार्थों से !
महापुरुष, निज अभय दान से नव्य प्राण भर,
कंकालों को दिया मनुज का गौरव तुमने,
युग-युग के घन अन्धकार से बाहर लाकर
मृत्युभीत जनगण को दिखलाया प्रकाश नव !
और एक दिन प्राणोद्वेलित जन समुद्र को
मुक्त तिरंगे के नीचे समवेत कर पुनः
उन्हें अहिंसात्मक अद्भुत रण कौशल सिखला
छिन्न कर दिये तुमने युग के पाश पुरातन !
एक रात में मौन गगन हो उठा निनादित
अगणित कण्ठ रटित वन्देमातरम् मन्त्र से !

धन्य सिद्ध जन नायक, तुम कर गये पराजित
चिर अजेय साम्राज्यवाद की लौह शक्ति को
क्षण में, सौम्य अहिंसा के मंगलमय बल से,—
प्रेमामृत से गरल घृणा का अपहृत करके !
सिन्धु तरंगों-से, गर्जन भर भारत के जन
आज तुम्हारा गौरव गाते हर्ष उच्छ्वसित !

(स्तवन वाद्य : समवेत गान)

जय जन भारत भाग्य विधाता,
लोक मुक्ति वर दाता !
प्रजातन्त्र भारत के जनगण
गाते गौरव गाथा !
जय स्वतन्त्रता के रण नायक,
महाजाति के नव उन्नायक,
भू गौरव, जन राष्ट्र विधायक
जय युग मन के ज्ञाता !
वीर, अहिंसा रत, व्रतधारी,
धीर, सत्य के असि पथ चारी,
दैन्य दासता के भय हारी
जग जीवन तम त्राता !
श्रद्धांजलि देते नर - नारी
जय - जय राष्ट्र पिता बलिहारी,
तपः पूत मन, जन हितकारी,
नव जीवन निर्माता !

(अभिवादन संगीत)

पुरुष स्वर

धन्य हुई यह मातृ धरा : युग लक्ष्मी फिर से
आज इसे अभिषेकित करती जनगण मन के
सिंहासन पर : अभिनन्दित करती नव युग की
ऊषा, इसके गौरव दीपित रजत भाल पर
स्वर्ण शुभ्र किरणों का जगमग ज्योति मुकुट धर !
वृद्ध देश, हिम श्वेत श्मश्रु स्मित, शोभित जो नित
पुरुष पुरातन-सा विकास प्रिय इस पृथ्वी पर,
संजीवन पा आज जनों का यौवन उसके
मूर्तिमान हो रहा पुनः नव लोक तन्त्र में !
जय निनाद करता जन सागर उमड़ चतुर्दिक्
हर्ष तरंगित अपने शत - शत शीश उठाये,
फहराता विजयी तिरंग ध्वज इन्द्रधनुष - सा
दिग् दिगन्त में रंग छटाएँ बरसा अगणित,—
पुष्प वृष्टि करते हों ज्यों नभ से फिर सुरगण !
महाभूमि यह, जिसके श्री विराट् प्रांगण में
प्रथम सभ्यता विहँसी भू पर भू प्रकाश-सी,

जिसकी निभृत गुहाओं में पहिले मनुष्य को
आत्मोन्मेष हुआ : युग द्रष्टा ऋषिगण विचरे
स्वर्ग शिखा ले जहाँ सत्य की अमर खोज में :
जिसके ज्योतिर्मय मानस पलने में पलकर
धर्म ज्ञान संस्कृतियाँ शतशः फैलीं जग में,
जिसके दर्शन के स्फटिकोज्ज्वल शुभ्र सौध में
स्वतः अवतरित हो मंगलमय पुरुष परात्पर
वास कर रहे मूर्त सत्य-से जन - मन नभ में :
राम कृष्ण गौतम लोटे जिसकी शुचि रज पर,—
अभिवादन करते जनगण उस दिव्य भूमि का
आज पुनः दिक् प्रतिध्वनित उल्लसित स्वरों में—
वन्दे मातरम्
सुजलां सुफलां मलयज शीतलाम् !

तपोभूमि यह, राजतन्त्र के युग में जिसने
राम राज्य का पूर्णादर्श दिया जगती को,
आज असंख्य विमुग्ध लोक नयनों से निर्मित
नव युग तोरण से प्रवेश कर रही पुनः वह
जन-मन दीपित धरा चेतना के प्रांगण में,
लोक साम्य के द्यौ चुम्बी प्रासाद में महत्,
सर्वभूत में फिर अपने को अनुभव करने !

स्वर्ग खण्ड यह, हाय, शम्भु-सा समाधिस्थ हो
विचरण करता रहा कहाँ तब मध्य युगों में
आत्मा के सोपानों में खो ऊर्ध्व, ऊर्ध्वतर
आत्मोल्लास प्रमत्त, जगत के प्रति विरक्त हो ?
जीवन मन के सकल कर्म व्यापार त्यागकर
यह निःस्पृह, निश्चेष्ट, शून्य, निःसंज्ञ बन गया
स्थाणु सदृश क्यों ? बाह्य अचेतन स्थिति में अपनी
दैन्य दासता दुःख अविद्या के बन्धन से
वेष्टित, सहता रहा आत्मपीड़न क्या केवल
जन भू का विष धारण करने नीलकण्ठ में ?

(कालयापन-सूचक संगीत)

स्त्री स्वर

जाग रहा फिर राष्ट्रपिता के मन का भारत,
जाग रही फिर आत्मभूमि, अन्तः प्रकाश से
अपने सँग सोयी धरती को चेतन करने !
जन हिताय निर्माण कर रही वह नव जीवन
लोक तन्त्र की सुदृढ़ नींव रख अन्तरैक्य पर,
स्वर्ग ज्योति चुम्बी धर शिर कलश सत्य का !

विचरण करे प्रजा युग अभिनव जन भारत में
दूर-दूर तक शिक्षा संस्कृति का प्रकाश भर,

सुख वैभव की स्वर्णिम किरणों से कर मण्डित
झाड़ फूंस के भग्न घरौंदों को, युग-युग से
दैन्य अविद्या के तम से जो त्रस्त ग्रस्त हैं !
नंगे भूखे रुग्ण अस्थि पंजर गत युग के
जहाँ रेंगता भार ढो रहे भू जीवन का
वर्ग सभ्यता के उस निचले नरक में, जहाँ
अन्न वस्त्र का घोर अभाव रहा अनादि से,
और सभ्यता संस्कृति की स्वर्ग-स्मित किरणें
पैठ न सकीं जहाँ, जीवन आह्लाद कभी भी
पहुँच नहीं पाया, जन-मन का नीरव रोदन
मात्र हृदय संगीत रहा उच्छ्वसित, अतन्द्रित !

आज तुम्हारा नव भारत निज रक्त दान से
पुण्य स्नात कर धरती के जन का विषण्ण मुख
सर्वप्रथम सौन्दर्य प्रसन्न करे मानव को !
उसकी चिर वसुधैव कुटुम्बक मातृ क्रोड़ में
एक अहिंसक मानवता ले जन्म आत्म स्मित,
नयी चेतना की प्रतिनिधि हो जो भू के हित !
विविध मतों, वर्गों, राष्ट्रों में बिखरे जन को
मनुष्यत्व में बाँध नवल भू स्वर्ग रचे वह !
जीवन का ऐश्वर्य प्रेम आनन्द उतरकर
अन्तर्मानस से, महिमा मूर्तित हों जिसमें :
युद्ध दग्ध जन-भू पर व्यापक लोक तन्त्र का
नव आदर्श करे स्थापित वह सर्व समन्वित,
अभिनव मानव लोक सृजन कर नर देवों हित !
युग-युग तक गावें भारत जन एक कण्ठ हो
जनगण मन अधिनायक जय हे
भारत भाग्य विधाता !

(स्तवन संगीत : भारत वन्दना)

जयति जयति ज्योति भूमि,
जय भारत ज्योति देश !

ज्योति शिखर हिमवत् मन,
ज्योति द्रवित सुरसरि तन,
ज्योतित कर धरणि सकल
हरे विश्व तमस क्लेश !

उठो, उठो, नवल तरु
तिमिर चीर जगो अरुण,
भेद भीति तजो, बँधो
लोक प्रीति में अशेष !

ज्योति पुरुष खड़े द्वार
तुम्हें फिर रहे पुकार,

स्वर्ग हव्य करो दान
उत्सुक जग के प्रदेश !

(तानपूरे के स्वर)

पुरुष स्वर

नग्न नृत्य करती थी हिंसा जब पृथ्वी पर
भौतिकता से जर्जर था जन-भू का जीवन,
महानाश का पावक बरसाता था ग्रम्बर,
तुमुल रणध्वनि से कँपता था दीर्ण दिगन्तर !

राष्ट्रों के कटु स्वार्थों से, स्पर्धा लिप्सा से
दुर्वह था जब जन धरणी में जीवन यापन,
घोर ग्रनैतिकता छायी थी मनोजगत् में,
बिखर रहे थे शिखर सनातन ग्रादर्शों के,—

सदाचार की रजत शिखा ले, ग्राये थे तुम
युग प्रतीक बन भारतीय चेतना के पुनः,
सत्य साम्य से मार्ग प्रदर्शन करने जन का,
ग्रमृत स्पर्श से ग्राहत जगती के व्रण भरने,—
मधुर ग्रहिंसा का सन्देश सुनाने भू को !
धन्य मर्त्य के ग्रमर पान्थ, तुम निखिल धरा को
बांध गये नव मनुष्यत्व के स्वर्णपाश में !

(ग्रावाहन संगीत : समवेत गान)

शुभ्र चरण धरो पान्थ,
शुभ्र चरण धरो !
ग्रंकित कर ज्योति चिह्न
जीवन तम हरो !

विश्व वारि हैं ग्रशान्त
जन जीवन ध्येय-भ्रान्त,
कर्णधार बनो, धीर,
क्षुब्ध नीर तरो !

ग्रार पार ग्रन्धकार,
रुद्ध ग्राज हृदय द्वार,
व्यथा भार हरो देव,
भेद ग्रमिट भरो !

मंगलमय तुम उदार,
सुनो ग्रार्त जन पुकार,
पावक की ग्रंजलि भर
वितरण हवि करो !

(तानपूरे के स्वर)

स्त्री स्वर

धन्य हुई जन धरणी यह, अवतरित हुए तुम
मर्त्यलोक में फिर देवोपम गरिमा लेकर,
विचरे मेरु शिखर-से नव किरणों से भूषित
शुभ्र काय मन, नव्य चेतना की ज्वाला को
जन-मन में दीपित करने, करुणा प्रेरित हो !

बांध गये नव संस्कृति में तुम विश्व जनों को
मनुष्यता का मुख नव महिमा से मण्डित कर,
नर चरित्र का रूपान्तर कर, जन गण मन को
श्रद्धा से पावन, धरणी को स्वर्ग स्नात कर !

किन शब्दों में श्रद्धांजलि दें आज हृदय की,
देव, महामानव, हे राष्ट्रपिता हम तुमको !
वाष्पाकुल हैं नयन, हर्ष श्रद्धा गद्‌गद स्वर,
प्रीति प्रणत शत-शत प्रणाम हों स्वीकृत जन के !

(स्तव संगीत : समवेत गान)

जय नव मानव, जय भव मानव !
स्वर्ग दूत नव मानवता के,
विचरो ज्योति शिखा ले अभिनव !

प्रीति पाश में बांधो जन - मन,
श्रद्धा पावन हो जन जीवन,
बनो शुभ्र विश्वास सेतु तुम,
शान्त सकल हों भव के विप्लव !

स्वर्ग हृदय हो जन में स्पन्दित
स्वर्ण चेतना से भू मण्डित,
अमृत स्पर्श से हरो मृत्यु तम,
जन मंगल हो, जीवन उत्सव !

शुभ्र सत्य का हो जन-मन पथ,
शुभ्र अहिंसा का जीवन व्रत,
विश्व ग्लानि में नव प्रकाश बन
निखरो, शुभ्र पुरुष, युग सम्भव !

(२ अक्तूबर, १९५०)

विद्युत् वसना

विद्युत् वसना स्वाधीनता की चेतना का रूपक है, जो स्वाधीनता दिवस के अवसर पर लिखा गया था। स्वाधीनता ध्येय नहीं, साधन मात्र है : ध्येय है अन्तर्निर्भरता तथा एकता। इस युग में जन स्वतन्त्रता की उपयोगिता लोक एकता तथा विश्व मानवता के निर्माण ही में चरितार्थ हो सकती है : यही इस रूपक का सन्देश है।

स्त्री-पुरुष स्वर
विद्युत् वसना
जनगण

(मेघ घोष के साथ तुमुल वाद्य ध्वनि)

पुरुष स्वर

यह विद्युत् वसना का रूपक है सांकेतिक,
नव युग का सन्देश भरा जिसमें ज्योतिर्मय,
स्वतन्त्रता की अमृत चेतना, जो मेघों के
रन्ध्रों से है फूट रही जन मनोगगन में,
आज उतरने को वह आतुर, जन धरणी के
जीवन के प्रांगण में, विद्युत् निर्झरिणी-सी,—
अन्धकार से भरे गह्वरों को पृथ्वी के
नव प्रकाश रेखाओं से आन्दोलित करने !

आज टूटने को है युग की दुर्धर ज्वाला
जन - मन के शृंगों पर पावक के प्रवाह-सी,
जाग रहे भू-रज में सोये अग्नि बीज फिर
अभिनव इच्छाओं के ज्योति प्ररोहों में हँस !
उद्वेलित धरणी का उर, युग की आभा का
अभिवादन करने को, जय नादों से मुखरित !

(जय निनाद)

अपनी शुभ्र छटा के अंचल में लपेटकर
अमर सँदेशा लायी है स्वाधीन चेतना
ज्वलित स्वर्ण शोभा से मण्डित, जनगण के हित,—
सावधान हो सुनें मर्त्य भू के वासी जन !

(उद्बोधन वाद्य संगीत के साथ दूर से आते हुए करुण समवेत गीत के स्वर)

गीत

घोर तमिस्रा छायी,
कौन सँदेशा लायी ?

घुमड़ घटाएँ घिरतीं प्रतिक्षण
गगन क्रुद्ध हो भरता गर्जन,
अन्तरिक्ष के उर में किसने
रक्त ज्वाल सुलगायी !

झिल्ली क्या बज उठती झन-झन
जगा गुहाओं में युग रोदन,
गूढ़ घाटियों में जीवन की
अँधियाली गहरायी !

बिजली रह-रह करती नर्तन
ज्योति अन्ध कर जन के लोचन,
फिरतीं उर में आवेशों की
उठ काली परछाईं !

बदल रहे जन, बदल रहा मन,
बदल रहा युग औ' युग जीवन,
प्रलय सृजन की उन्मद बेला
अब अकूल लहराई !

(तानपूरे के अशान्त स्वर)

स्त्री स्वर

हर्ष रुदन करता धरती का कातर अन्तर,
उमड़ रहे हैं महा बलाहक सृजन छटा स्मित,
कंकालों की पग ध्वनि से कँप उठता भू तल,
जीर्ण अस्थि पंजर बढ़ते हैं विजय ध्वजा ले !

महानाश के खँडहर पर जन-मन उन्मादिनि
नाच रही है विद्युत् वसना लोक चेतना
अट्टहास-भर, शत स्फुलिंग बरसा अम्बर से,
नव जीवन के अग्नि प्ररोहों में रोमांचित !
गाती है उन्मत्त गीत वह मन्द्र स्तनित भर !

(मेघ गर्जन तथा मन्द्र गभीर वाद्य ध्वनि)

विद्युत् वसना

जन आकांक्षा के शिखरों पर
पग धर मैं युग ताण्डव करती,
चिर अन्धकार से ज्योति खींच
युग अन्धकार का भय हरती !

मैं वाष्प धूम के अणुओं को
निज स्पर्श ज्वाल से चटकाती,
शत बाधा बन्धन के शृंखल
उन्मत्त हर्ष से तड़काती !

मैं प्रलय ज्वार-सी उठती हूँ
धरती स्वतन्त्रता में न्हाती,
मैं नाश सृजन के पंखों में
आँधी-सी उड़, आती-जाती !

(झंझासूचक ध्वनि-प्रभाव)

जन स्वर

तुम आओ, शत बलिदान यहाँ
अभिवादन के हित तत्पर हैं
तुम आओ, शत-शत प्राण यहाँ
अभिलाषाओं से जर्जर हैं!

तुम उतरो, नव आदर्शों के
शिखरों पर किरणें बरसाओ,
उतरो, उर्वर तलहटियों में
फिर ज्योति बीज नव बिखराओ!

आओ हे, तुम जन संस्कृति के
पथ को दिग् विस्तृत कर जाओ,
युग-युग से पंक भरी भू को
सौन्दर्य ज्वार में नहलाओ!

विद्युत् वसना

मदिरा की ज्वाला-सी मादक
मैं जाग्रत् विस्मृति लाती हूँ,
महलों को खँडहर, खँडहर को
फिर उठते महल बनाती हूँ!

पतझर के वन को मांसल कर
नव रूप रंग भर जाती हूँ
मूकों को कर वाचाल,
पंगुओं को चढ़ना सिखलाती हूँ!

जन स्वर

तुम आओ, मन के धनी यहाँ
तन के भूखे करते स्वागत,
तुम देखो, युग-युग से सोये
रज के सपने होते जाग्रत्!

देखो हे, तन-मन के शोषित
अब तोड़ रहे दुख के बन्धन,
नव मानवता में जाग रहे
मिट्टी के पुतले नव चेतन!

(वाद्य स्वर परिवर्तन)

पुरुष स्वर

अन्धकार बढ़ता जाता है, युग प्रभात है
होने को निश्चय! सहसा मर्मर हर्‌हर् ध्वनि
फूट पड़ी है नग्न डालियों में जन वन की!
मलय पवन तूफान बन रहा! सर् मर् चर् मर्

टूट रहे हैं जीर्ण खोखले वृक्ष ठूंठ अब
भूमिसात् हो ! नाच रहे झर-झर कर पत्ते
शुष्क पीत मृत, घूम - घूम शत आवर्तों में !
धूलि कणों के भँवर उठ रहे, लोट-लोट कर
धूसर भुजगों-से झंझा कम्पित धरती पर !

(ध्वनि प्रभाव)

अन्धड़ आया, अन्धड़ आया, घोर बवण्डर !
कोलाहल से बधिर हो रहे विश्व के श्रवण !
भूमि कम्प यह, हिल-हिल उठती भू की जड़ता,
काँप रहे पर्वत, टकराते शृंग अग्नि मुख !
स्फीत तरंगों पर चढ़ रहीं तरंगें उन्मद,
फेनों के क्षण-अट्टहास्य में उबल रहा जल !
आधि व्याधि कटु दैन्य दुःख का फटता कर्दम,
टूट कगार रहे, छितराते बालू के कण !

धूल धुन्ध ! उड़ रहे युगों के द्वन्द्व पराजय,
हानि लाभ, शत जन्म-मरण ! छा गया चतुर्दिक्
मिट्टी का बादल ! धरती हो नयी बन रही
नाच-नाच नव युग परिवर्तन के इंगित पर !
निखर रही हैं नयी चोटियाँ, नयी तलहटियाँ
दिग् विस्तृत, जीवन किटाणुओं से नव उर्वर !

(युग परिवर्तन-सूचक घोर तुमुल संगीत : दूर से आते हुए समवेत स्वर)

दिग् हसने, अयि विद्युत् वसने !
अट्टहास से चकित दिगन्तर,
शत प्रलयंकर दशन !
विद्युत् वसने !

अग्नि वृष्टि करता युग अम्बर,
रक्त तरंगित जन-मन सागर,
नाच रही तुम निर्मम ताण्डव
जन मद झंकृत रसने !
विद्युत् वसने !

स्वार्थों में छिड़ रहा तुमुल रण
आज खुल रहे युग-युग के व्रण,
उमड़ उठा भू का अवचेतन
अयि जीवन तम अशने !
विद्युत् वसने !

(तानपूरे के स्वर)

विद्युत् वसना

प्राणों के नीरद से आवृत
जगती का अम्बर दिशा हीन,

मैं मुक्त चेतना हूँ उसकी
संघर्षों से दीपित नवीन !
वह सतरँग शोभा में हँसता
शत ग्राकांक्षाग्रों से मन्थित,
नव जीवन की हरियाली में
झरता रहता करुणा विगलित !

मैं उसकी ग्राभा की ग्रप्सरि
युग शिखरों पर नर्तन करती,
बजती चल पावक की पायल
जन-मन में रण गर्जन भरती !

मैं ग्रग्नि बीज बोती भास्वर
उपजाती लपटों की खेती,
मैं महा प्रलय के पंखों की
छाया में सर्जन को सेती !

(मेघ गर्जन, झंझा का शब्द ग्रौर कोलाहल)

स्त्री स्वर

हहर रही है जन स्वतन्त्रता की खर झंझा,
बीज बो रही जो पतझर में नव वसन्त के :
क्या है इसका ध्येय ? गरजती हुई घटा यह
सतरंगी ले विजय ध्वजा किस मनोल्लास की
उमड़ - घुमड़ घिर रही जनों के मनोगगन में ?
कौन महत् उद्देश्य, कौन प्रेरणा हृदय की,
जीवन की कल्पना कौन, ग्रगणित जनगण को
एक प्राण कर चला रही है ग्राज ग्रतन्द्रित ?
बढ़ते ग्रडिग चरण ग्रसंख्य, निर्भय ग्रमोघ, दृढ़,
पदाघात से कम्पित कर धरणी का प्रांगण,—
कँप-कँप उठती युग-युग की शंका, कायरता,
हिल - हिल पड़ते मनोलोक, गत ग्रादर्शों के
शिखर विखरते, धँसतीं भू में रूढ़ि रीतियाँ
शत कृमि कीटों से जर्जर, स्वार्थों से स्थापित ?

(उत्तेजनाद्योतक ध्वनि प्रभाव)

दुर्निवार कामना ! कौन-सी महाशक्ति यह
जन समुद्र को है ढकेलती युग तोरण से
नव प्रभात के सद्य प्रज्वलित नव प्रदेश में ?—
जीवन का सौन्दर्य, धरा का स्वर्णिम वैभव
जहाँ हँस रहा दिग् दिगन्त में जन-जन के हित !
कौन दिशा है वह ? मंजिल है कौन वह नयी ?
क्या ग्राशय है लोक जागरण, लोक मुक्ति का ?
गाग्रो युग की वीणे, पावक के तारों से
नव ज्योतिर्मय, शान्त, मधुर, स्वर संगति बरसा!

(मंगलवादन : आकाशवाणी)

इस युग की स्वाधीन चेतना अभय बढ़ रही
लोक एकता, विश्व एकता के मन्दिर को !
साधन केवल जन स्वतन्त्रता,—मनुज एकता
लोक साम्य औ' विश्व प्रेम ही प्राप्य ध्येय है !
जनता का बल युग सम्बल है ! मनुष्यत्व ही
जन बल की महिमा, जन गौरव का किरीट है !
जन स्वतन्त्रता नहीं,—लौह संगठित जनों की
अन्तर् निर्भरता ही युग का परम लक्ष्य है !
बोलो जनता की जय, नव मानवता की जय !

(हर्ष वाद्य ध्वनि : समवेत गीत)

बरसो हे जन-मन के बादल !
नव जीवन की हरियाली में
हरसो हे नव स्वर्णिम उज्ज्वल !

उमड़ो, श्यामल दृग हो अम्बर
घुमड़ो, विद्युत् प्रभ हो अन्तर,
गरजो हे, जय हर्षध्वनि-भर
नव प्ररोह पुलकित हो भूतल !

सतरँग विजय ध्वजा धर छहरो
भू को बाँहों में भर घहरो,
श्री शोभा के शस्य-हास्य से
सरसे जन-भू में जन मंगल !

(तानपूरे के स्वर)

पुरुष स्वर

मत्त लास्य कर रही गगन में विद्युत् हासिनि
मत्त हास्य भर रही हृदय में अन्तर्वासिनि,
उतर रही है ज्योति जाह्नवी नव्य चेतना
उभर रहा धरती का मन आवर्त शिखर बन,—

स्वागत देने नव्य प्रभा को,
धारण करने दिव्य विभा को !

(अभिवादन वाद्य संगीत : जन गीत)

ज्योति शिखावाही (जन)
प्रीति शिखावाही !

बादल दल गये बिखर
नवल क्षितिज रहा निखर,
विहँस उठा हृदय शिखर,
ऊषा मुसकायी !

ज्वाला के बढ़ते पग
हँसता जन जीवन मग,

जग का प्रांगण जगमग
देता दिखलायी !

अन्धकार रहा भाग, रहा भाग,
ज्योतिर्मय उठे जाग, उठे जाग,
मृत्योर्माऽमृतं गमय
जन चिर अनुयायी !

(१५ अगस्त, १६५०)

शरद चेतना

शरद चेतना प्रकृति सौन्दर्य का कल्पना प्रधान रूपक है। इसमें धरती की ऋतुएँ, हेमन्त, शिशिर, वसन्त आदि, आकाश-वासिनी शरद ऋतु का अभिवादन करती हैं, जो पृथ्वी पर उतरकर चारों ओर श्री सुख शान्ति का संचार करती है। फूल, मुकुल आदि धरती के चराचर आनन्द उत्सव मनाते हैं।

वाचक वाचिका
वर्षा, हेमन्त
ग्रीष्म, वसन्त, शिशिर
प्रकृति, फूल

(वाद्य संगीत)

[आकाश गीत]

शरद चेतना !
प्रीति द्रवित अमृत स्रवित
शुचि हिम हसना !

चन्द्र वदन, कुन्द दशन,
उडु स्मित सर उर चेतन,
स्वप्न पलक पद्म नयन,
निः स्वर चरणा !

सौम्य स्निग्ध वयस कान्ति,
मूर्तिमती खड़ी शान्ति,
मिटी विश्व जनित क्लान्ति,
भू तम अशना !

स्वर्ग स्नात भू रज तन,
कौश शुभ्र काँस वसन,
निखर उठा उर यौवन,
अन्तर्वंचना !

धुले निखिल रूप रंग,
धुले मधुर प्राण अंग,
निर्मल जीवन तरंग,
कल्मष शमना !

गन्ध अनिल रजत श्वास,
तृण तरु पर मुक्त हास,
लहरों पर ज्योति लास,
सारस रसना !

वाचक

अब वर्षा का व्योम, बरस रिमझिम झड़ियों में,
कोमल हरियाली में हँस, बिछ गया धरा पर,
जो गेहूँ के नवल प्ररोहों में रोमांचित
कँप-कँप उठती भू छायातप की लहरों में !

रँग-रँग के फूलों की हँसमुख उड़ती चितवन
इन्द्रधनुष छायाएँ बरसातीं दिशि-दिशि में,
धरती की सौंधी सुगन्ध से जिनकी सौरभ
प्राण शक्ति से मर्म भावना-सी घुल-मिलकर
समुच्छ्वसित कर देती मुग्ध हृदय को बरबस !

स्वर्ण कणों के शालि झूम झुक नयन लुभाते
सहज सुहाते स्वच्छ रुपहले कांसों के वन,
मलिन वासना धुल-सी गयी सरित धारा की,
सरसी जल में घुल-सी गयी नवल उज्ज्वलता !

कुमुदों में केन्द्रित हो निशि का अपलक विस्मय
कमलों में खुल सौम्य दिवस के अन्तर्लोचन,
फुल्ल चन्द्र का, स्निग्ध सूर्य का स्वागत करते !
चल खंजन नयनों से, कल चातक पुकार से
भू का सद्यः स्नात मनोरथ प्रकट हो रहा !

मौन मधुर लग रहा धूप का सुधर धुला मुख
अंगों से लावण्य फूट-सा पड़ता निश्छल,
डूब भावना में नव यौवन की निर्ममता
कोमल-सी पड़ गयी,—मध्य वय के आग्रह से
मार्दवता आ गयी मनोरम मातृ प्रकृति में !

वाचिका

चिर रहस्यमय तारात्रों का छाया पथ नभ
निज असंख्य नयनों के विस्मय से हरता मन,
स्वप्नों के स्मित ज्योति प्ररोहों से दिक् पुलकित
व्योम हँस रहा दीप्त दिवौषधियों के वन-सा !

निखर उठी नीलिमा, नयनिमा-सी अनन्त की,
निखर उठी नीहार कान्ति निर्वाक् शान्ति में,
वृष्टि धौत नीलिमा रहस आभा से गुम्फित
महाजागरण-सी सोयी स्मित अन्तरिक्ष में
निबिड़ अकम्पित जल-सी निस्तल निश्चेतन की
महा चेतना के पावक से लगती गर्भित !

वाचक

चन्द्रकला का मुकुट धरे निज ज्योति भाल पर
हीरक कनियों की शत ज्वालाओं से जगमग,
तारक लड़ियाँ गूँथ नील लहरी वेणी में
रजत वाष्प जलदों के सतरँग पंख खोल स्मित,
नवल शारदीया, सुन्दर सुरबाला-सी हँस,
उतर रही, स्वर्गंगा-सी साकार गगन से !

व्योम वासिनी, सूक्ष्म स्वप्न देही आभा वह,
—दिव्य अदिति-सी अन्तर्मन के रजत गगन में,—

उतर रही भू पलकों पर अनिमेष स्वप्न-सी
शब्द स्वर रहित अन्तरतम की तन्मय लय में !
ज्योति द्रवित वह, जिसके स्वप्निल गीलेपन से
भीग रहे मन प्राण मौन शोभा में मज्जित,
अमृत चेतना वह, जिसके अन्तः प्रवाह में
डूब रहे उर के तट, भाव तरंग ध्वनित हो,
नीरव कलरव से गुंजित हर्षातिरेक के !

(वाद्य संगीत)

वाचिका

फूलों की पंखड़ियो, कोमल रँग बरसाओ,
लोल लहरियो, सरसी उर में लय हो जाओ,
तरु मर्मर, निज अस्फुट कम्पन में खो जाओ,
ताराओं की पलको, झिलमिल कर सो जाओ !
प्रिय चकोर, तुम पृथ्वी के अँगार चुग जाओ,
शुभ्र हंस पंखो, उड़ान बनकर रह जाओ—

शरद चन्द्रिरा उतर रही धीरे धरती पर
भारहीन सुकुमार अंगभंगी में ओझल,
निज अदृश्य पग, धरती पंखुरियो, लहरों पर,
स्वप्न स्पर्श-सी पलकों पर, स्मिति-सी अधरों पर !
देखो, फूलों पर हँसते अब रजत तुहिन कण
लहरों के अधरों को चूम रहे स्मित उडुगण,
झलक उठे पत्तों के करतल में मुक्ताकण,
ज्योत्स्ना के पद चिह्नों से अब अंकित भूतल !

भौतिक ज्योति नहीं है केवल शरद चाँदनी,
आत्म लीन वह अमर चेतना स्वर्ग लोक की,
अतिक्रम कर सब दिशा-काल, तन-मन के बन्धन,
आत्मोल्लास प्रदीप्त, हुई परिव्याप्त चतुर्दिक् !
मधुर प्रणय का स्वप्न हृदय की पलकों में ज्यों
प्रथम बार मुसकाया सद्योज्ज्वल विस्मय में
नहीं भूमिजा वह, वैदेही भाव शरीरी,
उसके अंचल की पावन छाया में आओ,
फूलों की मृदु पलको, स्वप्नों से भर जाओ,
लोल लहरियो, नव लीला लावण्य दिखाओ !

वाचक

स्यात् हृदय की वीणा होती, तार प्रणय के,
कोमलता का स्पर्श, रुपहली गूंजों में जग
सुन्दरता झंकृत हो उठती निःस्वर लय में,
स्वर्गिक स्वर संगति बन उर के श्रवणों के हित,
मनोनयन तब कहीं देख पाते उस छबि को
शरद चन्द्रिका में अरूप साकार हुई जो,

प्रीति ज्योति-सी, स्वप्नों के अंगों में मूर्तित,
स्वर्ग धरा के भावों की सुषमा से भूषित !

(वाद्य संगीत)

वाचिका

परिक्रमा करतीं भू ऋतुएँ शरद विभा की,
बारी - बारी से हेमन्त शिशिर वसन्त आ,
ग्रीष्म और वर्षा, रंगों से, धूप - छाँह से
जल बूँदों से, हिम फुहार से करते स्वागत
पिक चातक के, नृत्य - मयूरों के कण्ठों से
अभिनन्दन गा, शत नव लध्वो, कमल दल बरसा !

वाचक

सर्व प्रथम हेमन्त कर रहा आत्म निवेदन,
भरा झुर्रियों से आनन, सकुचाया-सा मन
काँप रहे मृदु अधर, वाष्प से आर्द्र हैं नयन,
घने कुहासे में - सा लिपटा उसका जीवन !
ठण्डा हो पड़ गया सकल उत्साह, क्लान्त मन,—
ठिठका-सा लगता नभ, ठिठुरा-सा भू प्रांगण !

(हेमन्त का गीत)

जीर्ण पलित पीत पात,
कम्पित हेमन्त गात !

हैम धवल पक्व केश,
क्षीण काय, सौम्य वेश,
मन्थर गति, मन्द कान्ति,
नतदृग मुख वारिजात !

रजत धूम भरे अंग,
फूलों के उड़े रंग,
सरसि में न अब तरंग,
शीत भीत श्वास वात !

मौन स्वल्प दिवस मान,
रवि में ज्यों चन्द्र भान,
मुक्त अब न विहग गान,
अश्रु सजल हिम प्रभात !

सिमटे मन देह प्राण,
अधरों का राग म्लान,
प्राणों के निकट प्राण
दीर्घ स्वप्न भरी रात !

(वाद्य संगीत)

वाचिका

छोड़ श्वास फूत्कार धूलि के साँप नचाता
जरा जीर्ण जगती के पीले पात उड़ाता,
ध्वंस भ्रंश करता-सा क्रुद्ध शिशिर अब आता
झंझा पर चढ़, थर-थर कँपता, ओठ चबाता !
सी-सी सीटी बजा, रुदन में भरता गायन,
समदर्शिनी शरद का वह करता अभिवादन !

शिशिर का गीत

सन् - सन् बहता समीर,
बेधते सहस्र तीर !
शिशिर सीत्कार भीत
कँपता रज का शरीर !

झरते मर जीर्ण पत्र,
गिरते कँप विटप छत्र,
विचर रहा दुर्निवार
क्रान्ति दूत-सा अधीर !

बो रहा प्रचण्ड बीज
जड़ता पर खीझ-खीझ,
जीवन के नव प्ररोह
विहँसें भू गर्भ चीर !

सिहर रहे तृण तरु खग,
सिहर रहा धूसर जग,
सिहर उठे भूधर पग,
सिहर रहा लहर नीर !

नग्न भग्न विश्व डाल,
सृजन ध्वंस रे कराल,
सुलगें स्वर्णिम प्रवाल
मिटे निखिल दैन्य पीर !

वाचक

नव वसन्त आता अब अधरों में भर गुंजन,
सौरभ से पुलकित मन, फूलों से रंजित तन,
नव-भू यौवन - सा, स्वप्नों से अपलक लोचन,
कुहू - कुहू गा, प्राणों का सुख करता वर्षण !
शरद चेतना में परिणत अब रंगों के क्षण
फूल बने फल, पर्ण काँस, परभृत मरालगण !

(वसन्त का गीत)

नव वसन्त आया !
कोयल ने उल्लसित कण्ठ से
अभिवादन गाया !

रंगों से भर उर की डाली
अधर पल्लवों में रच लाली,
पंखड़ियों के पंख खोल स्मित
गृह वन में छाया !

सौरभ की चल अलकें मादन,
फूल धूलि में लिपटा मृदु तन,
नव किशोर वय, क्रीड़ा चंचल,
अग-जग को भाया !

मधुपों के सँग कर मधु गुंजन
मंजरियों में पिरो स्वर्णकण,
दिशि-दिशि में नवफूल वाण भर
मन्मथ मुसकाया !

धरा पुत्र यह, फूलों के अँग
प्राणों मे इच्छाओं के रँग,
जीवन के श्री सुख वैभव में
ऋतुपति कहलाया !

वाचक

अह, निदाघ बरसाता चितवन के पावक कण,
जग के प्राण तपाता, झुलसाता भू-जीवन !
भू-लुण्ठित छाया, कुम्हलाया लतिका-सा तन,
प्यासा जल अब, उड़ा भाप बनकर गीलापन;
प्रतिक्षण तपकर, जीवन से कर कटु संघर्षण
समदर्शी बन ग्रीष्म शरद का करता वन्दन !

(ग्रीष्म का गीत)

तरुण तापस वीर,
उग्ररूप, प्रचण्ड त्रिनयन-सा
निदाघ गभीर !

धूलि से धूसर जटा घन,
मौन वचन, मुँदे विलोचन,
रुद्ध श्वास, सुखद तृणासन,
वस्त्र विरत शरीर !

तप रहे क्या व्योम भूतल
वह्नि लगती दाह शीतल,
तप्त कांचन देह निश्चल
ध्यान में रत धीर !

दौड़ता पागल प्रभंजन
अग्नि के बरसा ज्वलित कण,
म्लान फूलों का लता तन,
शेष तट अब नीर !

रुद्र चक्षु कराल अम्बर
कृश सरित, पंकिल सरोवर,
तड़पते खग मृग, अगोचर
चुभ गया हो तीर !

वाचक

लो, वर्षा की घनश्यामल वेणी लहरायी,
धरती को रोमांच हुआ, हरियाली छायी !
प्राणों में अब जगा गहन जीवन उद्वेलन,
अम्बर में गर्जन, दिशि-दिशि में विद्युत् नर्तन !
इन्द्रधनुष में हँसा गगन का सूना प्रांगण

बर्ह भार में खुला रंग चंचल भू जीवन !
स्निग्ध शरद का आँगन धो, निज दृग का अंजन,
सोन बलाक स्वरों में वर्षा करती वन्दन !

वर्षा का गीत

नीलांजन नयना,
उन्मद सिन्धु सुता वर्षा यह
चातक प्रिय वयना !

नभ में श्यामल कुन्तल छहरा
क्षिति में चल हरितांचल फहरा,
लेटी क्षितिज तले, अर्धोत्थित
शैल माल जघना !

इच्छाएँ करतीं उर मन्थन
चिर अतृप्ति भरती गुरु गर्जन,
मुक्त विहँसती मत्त यौवना
स्फुरित तड़ित दशना !

रजत बिन्दु चल नूपुर झंकृत
मन्द्र मुरज रव नव घन घोषित,
मुग्ध नृत्य करती बर्हस्मित,
कल बलाक रसना !

बकुल मुकुल से कवरी गुम्फित
श्वास केतकी रज से सुरभित,
भू नभ को बाँहों में बाँधे
इन्द्रधनुष वसना !

वाचिका

धरती की ऋतुएँ मिलकर करतीं अभिवादन
चन्द्रमुखी नभ की ऋतु का अनिमेष नयन हो,
विहगों के स्वर, सर के कमल, घनों का वादन,
भू के रंगों का वैभव अर्पण कर उसको !
रक्त जवा फूलों से रँगकर उसके पदतल

आम्र मौर का मुकुट, कुँई के कर्ण फूल रच,
हर सिंगार वेणी, बेला कलियों की माला
मधुपों से गुंजित कदम्ब मेखला बाँधकर,
करती मानस पूजन वे स्वर्गीय विभा का!
हंसों के चल पंखों से झल मन्द मृदु व्यजन,
ज्योतिरिंगणों से जगमग द्युति नीराजन कर
मधुर स्तवन गातीं वे ऋतुओं की रानी का,—
किरणोज्ज्वल लहरों के पायल बजा रजत रव,
शिखी पिच्छस्मित परिक्रमा कर नृत्य मत्त हो!

शरद का गीत

अब शुभ्र गगन में शुभ्र चन्द्र
नव कुन्द धवल तारावलि री,
अब शुभ्र अवनि में शुभ्र सरसि,
सरसी में श्वेत कमल दल री!
भू वासिनि ऋतुएँ अन्य सभी,
तुम नभ वासिनि चिर निर्मल री,
वे धरती की रज में लिपटीं,
तुम स्वर्गंगा-सी उज्ज्वल री!
अब काँस हास-से श्वेत धरा,
सरसिज से सित सरिता जल री,
चल हँस पाँति से शुभ्र पवन,
शशि-मुख से स्मित नभ मण्डल री!
बेला जूही के फूल धवल,
हिम धवल कुन्द कलियाँ कल री,
तुम चन्द्र शिखा की स्नेह विभा
जो स्वर्ण शुभ्र चिर शीतल री!
आती - जातीं ऋतुएँ जग में
कर जातीं भू उर चंचल री,
तुम शरद चेतना स्वर्गोज्ज्वल
बरसाती नित जन मंगल री!
वे जीवन रंगों का मोहक
फैलाती छाया अंचल री,
तुम प्रीति द्रवित स्वर्गाभा - सी
पावन कर जाती भूतल री!
तुम पारदर्शिनी, ज्योतिर्मयि,
अन्त: शोभा मयि निश्छल री,
अस्पृश्य अदृश्य विभा उर की,
वे रूपमयी रज मांसल री!

वाचक

रजत नील जल-सी अम्बर सरसी की निर्मल
जिसमें स्वप्नों की अप्सरियाँ तिरती रहतीं,

अपनी ही आभा में ओझल शरद चन्द्रिका
कोमलता - सी, तन्मयता - सी, दिव्य दया - सी
विचर रही धरती पर सस्मित स्वप्न चरण धर,
शोभा के स्वर्गीय ज्वार में डूबा दृष्टि तट।
मुग्ध धरा उर के भावों-से फूलों के शिशु
रँग-रँग की स्मिति बरसा, गाते शरद वन्दना !

फूलों का गीत

आओ हे हँसमुख फूलो, हिलमिलकर हम सब गावें
शरद चेतना के आँगन में उत्सव मधुर मनावें !
रंग पँखड़ियों के पर फैला अम्बर में उड़ जावें,
रजत सुरभि के अलक जाल में मारुत को उलझावें !
अपलक चितवन के स्मित चंचल वन्दनवार बँधावें
जन भू के पथ पर हँस-हँस शत इन्द्रचाप बरसावें !
तुहिनों के मोती किरणों में पोकर हार बनावें,
डाल-डाल पर उर स्वप्नों के मोहक जाल बिछावें !
फूलों का तन फूलों की बाँहों में भर सुख पावें,
स्नेही मधुपों की मधु गुंजन सुनकर प्राण जुड़ावें !

वाचिका

डूब रहा नभ, डूब रहीं दिशि, डूब रही भू,
एक अनिर्वचनीय महत् आनन्द में अमित,
द्रवित हो गयीं निखिल रूप रेखा धरणी की,
लीन हो गयीं अखिल असंगतियाँ जड़ता की,
विस्मय से अभिभूत प्रकृति के उर से उठता
जिज्ञासा से भरा मौन संगीत गगन को !

प्रकृति का गीत

क्यों हँसते रहते फूल मधुर, क्यों लहरें नित नाचा करतीं,
क्यों इन्द्रधनुष छायांचल में किरणें छिप-छिप सतरँग भरतीं ?
क्यों उषा लालिमा मौन सलज नव मुग्धा-सी मन को हरती,
क्यों कुहू-कुहू गाती रहती कोयल चिर मर्म व्यथा सहती ?
क्यों अपलक तकते रे तारे, सपने देखा करती धरती,
क्यों शशि को बाँहों में भरने सागरवेला उठतीं गिरतीं ?
निज सुख-दुख की ही चिन्ता में क्यों डूबी रहती है जगती
क्यों स्वप्नों के पर खोल न वह प्रिय तितली-सी उड़ती-फिरती?
जो घृणा द्वेष की अँधियाली इस धरती में फैली रहती
तुम उर का प्यार उडेल उसे धो डालो हे, ज्योत्स्ना कहती !

वाचक

अंचल पकड़ प्रकृति का गाते नवल मुकुल दल
अर्ध खुले विस्मित नयनों से प्रथम बार ज्यों
निरख धरा की दुग्ध स्नात अन्तःश्री उज्ज्वल !

हरित गौर भू उर पर सोया रजत नील नभ
स्वप्न देखता हो विराट् सौन्दर्य के अमर !

मुकुलों का गीत

हास लास हो हुलास,
सुरभित हो साँस-साँस !

चाँदनी खिली अपार
स्वप्नों का उठा ज्वार,
मौन मुग्ध आर - पार
शोभा श्री का विलास !

प्रकृति कर रही विहार
उमड़ रहा अतल प्यार,
जगत रे नहीं असार
सुन्दरता आस - पास !

चन्द्रमुख रहा निहार,
सिन्धु उर रहा पुकार,
प्राणों का यह निखार
पान्थ, अब न रह उदास !

खोल रुद्ध हृदय द्वार,
गूँज उठे मूक तार,
जीवन रे वृथा भार
अन्तर में जो न प्यास !

उच्च हो सदैव ध्येय
मन: शक्ति हो अजेय,
शान्ति सौख्य अपरिमेय,
वरद शरद भू निवास ।

वाचिका

दुग्ध फेन-सा, म्लान कमल-सा, स्फटिक खण्ड-सा
पावस का शशि उज्ज्वल किरणों से मण्डित हो
दमक उठा अब रजत वह्नि के ज्योतिकुण्ड-सा !
निखिल सृष्टि की शोभा का प्रतिमान रूप-सा,
विश्व प्रकृति के चन्द्रानन-सा चारु सुधाकर
शरद चेतना के प्रेमोज्ज्वल आर्द्र हृदय-सा
बरसा रहा धरा पर स्नेह सुधा के निर्झर !
शान्तगगन अब, सौम्यप्रकृति, स्मितस्निग्धदिशाएँ,
मुग्ध चराचर चन्द्र वन्दना करते नीरव !

(वन्दना गीत)

बरसो ज्योतिर्धाराओं में
बरसो धरती के मानस धन,

अब निर्मल नभ, अब धुला धरा मुख,
खुले सरसि के कमल नयन !

मिट्टी के प्राण प्ररोह जगे,
सात्विक लगते काँसों के वन,
अब हंसों के पंखों में उड़
हँसता धरती का उर चेतन !

बरसाओ हे नव श्री शोभा
हो स्वप्नों से स्मित भू प्रांगण,
लहरों में झलके रजत ज्वाल
फूलों की पलकों में हिमकण !

बरसो हे स्वर्ण सुधा के घट,
बरसो हे रजत विभा के घन,
बरसो भू मानस के प्रतीक,
चेतना सिक्त हों सब भू-जन !

(१ सितम्बर, १९५१)

शिल्पी

[प्रथम प्रकाशन-वर्ष : १९५२]

डॉ॰ नगेन्द्र को
सस्नेह

विज्ञापन

'शिल्पी' में मेरे तीन काव्य-रूपक संगृहीत हैं, जो अंशतः आकाश-वाणी के विभिन्न केन्द्रों से प्रसारित हो चुके हैं। इन रूपकों में वर्तमान विश्व-संघर्ष को वाणी देने के साथ ही नवीन जीवन-निर्माण की दिशा की ओर इंगित करने का प्रयत्न किया गया है।

१५ सितम्बर '५२ सुमित्रानंदन पंत

शिल्पी

(कलाकार का अन्तःसंघर्ष)

शिल्पी
शिष्या
दर्शकगण
आमन्त्रित जन
जननायक

प्रथम दृश्य

[शिल्पी का कला-कक्ष, जिसमें विविध आकार-प्रकार की मूर्तियाँ रखी हैं। शिल्पी की शिष्या मूर्तियों को झाड़-पोंछकर अलमारियों में संजो रही है। वृद्ध शिल्पी पर्दे की आड़ में एक नवीन प्रतिमा के निर्माण से संलग्न है। वह दत्तचित्त होकर छेनी पर हथौड़ी चला रहा है और बीच में गुनगुनाता जाता है।]

गीत

निर्मम हृदय शिला! (निश्चल)
कैसे आँकूँ प्रियतम की छवि
जड़ पाषाण जिला!
मति की छेनी इन्द्रिय कुण्ठित
पौरुष घन तृष्णा कर लुण्ठित,
कैसे कटे अचेतन पाहन
उर से रिला-मिला!
दीप तले छाया अँधियाला
मन ने ममता का तम पाला,
अमर चेतना स्पर्श बिना कब
मानस कमल खिला!

शिल्पी : (खीझकर)

यह पाषाण नहीं मानेगा मेरा अंकुश!······
निष्ठुर प्राण नहीं पिघलेगा,···इस पत्थर से
माथा पच्ची करना अपना सिर धुनना है!
वज्र मूढ़, निष्ठुर, दुराग्रही धरा पुत्र!···यह
सौम्य कला के स्पर्शों से कैसे चेतेगा,
रूढ़ि ग्रस्त आत्मा के जड़ संस्कार बदलकर!
धरती के निश्चेतन का निश्चेष्ट तमस यह
अपना निष्क्रिय आलस सहज नहीं छोड़ेगा;
इसके अन्तस में सोयी जो मूक चेतना
दुर्मति उसे नहीं जगने देगा, बाधक बन!
लो, छेनी भी टूट गयी!···उँह, कुन्द पड़ गयी
मरी धार सिर खपा-खपाकर! सरला बेटी,
मुझे नया गुलसुम···फुलना तो देना बेटा!
यह किर्रा बेकाम हो गया, फूल-पत्तियाँ
नहीं काटता···तिलरा भी लेती आना!···हाँ,

पहिले गोलाई ले लूं !···यह रहा खेरना !
ठोक-पीट, देखूं, पत्थर में फूल खिल उठें !

(फिर कार्य-व्यस्त हो जाता है)

गीत

आ जाता वसन्त पतझर में
प्राणों का स्पन्दन प्रस्तर में,
जगती दिव्य ज्योति अन्तर में !
तम के मूल हिला !

दीपित होता अन्धकार नव,
जड़ में चेतन का निखार नव,
नाम रूपमय निराकार नव,
सार्थक सृजन कला !

जीवन संघर्षण होता लय
मिटता जरा मरण दुख का भय,
हँस उठता नव युग अरुणोदय
भव संग्राम झिला !

(छेनी रखकर मूर्ति का निरीक्षण करता है)

शिल्पी : ईश्वर! ···अब जाकर पाषाण सजीव हुआ कुछ! ···
युग विप्लव की पृष्ठभूमि साकार हो गयी,—
प्रस्तर के उर में युग जीवन का समुद्र ही
हिल्लोलित हो उठा, क्षुब्ध जन आवेशों में !
मेघों में विद्युत्-सी, तरुवन में झंझा-सी,
अन्धकार को चीर, नयी चेतना-शिखा ज्यों
दौड़ रही जन-मन में, दीपित कर शत आनन !
गर्वोन्नत मस्तक, विस्मय से खुले हुए मुँह,
विस्फारित लोचन, विस्तृत उर, उठी भुजाएँ—
सागर लहरों-से, दावा लपटों-से जनगण
जीवन आकांक्षा से लगते स्पन्दित-कम्पित,—
मधु ज्वाला से वेष्टित नव तरु शाखाओं-से ! ···

निखिल दृश्य पट आन्दोलित है नव भावों से !
एक बृहत् चट्टान फलक ही नव चेतन हो
जीवन की गति से हो उठा अवाक् गुंजरित !
रेखाओं में ध्वनित हो उठा मूक अचेतन,
प्राणों के स्पर्शों से जाग उठी चिर निद्रा ! ···
आः, अनन्त यौवन अब फूट पड़ा पाहन में !
भंगुर जीवन को बन्दी कर शिलाखण्ड ने
अमर कर दिया, कालचक्र की गति स्तम्भित कर !
मूर्त हो उठा नव युग का इतिहास वृत्त ही !
सीमा में निःसीम, अमरता को मृण्मय में,

बाँध दिया शाश्वत को क्षण में, रहस शिल्प ने !
रूप बढ़ गया है अरूप से,···स्थूल सूक्ष्म से !

(ध्वनि-प्रभाव द्वारा आशा का निराशा में परिणत होना)

किन्तु नहीं, यह मात्र भावना का प्रमाद है !
आत्म मुह्यता है, भावुक मन बहक रहा है !
कलाकार के अहंकार, तू बाधक मत बन,
तेरा यह शिशुओं का-सा उल्लास व्यर्थ है !
हाय, अभी तो तू छाया ही पकड़ सका है,
अभी स्वर्ग-सोपान पार करना है तुझको ! ···
बिना शिखर के पर्वत कैसा ? वह गौरवमय
शिखर अभी ओझल है तुझसे! आवृत है मन! ···
उसके बिना प्रभाव शून्य है दृश्यपटी यह ! ···
युग की आत्मा को, युग जीवन के प्रतीक को
मुझे प्रतिष्ठित करना होगा मानव मन की
युग निर्मम पाषाण शिला पर, कला स्पर्श से !
तभी सफल होगा मेरा यह स्वप्न शिल्प का ! ···
किन्तु अभी कल्पना चक्षुओं के सन्मुख भी
पूर्ण अवतरित नहीं हो सका महत् सत्य वह,
जिसमें जीवन के विरोध हो सकें समन्वित,
जिसमें जन आकांक्षाएँ हो सकें प्रतिफलित,—
मूर्तिमान हो सके निखिल चेतन युग वैभव ! ···
मुझे खोजना है अनेक के गुह्य एक को,
अभी दूर है साध्य,···अभी निष्प्राण है शिला !

शिष्या : दादा, इधर न जाने क्या हो गया आपको,
आप सदा चिन्तित-से, खोये-से रहते हैं !
बार-बार इन अनगढ़ पाषाणों को गढ़कर,
उनमें जीवित रेखाएँ, उर की धड़कन भर
तोड़-फोड़ देते फिर उनको निर्ममता से,···
ऊब-खीझकर,···उन्हें अधूरा छोड़ सदा को !
कितने ही सुन्दर मुख, कितने ही सुडौल धड़,
हँसमुख, अकलुष आकृतियाँ, निरुपम मुद्राएँ,
सुघर बोलती-सी प्रतिमाएँ, जिन्हें देखकर,
मैं अवाक् रहती विस्मय से,—उन्हें भ्रूण में
आप नष्ट कर देते हैं, अपना अमूल्य श्रम
व्यर्थ गँवाकर !

शिल्पी : ठीक कह रही हो तुम बेटी,
किन्तु मुझे सन्तोष नहीं अपनी कृतियों से !
नित्य नये रूपों रेखाओं में जगती जो
दिव्य मूर्ति मेरे मन की आँखों के सम्मुख
उसे अभी मैं बाँध नहीं पाया हूँ अपनी
शिल्प कला में! ···जब तक उसको जड़ प्रस्तर में

अंकित करने की चेष्टा करता प्रयत्न से
उसका रूप बदल जाता कल्पना क्षितिज में !···
आँखमिचौनी खेला करती वह नित मुझसे—
धूपछाँह के पट में ओझल हो रहस्य-सी !
नहीं जानता, कैसे इस संक्रान्ति काल की
नित्य बदलती हुई वास्तविकता के पट में
मूर्तित करूँ चिरन्तन सत्य मनुज आत्मा का !
परिवर्तित होती जग की वास्तवता प्रतिदिन,
किन्तु नहीं आदर्श बदलता है उस गति से,
उसका दिन, कहते हैं, ब्रह्मा का दिन होता !
बाह्य क्रान्ति ही मात्र नहीं यह भौतिक युग की,
बदल रहा अन्तर का भी आदर्श साथ ही;
आज कला को अभिनव को कल्पित करना है,
मिट्टी की जड़ता में फूँक सके जो जीवन !
हार गया मैं खोंट - खोंट पाषाण शिला को
पर आदर्श नहीं अँट पाता रेखाओं में,
सूक्ष्म सत्य, छाया-सा खिसक, दूर हट जाता !···
विस्मित हूँ मैं !

(अन्तःसंघर्षद्योतक ध्वनि-प्रभाव)

शिष्या : बाहर कुछ दर्शक आये हैं !
शिल्पी : उनका स्वागत कर, अन्दर ले आओ बेटी !

(दर्शकों का प्रवेश)

कुछ दर्शक : हम विश्रुत शिल्पी का अभिवादन करते हैं !
शिल्पी : कलाप्रेमियों का सविनय स्वागत करता हूँ !
शिष्या : कलाकक्ष का अनुशीलन करने आये हैं !
शिल्पी : इनको कक्ष दिखाओ बेटी !
शिष्या : बड़े हर्ष से !
शिल्पी : उधर शिल्प के कुछ विशिष्टि प्रतिमान पड़े हैं,
जो नवीन हैं : सम्भव, इनकी मार्जित रुचि को
उनसे कुछ परितोष मिले !
एक दर्शक : निश्चय ही, ऐसे
निरुपम कला प्रतीकों का अवलोकन करके
किसकी आँखें तृप्त न होंगी !
दूसरा : अद्‌भुत कृति हैं !
तीसरा : चलो, इधर ही से देखें,···यह गांधीजी की
प्रतिमा है !
शिष्या : जी, यह प्रसिद्ध दाण्डी यात्रा के
जननायक गांधीजी हैं !
एक : उन्नत मस्तक पर
रोली चन्दन का, जन श्रद्धा का प्रतीक-सा,
मंगल तिलक सुशोभित है, दक्षिण कर में स्थित

उनकी चिर परिचित लाठी है, जो बापू के
दृढ़ निश्चय-सी आगे बढ़ने को उद्यत है!
दायाँ पैर उठाये, स्थिर निर्भय मुद्रा में
खड़े हुए वे, युग प्रभात किरणों से मण्डित
मेरु शिखर-से सुन्दर लगते,—दीपित आनन,
लोक जागरण की उज्ज्वल चेतना शिखा-से!
आत्मत्याग के शुभ्र चिह्न-सी घुटनों तक की
लुंगी पहने भारतीय जन निर्धनता की
मित भूषा-सी,–तप:पूत कृश स्वर्णिम तन पर
खादी की प्रिय चादर ओढ़े, सात्विकता की
रजत चन्द्रिका-सी दुग्धोज्ज्वल,—शान्त सौम्य वे
देवपुत्र-से निरुपम लगते, स्निग्ध हास्यमय!

दूसरा : शत प्रणाम इस महापुरुष को!

तीसरा : जीवित कृति है!

शिष्या : चिन्तन की मुद्रा में बैठे हैं बापूजी
इस प्रतिमा में!

एक : बड़ी लोकप्रिय मुद्रा है यह!
कलान्यास में, टाँगों को घुटनों से मोड़े,
ध्यान मौन, अन्त:स्थित हैं कर्मठ युगद्रष्टा;
तेजोमय, निर्वात अकम्प शिखा-सी लगती
ऊर्ध्व देह,···अधरों के सन्मुख दक्षिण कर की
मुट्ठी बँधी हुई, निर्मम संकल्प से भरी!
निश्चल पलकों पर केन्द्रित एकाग्र दृष्टि में
स्वर्णिम छाया झलक रही सक्रिय चिन्तन की,—
अन्धकार को भेद युगों के ज्यों भारत की
उज्ज्वल भावी देख रहे हों उदय शिखर पर! ···
मानव जीवन के शिल्पी-से लगते शोभित!

दूसरा : बड़ी भावव्यंजक प्रतिमा है! मुखमण्डल की
मौन कान्ति गम्भीर मेघ से चन्द्रबिम्ब-सी
फूट रही है,—चिन्ता से आशा किरणों-सी!

शिष्या : विश्व वन्द्य गांधीजी का यह अर्धकाय है!

तीसरा : अनुपम है! ···'मुख पर चिरपरिचित हास्य रेख है!—
'शान्ति हिमाचल की चोटी पर नहीं मिलेगी,
उसे प्राप्त करना होगा मानव समाज में,
प्रतिदिन के कर्मों में, जीवन संघर्षण में',—
ऐसा कहनेवाले, कर्मनिरत बापूजी
सौम्य हास्य बरसाते रहे विपण्ण धरा पर
अनासक्त उर का सुख वितरण कर जनगण में!

दूसरा : नि:संशय, आदर्श वस्तुवादी थे बापू!

शिष्या : इधर खड़े गांधीजी सविनय हाथ जोड़कर!

तीसरा : विविध रूप में ज्यों सर्वत्र विराजमान हों!

एक : अभिवादन करते हैं इसमें वे जनगण का!

यह प्रसिद्ध प्रतिकृति है उनकी : भारतजन के
प्रिय अधिनायक जिस विनम्रता की प्रतिमा थे
यह कृति उसकी सुस्मृति चिर जीवित रक्खेगी !
जहाँ अन्य देशों के जननायक इस युग में
अंगरक्षकों से बहु रहते घिरे निरन्तर,
वहाँ अहिंसक बापू निर्भय स्वर्ग दूत से
मुक्त विचरते रहे सतत जनगण समूह में,—
सागर लहरों-से जो, जय घोषों से मुखरित,
उन्हें सुरक्षित रखते थे श्रद्धावेष्टित कर !

दूसरा : अपराजित व्यक्तित्व रहा उनका देवोपम !
पावन वे कर गये धरा को चरण प्रणत कर,
गौतम ईसा-से, जग को सन्देश दे अमर !

शिष्या : गौतम बुद्ध उधर शोभित हैं ध्यानावस्थित !

एक : आत्मवृन्त पर, अन्त:स्मित हो मानस शतदल ! ...
प्रस्तर का जड़ माध्यम भी अन्तश्चेतन हो
समाधिस्थ हो उठा, शान्ति-सा मूर्तिमान बन !
पद्मासन में लीन,—अर्धस्फुट युगल कर कमल
स्वर्ग दया के अर्घ्यपात्र-से शोभित स्वर्णिम,
विश्व प्रीति शाखाओं-सी आजानु बाहुएँ,
करुणा स्पन्दित वक्ष, रश्मि गुम्फित सागर-सा,—
अन्तर्लोचन, ज्योति शिखर-से ऊर्ध्व अतन्द्रित !

शिष्या : ये मसीह हैं !

दूसरा : दिव्य हृदय, साकार प्रेम से !
स्वर्ग राज्य के अग्रदूत, भगवत् जीवन की
महिमा गरिमा के अन्तर्द्रष्टा, पृथ्वी पर
विचरे जो, उर की पलकों पर अमर स्वप्न ले ! ...
जन-भू के कलुषों को स्वर्गिक रुधिर दान से
पुण्यस्नात कर गये, क्षमा से प्रीति द्रवित कर
हिंस्र धरा उर की निर्ममता की सूली को !

तीसरा : गौतम से गांधी तक भू जीवन विकास क्रम
विचरण करता स्वप्न चरण धर कला कक्ष में !
भू जीवी को पुन: स्वर्ग चेतना शिखा का
वाहक बनना होगा, उसको उठा उच्चतर !

शिष्या : यह कवीन्द्र का अर्धकाय है !
कला सृष्टि है !

एक : पूर्ण साम्य है मुखमण्डल की रेखाओं में !
शान्त, श्मश्रु युत मुख श्री जैसे स्वयं काव्य है !

दूसरा : अद्वितीय गायक थे निश्चय कवियों के कवि
गुरु रवीन्द्र, नव युग द्रष्टा, नव जीवन स्रष्टा,
अमर कल्पना-पंख खोल, रत्नच्छाया स्मित
सेतु बाँध जो गये धरा को मिला स्वर्ग से,—
स्वप्न मुखर भावों की नि:स्वर पद चापों से

झंकृत कर मानव आत्मा के नील मौन को !

तीसरा : अद्भुत प्रतिभा थे रवीन्द्र इस युग की निश्चय,
उद्बोधन के गान छेड़, निद्रित वसुधा को
नव जीवन शोभा में जो कर गये जागरित !
मेघ मन्द्र गर्जन भर, मधुपों-सा गुंजन कर
नव वाणी दे गये, सर्वगत मनुष्यत्व को !
राष्ट्र प्रेम का मन्त्र फूंक, जनमन समुद्र को
मातृ भूमि के गौरव से कर गये उच्छ्वसित !

एक : जीवित कला मूर्ति थे कविवर !

शिष्या : उधर देखिए,
लौह पुरुष सरदार पटेल विराजमान हैं !

एक : कर्मनिष्ठ बापू के सैनिक ! ···भव्य मूर्ति है !
दृढ़ प्रतिज्ञ मुख मुद्रा, अविचल गठित कलेवर,
उत्तरीय चिर परिचित झूल रहा कन्धों पर,
विस्तृत वक्ष, विशाल स्कन्ध, ज्यों पुरुषसिंह हों
खड़े सामने ! स्मित नयनों में करुणा ममता
झलक रही उर की, अम्बर में रजत वाष्प-सी !

दूसरा : वह, गवाक्ष पर गौरीशंकर शोभित हैं क्या ?

शिल्पी : वे मेरे अभिनव प्रयोग हैं शिल्पकला के,—
(पास जाकर) चन्द्र कौमुदी की प्रतिमा यह श्वेत स्फटिक पर !

तीसरा : ओह, रजत निर्झरिणी-सी उन्मुक्त छटा में
उमड़ रही जो, प्राणों की चंचल छाया-सी
अपनी ही शोभा में तन्मय, तुहिन फेन का
झीना आँचल फहराये, यह शिल्प स्वप्न-सी
शरद चन्द्रिका है शायद !

एक : स्वर्गीय कान्ति है !

दूसरा : कूँई के अपलक विस्मय से स्मित वक्षःस्थल
मर्म प्रीति के मृदु भावों से लगता स्पन्दित,
वायवीय कल्पना मूर्त हो उठी शिला में,
स्फटिक पाश में बन्दी, स्वप्नों की उड़ान हो !

तीसरा : मुक्त कौमुदी को निज पुलकित बाहु परिधि में
भरने को उत्सुक यह हँसमुख चन्द्रदेव हैं !
लगता है, मानो नव आकांक्षा का तन धर
मूर्त हो उठा हो अनंग सद्यः यौवन में !
अर्धमुँदे नयनों में स्वप्नों का सम्मोहन,
स्पन्दित वक्षःस्थल में तारापथ का वैभव,
अंगों में विजड़ित हो तन्मय मौन पूर्णिभा,—
आभा असि-सी कला सुहाती प्रिय मस्तक पर !
गौरीशंकर ही जैसे नव कला स्पर्श से
चन्द्र कौमुदी के प्रतीक बन गये हों अमर !
दिव्य सृष्टि है !

एक : वह क्या राधाकृष्ण हैं युगल ?

शिल्पी : आप ठीक कहते हैं, दोनों प्रथम दृष्टि में
राधाकृष्ण सदृश लगते हैं,...वैसे मैंने
मेघ दामिनी की मोहक पावस शोभा को
मूर्तित करने का प्रयास है किया शिल्प में !

दूसरा : मौलिक, नित्य-नवीन कल्पना है यह निश्चय !
मौन विद्रवित मेघ कृष्ण-सा लगता सुन्दर,
वाष्पों की लहरायी रेखा पीत वसन-सी,
इन्द्रचाप का अंश दीखता मोर मुकुट-सा
मस्तक पर शोभित !...गम्भीर उदार मेघ छबि
भाव साम्य रखती है अद्भुत घनश्याम से !
अर्ध निमीलित लोचन, कुंचित उलझी अलकें,
करुणा विगलित अन्तर, शोभा निर्झर बाँहें,
नील गगन की पृष्ठभूमि में उभरी आकृति
अनुपम लगती है !

तीसरा : वारिद के उर से लिपटी
पुलक लता-सी आभा देही प्रतनु दामिनी
श्री राधा-सी तन्मय लगतीं कृष्ण प्रेम में !
चंचल अंचल खिसक उच्छ्वसित वक्षःस्थल से
छाया-सा लिपटा है घन के कटि प्रदेश में !

एक : स्वप्न सृष्टि है !

दूसरा : शिल्पकला का चमत्कार है !

शिल्पी : पूर्ण चन्द्र सागर बेला की प्रतिमा है वह,
वाम पार्श्व में !

एक : मूर्तिमान प्रेमाकर्षण है !
उमड़ रही उद्दाम मौन सागर की बेला
नव यौवन की चंचल शोभा में हिल्लोलित,
आकुल, बाँहें उठीं मुक्त भावना ज्वार-सी
पूर्ण चन्द्र को बन्दी करने बाहुपाश में !
पृष्ठदेश पर लहराये घन कोमल कुन्तल
फेनों के स्मित फूलों की माला गुम्फित,
जलप्रसार-सा फैला चल अंचल अकूल ज्यों
अम्बर तट छूने की आशा से उद्वेलित !
अर्धखुले आकर्ण मीन लोचन हैं अपलक,
भ्रू रेखा में चपल भंगियाँ मानो स्तम्भित,—
स्फीत वक्ष में अतल सिन्धु ही प्रीति उच्छ्वसित!
पूर्ण चन्द्र मुसकुरा रहा है, विजय दर्प से
रश्मिपाश में बाँधे उन्मद रूप ज्वार को,
उन्मुख अधरों पर नीरव चुम्बन अंकित कर !

दूसरा : शक्ति स्फूर्ति की द्योतक हैं सप्राण मूर्ति यह !

तीसरा : वह कोने में एकदन्त हैं विघ्न विनाशन !

दूसरा : परिचय देता स्वतः गजवदन प्रणव रूप-सा !

एक : अहा, इधर शोभित हैं मनमोहन मुरलीधर,

मैं इनको ही खोज रहा था ! कैसी स्वर्गिक
भव्य मूर्ति है ! शिल्पकला भी धन्य हो उठी !
मोर मुकुट मस्तक पर, श्रवणों में मकराकृत
प्रिय कुण्डल, जो झाँक रहे कुंचित अलकों से :
सुघर नासिका, अधर मधुर स्मिति रेख-से खिंचे,
वृषभ स्कन्ध, पीताम्बर से भूषित नीरद तन !
करुणा विस्तृत उर में झूल रही वनमाला,
मधु ज्वाला ने रोमांचित गलबाहीं दी हो ! …
केहरि कटि, स्थित अधः ऊर्ध्व त्रिदलों के तट पर
महर्लोक-सी, शोभा स्तम्भों-सी जंघाएँ,—
चरणों में बज उठतीं स्वर्णिम पायल निःस्वर !
भुवन मोहिनी है त्रिभंग मुद्रा त्रिलोकमय,
ज्यों अरूप चेतना हो उठी मूर्तिमान हो !
प्रीतिपाश-सी बाँहें तिर्यक् मुख के सन्मुख
उठी हुईं, प्रिय वलयों से वेष्टित प्रकोष्ठ मृदु,
नव कमलों-से युगल करों के अर्ध प्रस्फुटित
अंगुलि दल में थामे नीरव मोहक मुरली,—
मोहन मुरली, जिसके गोपन संकेतों पर
मुग्ध प्रकृति सर्जन करती गतिलय में नर्तित !

दूसरा : मोहन की मुरली प्रतीक है अमर राग की,—
वह सम्मोहन चराचरों को बाँधे है जो
अपने निर्मम स्वर्णपाश में, विवश मुग्ध कर !

एक : मैं क्रय करना चाहूँगा इस भव्य मूर्ति को !

दूसरा : श्रेष्ठिपुत्र हैं आप !

शिल्पी : प्रसन्न हुआ मैं मिलकर !

तीसरा : पृथ्वी के पुण्यों के फल - सा शुभ्र स्फटिक का
एक मनोरम देवालय, संक्षिप्त स्वर्ग-सा,
श्रेष्ठिपुत्र ने बनवाया है इस प्रदेश में,
अमरों के आरोहण पथ-सा, स्वर्ण कलश स्मित,—
कीर्ति स्तम्भ-सा स्थापित जो भगवत् महिमा का!
मुरलीधर की दिव्य मूर्ति की, शुभ मुहूर्त में,
प्राण प्रतिष्ठा होगी उसमें समारोह से—

एक : मैं सविनय आमन्त्रित करता वहाँ आपको,
शिला कोख से प्रकट किया जिसने ईश्वर को !

शिल्पी : मैं सहर्ष आऊँगा उस मंगल अवसर पर !

एक : प्रभु की इच्छा से प्रेरित हो, और आपकी
शुभ्र कीर्ति से आकर्षित, मैं पुण्य घड़ी में
गृह से निकला मुरलीधर की मूर्ति खोजने !
धन्य हो उठा आज आपकी अमर कला की
स्वप्न सृष्टि को अर्जित कर इस कला कक्ष में !
स्वीकृत करें कृपापूर्वक लघु नम्र भेंट यह
इस अमूल्य निधि के बदले—

शिल्पी : कृतकृत्य हुआ मैं
आज आपके श्रद्धासिक्त मधुर वचनों से !
एक : नत मस्तक मेरा प्रणाम लें !
शिल्पी : चिर मंगल हो !
दूसरा : हमको भी आशीर्वाद दें ! —कष्ट के लिए
क्षमा करें : इस कला कक्ष का अनुशीलन कर
आज महत् प्रेरणा मिली ! —हम चिर कृतज्ञ हैं !
शिल्प कला की अतुल धरोहर हैं ये कृतियाँ,
श्री अकलुष सौन्दर्य आपने सृजन किया है
इस छोटे-से निभृत कुंज में—निखिल विश्व के
अन्तर का अक्षय वैभव संचित कर श्रम से !
निर्मम पाषाणों के उर को प्राणवान कर
उनमें जीवन फूंक दिया जादू के बल से,—
शिला हृदय में स्पर्श चेतना का कर जाग्रत् !
तीसरा : मूर्त कर दिया भाव स्वप्न प्रस्तर पलकों पर
रूप चेतना से झंकृत कर निःस्वर जड़ को
धन्य आपके अमर शिल्प को !
शिल्पी : **(हाथ जोड़कर)** उपकृत हूँ मैं !

(दर्शकों का प्रस्थान)

द्वितीय दृश्य

[विशाल मनोरम देवालय का दृश्य : मुरलीधर की मूर्ति की प्राण-प्रतिष्ठा सम्पन्न हो चुकी है। सन्ध्या का समय, मन्दिर आरती के समारोह से जगमगा रहा है, बाहर का प्रांगण अतिथियों से खचाखच भरा हुआ है, मंगल-वाद्यों के साथ कीर्तन चल रहा है।]

गीत

जय मुरलीधर, जय राधावर,
जय गिरिधर वनमाली,
जय जन - मन वनमाली !
गुंजित नीरव मुरली के स्वर
कम्पित थर - थर अम्बर सागर,
नृत्य निरत सब मुग्ध चराचर
तृण तरु देते ताली,
मनमोहन वनमाली !
स्वप्न मंजरित जन - मन मधुवन,
अपलक लोचन के वातायन,
मर्म प्रीति मर्मर से अनुक्षण
रोमांचित उर डाली,
रहस मिलन वनमाली !

निस्तल प्राणों का यमुना जल
इच्छाओं की लहरें उच्छल,
डूबा मन का कन्दुक चंचल
मथो वासना कालिय,
मेघ वरण वनमाली !
पीताम्बर छवि श्यामल तन पर
स्वर्ण रेख - सी कसी निकष पर
नील गगन से लिपटी सुन्दर
प्रथम उषा की लाली,
पीत वसन वनमाली !
जय अनन्त, जय शाश्वत, अक्षर,
जय जलधर कोमल करुणाकर,
बरस रहे अक्षय रस निर्झर,
जय अतुलित बलशाली,
दैत्य दलन वनमाली !

एक अतिथि : जैसा भव्य प्रयोग कला का देवद्वार यह,
मौन प्रार्थना-सा पृथ्वी की उठा गगन को,—
वैसी ही जीवन्त मूर्ति है मुरलीधर की !
जिनके पावन दर्शन से इस महाभूमि का
जीवन का गौरव सहसा आँखों के सन्मुख
पुनः उदय हो उठता, चिर प्राचीन अनश्वर !
वह वैभव का युग होगा निश्चय भारत का,
जिसमें कल्पित हुआ पूर्ण व्यक्तित्व कृष्ण-से
महापुरुष का ! उस युग की समस्त श्री शोभा,
भक्ति ज्ञान दर्शन की अद्‌भुत महिमा गरिमा,
निखिल रहस भावना, कला कौशल का वैभव
मूर्तिमान हो उठा कृष्ण के दिव्य रूप में !

दूसरा : अभी सुनायी पड़ती जैसे वह वंशी ध्वनि
निभृत निकुंजों, गिरि गहनों में मर्मर भरती,
यमुना की आकुल लहरों में मधु मुखरित हो
निर्जन छाया वीथी पथ से जन-मन हरती !
रहस प्रीति की निश्छल धारा बहती होगी
तब इस भू पर, उर में रस के अमर स्रोत शत
झरते होंगे, जन-मन को विस्मित विमुग्ध कर !
पूर्ण समन्वित होगा उस युग का भू-जीवन,
विशद सन्तुलन होगा भावों में कर्मों में !
विश्व विमोहन मुरलीधर की अमर कल्पना
लोकचेतना की शाश्वत प्रतिनिधि है निश्चय !

तीसरा : काम क्रोध से कुण्ठित, भवतृष्णा से लुण्ठित
आत्मा को कर मोहमुक्त मुरली की मधु ध्वनि
जो नित अन्तरतम में निःस्वर गुंजित रहती,—
निज गोपन आकर्षण से मानव आत्मा को

सतत उठाती रहती स्वर्गिक सोपानों पर
सूक्ष्म भावना के नभ में सच्चिदानन्दमय !
मुरलीधर के श्रीचरणों पर आत्मार्पण कर
शान्त वृत्तियाँ हो जातीं, कालिय - सी मर्दित,
ज्ञान दग्ध हो जाता संचित कर्मों का फल,
मलिन वासना से विमुक्त हो उठता अन्तर !

चौथा : मनोभूमि पर उतरे थे श्री राम, मनुज की
मनश्चेतना को विदेह कर देह भीति से,
मर्यादाएँ बाँध नीति की, सदाचार की
पथ प्रशस्त कर गये जनों का मोह निशा में
इन्द्रिय ग्रस्त तमस की,—जीवन की छाया को
ऊर्ध्व मनुज के चरणों पर कर दर्प विलुण्ठित !
जन के प्राणों के स्तर पर अवतरित हुए थे
लीलामय श्रीकृष्ण, भावना के समुद्र को
मन्थित कर, लालसा चपल मानस पुलिनों को
निस्तल मज्जित कर, ऊर्ध्वग जीवन शोभा का
नव प्लावन भर गये धरा में,—मधुर भाव में
भक्ति द्रवित कर, रस प्रवाह से डुबा जगत को !
योगेश्वर थे निश्चय पुरुषोत्तम रहस्यमय !

(भीतर के आँगन से सँगीत के स्वर आते हैं)

भाव गीत

यमुना तट पर नट नागर ने
कैसी वेणु बजायी,
प्राणों में ध्वनि छायी !

धेनु चराने मैं वन आयी,
मुरली की धुन सुन अकुलायी,
डूबे री मानस यमुना तट,
प्रीतिधार लहरायी, प्राणों०

मधु मंजरित हुई उर डाली,
कूक उठी कोयल मतवाली,
सिहरी देह लता स्मृति पुलकित
प्रिय छवि री मन भाई, प्राणों०

जाने कब भर आये लोचन,
बिसर गया सुधि बुधि उन्मन मन,
घिरे श्याम घन, यमुना जल में
छाया - सी गहरायी, प्राणों०

हिले न जड़ पग, भूल गया मग,
क्या जाने, क्या सोचेगा जग,
मुरली के स्वर में थी निःस्वर
निस्तल व्यथा समायी, प्राणों०

वंशी की ध्वनि का सम्मोहन
समझ गयी आली मन ही मन,
यमुना तट की प्रिय घटना सुन
मन्द मधुर मुसकायी, प्राणों०

जन - मन मोहन री मुरलीधर,
मर्म प्रीतिमय मधु मुरली स्वर,
शाश्वत यमुना तट, वंशी वट,
भेद न कुछ कह पायी, प्राणों०

पाँचवाँ : आज एक पखवारे से इस देवालय में
गायन, वादन, कीर्तन है चल रहा निरन्तर,
एकत्रित हो रहे उमड़ अविराम स्रोत में
भक्ति प्राण जन, पुण्य स्नान करने उत्सव में !
श्रद्धा से प्रेरित हो, भावों से उद्वेलित,
सस्मित आनन, स्पन्दित अन्तर, हर्षित लोचन,
मुरलीधर के दर्शन से पावन कर निज मन
डुबा रहे सुख-दुख उर-उर के रहस मिलन में !
निश्चय, जन-मन में अजेय विश्वास शक्ति है,
नत मस्तक हो उठते जिसके सन्मुख पर्वत,
दुस्तर भवसागर में जिसका सेतु बाँधकर
पार मनुज होते, विघ्नों के शृंग लाँघकर !

छठा : युग - युग से करते आये जन कीर्तन वन्दन,
युग-युग से सुनते आये मुनियों के प्रवचन,—
चिर रहस्य में लिपटे धार्मिक उपदेशों के !
किन्तु नहीं कुछ बदल सका जनगण का जीवन,
दैन्य, अविद्या, अन्धकार के अतल गर्त में
वैसा ही डूबा है जन-मन,—अन्धनियति का
दास बना, निर्मम विधि की इच्छा पर निर्भर !
लगता है, प्रतिमा पूजन मृत आदर्शों का
पूजन-भर है, धर्म भीरु दुर्बल जन जिनको
उर से चिपकाये हैं, स्वर्ग नरक के भय से !
संस्कृति और कला के जीर्ण प्रतीक मात्र जो
उन प्रतिमाओं के सन्मुख नत मस्तक होना
अपमानित करना है मानव की आत्मा को,—
अपने घटवासी ईश्वर के प्रति सशंक हो !
कोई भी आदर्श नहीं, जो पूर्ण चिरन्तन,
इस परिवर्तन शील जगत में, जहाँ निरन्तर
मनुज चेतना विकसित वर्द्धित होती रहती,
प्रति युग में, अपने गत जीवन को अतिक्रम कर!

सातवाँ : वस्तु परिस्थितियों की ही संगठित चेतना,
जिस पर जीवन मूल्य निखिल अवलम्बित रहते,
और प्रतिफलित होती जो सौन्दर्य कला में,—

वह मानव के अन्तर में आदर्शों का भी
रूप ग्रहण कर लेती अन्तः संयोजित हो !
बाह्य परिस्थितियों में जब परिवर्तन आता
जीवन मन के मान बदलते रहते युगपत्,
इसीलिए आदर्श, जो कि नैतिक सत्यों के
मूर्त रूप हैं, परिवर्धित होते रहते नित !

पाँचवाँ : अर्ध सत्य यह : वस्तु पक्ष ही नहीं, प्रबल है
भाव पक्ष भी, —जिससे आवृत है समस्त जड़ !
अपने ही उर की आकृति में ठोंक-पीटकर
मानव ने ढाला है इस जड़ वस्तु जगत् को,
उसको निज अन्तःप्रकाश में भाव द्रवित कर,
आकांक्षा के स्पर्शों से शोभा कल्पित कर !
पर, घट-घट वासी उस सूक्ष्म अमूर्त सत्य को
ग्रहण नहीं कर पाता जन साधारण का मन,
प्रतिमा पूजन का महत्त्व इसलिए सदा ही
बना रहेगा जन मन में, जग के जीवन में !
विशद दृष्टि से, नैतिक आध्यात्मिक सत्यें भी
प्रतिमाएँ ही हैं, सापेक्ष सिद्ध होने से !

छठा : आप मौन क्यों ? इस स्वर्गीय मूर्ति के स्रष्टा,—
प्रतिमा पूजन के महत्त्व पर अपना मत दे
स्वर्ण समापन करें आप ही इस विवाद को !

शिल्पी : जड़ प्रतिमा तो मात्र भाव का कला रूप है !
जीवन के प्रति श्रद्धा, मानव के प्रति आदर,
जीवों के प्रति स्नेह, यही प्रभु का पूजन है !
यह समस्त संसृति ही ईश्वर की प्रतिमा है,
सार रूप में वही व्याप्त है निखिल जगत में,
मानव का मन ही उसका पावन मन्दिर है !
उसे स्वच्छ सुन्दर रखना, उन्नत भावों के
सुमनों से भूषित करना, उर की इच्छा को
प्रभु को अर्पित करना ही मानस पूजन है !
परा शक्ति की ही प्रतिमा है भूत प्रकृति भी,
सूर्य - चन्द्र - तारे जिसका नीराजन करते,
सागर जिसके पावन पद प्रक्षालित करता,
गन्ध समीरण जिसे डुलाता मन्द व्यजन नित,
षड् ऋतुएं जिसकी परिक्रमा करतीं सन्तत
रँग - रँग के फूलों की अंजलि स्नेह भेंट कर,
ध्यान मौन रहते गिरि, नदियाँ गातीं महिमा,—
उस निसर्ग की मधुर मूर्ति में दिव्य शक्ति के
नित्य रूप के दर्शन करना ही पूजन है !
एक चेतना शक्ति व्याप्त जड़ जीवन मन में,
विविध लोक आदर्श उसी के महत् गुणोंके
मूर्त रूप हैं,—जग-जीवन के पोषक पूरक !

श्री शोभा आनन्दमयी वह सृजन शक्ति ही
नित्य अवतरित होती रहती नव रूपों में—
विश्व विधात्री, मंगलमयी, अनन्त चेतना !

पाँचवाँ : यही सत्य है युग-परिवर्तन की क्रीड़ा का,
यही सत्य, जीवन की नित अभिनव लीला का !
चिर विकास प्रिय, चिर सक्रिय है जग जीवन की
अमर चेतना, जो युग - युग में नव रूपों में
अभिव्यक्ति पाती जगती के व्यापारों में !
देश जाति गत मूल प्रकृति का अनुशीलन कर,
वस्तु परिस्थिति के अनुरूप हमें नव युग के
आदर्शों की प्रतिमा निर्मित करनी होगी
बाह्य विरोधों में भर अन्त: साम्य, समन्वय !
ध्वंस हो रहीं आज मान्यताएँ युग - युग की,
निखर रहे फिर सूक्ष्म शिखर नव आदर्शों के,
सृजन प्राण मानव मन को उनके प्रकाश को
मूर्तिमान करना होगा नव युग जीवन में,—
मानवीय संस्कृति में संयोजित कर उनको :
युग विप्लव में नव्य संचरण को सचेष्ट कर !

शिल्पी : यही प्रश्न है आज कला के सन्मुख निश्चय,
जो दु:साध्य प्रतीत हो रहा कलाकार को :
बहिरन्तर की जटिल विषमताओं में उसको
नव समत्व भरना होगा, सौन्दर्य सन्तुलित !—
मानव उर की वंशी में नव स्वर संगति भर,
भावपूर्ण कर निखिल अभावों के जीवन को !
नव्य सृजन की कृच्छ्र व्यथा से पीड़ित कब से
कलाकार का हृदय विकल है नव जीवन की
प्रतिमा अंकित करने को सर्वांग पूर्णतम—
जनयुग की निर्मम पाषाण शिला के उर में !—
महत् प्रेरणा का आकांक्षी है युग मानव !

पाँचवाँ : कलाकार के योग्य महत्त्वाकांक्षा है यह !
आज विश्व के कोने - कोने में जागृति की
सूक्ष्म शक्तियाँ कार्य कर रहीं जन के मन में,
जो प्रच्छन्न अभी हैं : निश्चय ही भविष्य में
नव्य चेतना विचर सकेगी जन धरणी पर
नव जीवन की शोभा गरिमा में मूर्तित हो !
व्यर्थ मनुज बाहर के मरु में उसे खोजता
अन्तरतम में स्रोत छिपा जो अमृत सत्य का,
अन्त: सलिला धारा ही में अवगाहन कर
युग मरीचिका से विमुक्त होगा मानव-मन,—
आवाहन करती युग आत्मा नव प्रकाश का !

(नेपथ्य से वाहित संगीत के स्वर)

गीत

नव प्रकाश बन आओ !
जीवन के घन अन्धकार को
ज्योति द्रवित कर जाओ !

अन्तः स्मित हो मानव का मन
शान्त विश्व जीवन संघर्षण,
नव स्वर लहरी में जन भू का
क्रन्दन करुण डुबाओ !

छाया मृत आदर्शों का तम,
छाया जड़ भौतिकता का भ्रम,
अन्ध बीथियों में जन-मन की
नव किरणें बरसाओ !

घृणा द्वेष को प्रीति ग्रथित कर
महानाश में अमृत स्रवित कर
अविश्वास को चिर प्रतीति में
परिणत कर मुसकाओ !

विश्व ग्लानि में नव्य रूप धर
श्री शोभा स्वर्णिम समत्व भर
जन धरणी में, जन जीवन में
मन का स्वर्ग बसाओ !

शून्य वेणु उर में नव स्वर भर
मूक व्यथा हर, नव मुरली धर
अभिनव श्री सुषमा गरिमा में
धरणी को लिपटाओ !

तृतीय दृश्य

[शिल्पी का कला-कक्ष : शिल्पी पर्दे की ओट में अपनी अधूरी प्रतिमा का निर्माण करने में संलग्न है। उसकी शिष्या एक ओर बैठी हुई हथियारों में धार चढ़ा रही है।]

शिल्पी : (प्रतिमा का निरीक्षण करते हुए)
नयी सभ्यता जन्म ले रही आज धरा पर,
क्षुद्र विभेदों, घृणित निषेधों को जगती के
पुनः संगठित संयोजित कर जन मंगल हित
नव भू जीवन के मांसल शोभा सौष्ठव में !
उद्वेलित हो रहा धरित्री का उपचेतन
गरज रहा युग आन्दोलित जन जीवन सागर
नव आशाऽकांक्षा के शिखरों में लहराकर,—
अतल मग्न करने जड़ धरणी के पुलिनों को !

दौड़ रहा भूकम्प चेतना के भुवनों में,
ध्वंस हो रहा विगत मन:संगठन मनुज का,
भू लुण्ठित हो रहे सौध गत आदर्शों के
छिन्न-भिन्न हो रहीं रीति नीतियाँ युगों की :
टूट रहे विश्वास अन्ध तारों-से हतप्रभ
विगत युगों के मान-चित्र को मिटा धरा के !

ऐसे विश्वक्रान्ति के युग में अन्तर्नभ में
ज्योतिर्मय किरणों की रेखाओं से मण्डित
एक मनोरम दिव्य मूर्ति प्रस्फुटित हो रही
नव भावों की स्वर्ण शुभ्र शोभा में वेष्टित !
जन-मन के स्वप्नों से कल्पित उसके अवयव,
निखिल विश्व की आकांक्षाओं से स्पन्दित उर,
प्रीति मौन निस्तल करुणा से द्रवित विलोचन,
शान्त, सौम्य आनन श्री,—जिसकी पावनता के
अमृत स्पर्श से दीपित हो उठता जीवन-तम !
चिर कल्याणमयी, आभादेही वह धीरे
प्रकट हो रही अन्तरिक्ष में अन्तर्मन के,
नव जीवन की महत् कल्पना-सी मूर्तित हो,—
निखिल विषमताओं में भरने स्वर्ण समन्वय !
शिला फलक में अंकित करना आज शिल्प को
रश्मि रेख उस नव्य चेतना की प्रतिमा को,
मृण्मय अंगों में सँवार दृग सूक्ष्म स्वप्न को ! ···
किंतु हाय, भू जीवन की निर्मम वास्तवता
बाँध नहीं पा रही मनुज आत्मा का वैभव,
मिट्टी की जड़ता विरोध करती प्रति पग पर
नव प्रकाश के शोभा स्पर्शों के प्रति निष्क्रिय! ···
कुण्ठित हो उठती फिर-फिर उद्भ्रान्त कल्पना !

शिष्या आप व्यर्थ उद्विग्न हो रहे अपने मन में,—
भला कौन-सी वह विदग्ध कल्पना रही है
जिसे आप साकार नहीं कर सके शिल्प में
अपने कला कुशल हाथों से ? ···सदा सूक्ष्म से
सूक्ष्म भाव भी झलक उठे प्रस्तर के मुख पर !
मैं कहती हूँ, आप हृदय की धड़कन को भी
प्रस्तुत कर सकते पाहन में, प्राण फूँककर !

शिल्पी : एक बार फिर प्रयत्न कर देखूँ बेटी,
वज्रप्राण पाहन यह सम्भव, द्रवित हो उठे ! ···
युग-युग के जड़ संस्कारों में जड़ीभूत जो
जन भू के निश्चेतन का निष्प्राण शिला तट,
जिसके अणु परमाणु बँधे निर्मम घनत्व में
गत अभ्यासों के निष्क्रिय आलस से कुण्ठित,—

नव्य चेतना के सक्रिय स्पर्शों से उसको
पुनरुज्जीवित करना है नव मनुष्यत्व में !

(छेनी लेकर शिला को गढ़ने में व्यस्त हो जाता है)

गीत

जन भू पर उतरो !
युग मन की पाषाण शिला को
करुणा द्रवित करो !

घृणा द्वेष से पीड़ित भू जन,
दैन्य निराशा से कुण्ठित मन,
युग विषाद को चीर, किरणमयि,
अन्तर में निखरो !

स्वप्नमयी, विहँसो पलकों पर,
भावमयी, विलसो नव तन धर,
नव श्री सुषमा में मूर्तित हो
चिन्मयि अयि, विचरो !

जगतीं मन में छवि रेखाएँ
कँपतीं ज्यों शत दीप शिखाएँ,
जग जीवन की बाँहों में बँध
उर का शून्य भरो !

खोलो हे, मुख का अवगुण्ठन
कब से अपलक तकते लोचन,
अन्धकारमय पथ ज्योतित कर
नव पदचिह्न धरो !

नव प्रतीति में कर उर गुम्फित,
नव आशा से जन-मन कुसुमित,
भू की जड़ता को चेतन कर
जग का त्रास हरो !

शिल्पी : (प्रतिमा को ध्यानपूर्वक देखते हुए)

आह, अन्त में दृष्टि शून्य पाहन पलकों पर
मूर्त हो उठा स्वर्ण स्वप्न मानव अन्तर का !
अवयव की रेखाओं में साकार हो उठा
मानव आत्मा का अवाक् सौन्दर्य अकलुषित !
झलक उठी जन मानवता की भव्य कल्पना
विस्मय अपलक दृश्यपटी में मूर्तिमान हो !
भू जन का उज्ज्वल भविष्य आँखों के सन्मुख
उदय हो उठा चीर युगों का अन्ध आवरण !
स्वर्गिक श्री सुषमा में ही अवतरित शिला पर
मातृ कल्पना ने सजीव कर दिया दृश्य को !
ईश्वर, मेरा स्वप्न मनोरथ पूर्ण हो गया !

शिष्या : (मूर्ति को देखकर साह्लाद)

जाग उठा पाषाण हृदय जीवन-चेतन हो,
युग-युग का जड़ मौन हो उठा गति से मुखरित !
कैसी जीवित भावपूर्ण प्रतिकृति उतरी है,
दर्पण पर बिम्बित हो तद्वत् निखिल दृश्यपट !
शिल्पकला निज चरम शिखा पर पहुँच गयी है,
प्रस्तुत यह आदर्श निदर्शन मूर्तिकरण का !…
पट का जड़ व्यवधान हटा दूँ अब प्रतिमा से !

(पर्दे को हटाती है)

कलाकक्ष हो उठा नवल गौरव से मण्डित !
लो, मुहूर्त ज्यों देख, आ रहे दर्शकगण भी !

(दर्शकों का प्रवेश)

एक : अभिवादन ! क्या पूर्ण हो गयी कला सृष्टि वह ?

शिष्या : उधर देखिए, कलाकक्ष के मध्य भाग में
शैल शिखर ही शिल्पकला के पंख मारकर
उड़ने को उद्यत है नव चेतना स्वर्ग में !
मैं अब तक संवरण न कर पायी निज विस्मय !

दूसरा : आप सत्य कहती हैं,…यह आश्चर्य है महत्
शिल्पकला का ! मुग्ध दृष्टि अनिमेष हो उठी !
जन-मन का सागर ही जीवन हिल्लोलित हो
घनीभूत हो गया अलौकिक दृश्यपटी में !
गति से, अविरत गति से स्पन्दित लगता पाहन,
अविरत गति ही सूक्ष्म रूप हो जैसे जड़ का !
मौन हाथ लग रहा मुखर जीवन शोभा का,…
युग आवेशों से आन्दोलित लगती प्रतिमा !
दीप्त मुखों पर खेल रहे शत भाव हृदय के,
दृढ़ अंगों में फलीभूत-सी शक्ति स्फूर्ति नव !
फूट रहीं युग जीवन की आशाऽकांक्षाएँ
जनगण के आनन से, नव गरिमा मण्डित हो !

(जनरव)

शिष्या : अरे, कौन आ रहे इधर श्रमिकों कृषकों के
जननायक-से ? हृदय शान्ति का कम्पित करते
क्रुद्ध पुकारों से—

शिल्पी : उनको आने दो बेटी !

(जन-समूह का प्रवेश)

एक स्वर : हम भू की संगठित शक्ति हैं, हम धरती की
क्रान्ति भरी उठती पुकार हैं,…हम देखेंगे,
आप यहाँ स्वप्नों के सुन्दर नीड़ में छिपे
कौन महत् निर्माण कर रहे जनगण के हित !

दूसरा स्वर : मध्य वर्ग की या आतृप्त वसाना पूर्ति के

अर्ध नग्न, कुत्सित, शृंगारिक चित्र गढ़ रहे ?

तीसरा स्वर : दुःख दैन्य से जर्जर जब जनगण का जीवन,—
कलाकक्ष में बैठ, निभृत कल्पना स्वर्ग में,
आप व्यस्त हैं, यश की लिप्सा से प्रेरित हो,
निर्दय जड़ पाषाणों को कल्पित करने में,
आत्म भाव रत, जीवित जनता से विरक्त हो !
मधुर व्यंजनों से कर अपनी उदर तृप्ति नित
आत्मा के हित खाद्य खोजते आप निरन्तर,
ललित कलाओं से पोषण कर अपने मन का,
संस्कारों की शोभा में उसको लपेटकर !

दूसरा स्वर : किन्तु, अन्न उपजाते जो हम धरती से लड़,
गढ़ते बहु प्रासाद, भवन, कर्दम में सनकर,
हमें चाहिए क्या न मधुर आत्मा का भोजन ?
क्षुधापूर्ति करते हैं यदि हम सभ्य जनों की,
उन्हें चाहिए, भाव पूर्ति वे करें हमारी,—
हमें सभ्यता दें बदले में, और कला की
जन उपयोगी मधुर देन से जन के मन को
नव जीवन शोभा में वेष्टित करें ! ···किन्तु उफ,
अन्न वस्त्र का भी अभाव है हमको ! ···यद्यपि
हम ही अपने भुजबल से उत्पादन करते,
श्रान्ति स्वेद में लथपथ, पालन करते जग का !
यही सभ्यता क्या इस युग की ? यही न्याय है ?

चौथा स्वर : कहाँ खोजते न्याय यहाँ ? हम जो धरती के
प्राकृत शिल्पी हैं, जो भू के निर्मम उर को
जीवन हरियाली में प्राण प्ररोहित करते,
अपने अनगढ़ कर कौशल से,—कल को हम ही
जन-मन के शोभा शिल्पी भी होंगे निश्चय,—
हम में उपजेंगे भावी स्वप्नों के स्रष्टा,
नवल प्रेरणा स्पर्शों से रोमांचित अन्तर,—
नव विकसित मस्तिष्कों हृदयों के वैभव से
धरा चेतना को उर्वर करने में सक्षम !
लोक नियति निर्णायक, जाग्रत् कलाकार बन
हम दरिद्रता को कर देंगे भू निर्वासित !

शिल्पी : यही जनोचित स्वाभिमान है, कला चेतना
लोक जागरण की कब से कर रही प्रतीक्षा !
कला अभी तक संकेतों का सृजन कर सकी,
उसे वास्तविकता बनना है भू पर व्यापक !
स्वागत करता हूँ मैं जन का ! आप देखिए,
मेरी नूतन प्रतिमा जन-मन की दर्पण है !

दर्शक : इधर किसान खड़े हैं, धरती के प्रतिनिधि-से,
स्वर्ण शस्य डाली सिर पर धर : उधर श्रमिक हैं
नवयुग जीवन के निर्माता, हृष्ट पुष्ट तन,—

निज बाँहों में भूगोलक को लिये गेंद-सा !
पैरो के नीचे उद्वेलित जीवन सागर
युग संघर्षण, जन आकांक्षा का द्योतक है !
ऊपर जैसे नव आशा का क्षितिज खुल रहा
मौन मर्मरित पल्लव दल के अन्तराल से !

जननायक : चमत्कार है निश्चय अद्‌भुत शिल्पकला का !

दर्शक : ये अजेय हल बैल, लोक जीवन के सम्बल,
जो धरती की निर्मम जड़ता को विदीर्ण कर
प्राण प्ररोहों में पुलकित करते भू का उर !
यन्त्र शक्ति है उधर, प्रगति सूचक नव युग की,
इधर हथौड़ा विश्व विषमता चूर्ण कर निखिल
नव समत्व भर रहा विरोधों में जीवन के !

जन गीत

जन धरणी का बल है हल,
जन - मन का सम्बल है हल !
साथी सजग हथौड़े हँसिया
जिसके कर्मठ कला कुशल !
पृथ्वी का पैगम्बर बन हल आया,
नवल सभ्यता का प्रभात सँग लाया,
हल ने चीर ज़मीं का सीना
मानव का घर - द्वार बसाया !
स्वर्ण धरा का बल है हल
जनता का सम्बल है हल,
साथी सबल हथौड़े हँसिया
जिसके कर्मठ, कला कुशल !
लौह नियति को ठोंक-पीटकर प्रतिक्षण
घन ने निर्मित किया महत् जग जीवन,
लुन-लुनकर नित शस्यों के स्वर्णिम कण
हँसिये ने हँस भरा भाँड में भूधन !
कठिन तपों का फल है हल,
प्रथम कलों की कल है हल,
जीवन की रोटी, धरती का
राजा, अटल अचल है हल !
मातृभूमि का बल है हल,
जनगण का सम्बल है हल,
भाई संग हथौड़े हँसिया
जिसके कर्मठ कला कुशल !

दर्शक : धन्य हो उठा कला कक्ष इस जन उत्सव से ! ...

(प्रतिमा को लक्षित कर)

काल चक्र यह घूम, नव्य युग परिवर्तन को
सूचित करता : अन्तरिक्ष में नव युग का रवि

उदय हो रहा : जिसकी स्मित किरणों से मण्डित
धरा स्वर्ग के मध्य खड़ी गोलार्ध सेतु पर
नव्य चेतना की प्रतिमा शोभित है निरुपम !
स्वर्ण शालि वह लिये वाम कर में, दक्षिण कर
अभय दान दे रहा वरद मुद्रा में उठकर,—
विजय ध्वजा-सा अंचल फहरा रहा क्षितिज में !
नीरव करुणा ममता से स्पन्दित वक्ष:स्थल
दिव्य शान्ति है बरस रही स्मित मुख मण्डल से,
ध्वंस भ्रंश हो रूढ़ि रीतियों के जड़ बन्धन
चरणों पर हैं पड़े छिन्न शृंखला कड़ी-से !

शिल्पी : लोक मोहिनी विश्व शान्ति की मनोमूर्ति यह
अभिनव श्री शोभा गरिमा में जाग रही जो
धरा क्षितिज पर, जग जीवन के वैषम्यों को
निखिल समन्वित करने निज नि:सीम वक्ष में !
शाश्वत करुणा यह, जिसके प्रिय संकेतों पर
अमर प्रेरणाएँ झरती रहतीं धरती पर,
नव-नव आदर्शों में, मूल्यों में कल्पित हो !
आज बहिर्मुख बिखरे जन - भू के जीवन को
अन्त: केन्द्रित, अन्त: संयोजित कर फिर से
नव समत्व में बाँध रही वह जीवन मांसल
ऊर्ध्वग व्यापक लोक - चेतना में विकसित हो !
मानव केन्द्रिक है जीवन का सत्य चिरन्तन,
मानवीय महिमा में मूर्तित हो स्वर्गोपम,
युग जीवन के अन्धकार को अमृत स्पर्श से
नव प्रभात में बदल रही वह स्वर्णिम चेतन !

कुछ स्वर : निश्चय, यह जन के मन मन्दिर की प्रतिमा है,
जन आकांक्षा की प्रतीक, जन जीवनमय है !
सामूहिक चेतना हो उठी मूर्तित इसमें,
शक्ति स्फूर्ति विश्वास भरेगी यह जन-मन में !
हम इसके हित प्राणों का बलिदान करेंगे,
भू जीवन में प्राण प्रतिष्ठित कर इसकी छबि
निज कर्मों में मूर्त करेंगे इसका वैभव !—
युग-युग तक गायेंगे जनगण इसकी महिमा !

दर्शक : विश्व शान्ति की अमर चेतना की चिर जय हो !

कुछ स्वर : नव युग जीवन की शोभा प्रतिमा की जय हो !

दर्शक : युग निर्मम पाषाण शिला में जिसने अभिनव
प्राण भर दिये निज शाश्वत अन्त: प्रकाश से,—
जग-जीवन की मातृ चेतना की चिर जय हो !

कुछ स्वर : लोक शक्ति की जय हो, नवयुग श्री की जय हो !

समवेत गीत

जयति जयति मातृ मूर्ति,
शान्ति चेतने !

जयति लोक शक्ति, लोक
मुक्ति केतने !
नव युग जीवन प्रभात
निखरी तुम ज्योति स्नात,
स्वर्ण रश्मि स्फुरित गात,
भास्वर वदने !
धरा रुदन बना गान
हृदय स्वप्न मूर्तिमान,
गूंज उठे मूक प्राण
जन दुख शमने !
सफल हुए योग ध्यान
सफल भक्ति कर्म ज्ञान
खिले मनस् कमल म्लान
भव तम अशने !
रुद्ध भाव हुए मुक्त
मानव मन प्रीति युक्त
शान्त रक्त पंक युद्ध
गति प्रिय चरणे !
बरसे हिम शुभ्र शान्ति
निखरे फिर दिव्य कान्ति,
भू - मन की मिटे भ्रान्ति
जनगण शरणे !

ध्वंस-शेष

(नव जीवन-निर्माण का स्वप्न)

वृद्ध
युवती
पुरुष
प्रकृति
नागरिक
सैनिक
द्रष्टा
प्रतिनिधि

प्रथम दृश्य

[विस्तृत राजमार्ग : डंके की चोट के साथ ध्वनिपूरकों (लाउड-स्पीकर) द्वारा राजघोषणा हो रही है। एक ओर से कलावृद्ध का प्रवेश, जो शान्ति का-सा प्रतीक लगता है। वृद्ध, ध्वनिपूरकों के घोष से त्रस्त होकर, कानों पर हथेली दिये, राजमार्ग के किनारे एक बड़ी-सी कोठी के अहाते में घुस जाता है।]

(राजघोषणा)

शान्त रहो हे भू-जन, व्यर्थ न धैर्य गँवाओ,
विश्व युद्ध की आशंका मन में मत लाओ!···
आतंकित मत हो···जो जन में झूठा रण भय,
मिथ्या जनरव फैलायेंगे, राजाज्ञा से
दण्डित होंगे···सावधान सब जन हो जाओ!
शान्त रहो हे, थोथी अफ़वाहें न उड़ाओ···
राजाज्ञा यह, सब जन सावधान हो जाओ!

(डंके की चोट)

वृद्ध : (कमरे में प्रवेश कर)

कहाँ आ गया हाय, न जाने, राह भूलकर,
भटक गया बाहर के जग में!···ठीक कहा है,
भूल भुलय्या यह दुनिया! धोखे की टट्टी
नयी सभ्यता!···इह संसारे खलु दुस्तारे
कृपया पारे पाहि मुरारे! भज गोविन्दं,
भज गोविन्दं, गोविन्दं भज मूढ़मते! अह,
जाने कैसी धूम मची है राजमार्ग में!···
बहरा हो जाऊँगा मैं, इन ध्वनि-यन्त्रों के
विकट नाद से, विस्फोटक-से फूट रहे जो!

युवती : (उठकर)

शान्ति!···युद्ध का भय फैलाते आप नगर में
विस्फोटक के फटने का मिथ्या प्रचार कर···
दण्डनीय अपराध हो चुका है यह घोषित
राजाज्ञा से!···

वृद्ध : (घबराकर)

क्षमा करें अपराध देवि,···मैं
बाहर के कोलाहल से मन में घबड़ाकर
अनुमति लिये बिना ही अन्दर घुस आया हूँ!

धक्-धक् करता हृदय नगर की रेल-पेल से! ...
उफ़, कैसा जन आन्दोलन, कैसी हलचल है! ...
यही हाय, नागरिकों का संस्कृत जीवन है?

युवती : (सहास्य)
वयोवृद्ध हैं आप, ... व्यर्थ यों विचलित मत हों,
शान्त, सुस्थ हो, उधर बैठ जायें आसन पर!

वृद्ध : (स्वस्थ होकर)
आप कौन हैं देवि, ... यहाँ मैं कहाँ आ गया?
समाचार पत्रों का कार्यालय है यह क्या?

युवती : नहीं पिता, यह युग का मन है! ... वैसे इसको
कार्यालय ही समझें!

वृद्ध : (साश्चर्य)
ईश्वर! ...

युवती : विंश शती की
नयी सभ्यता हूँ मैं, जिसके संकेतों पर
निखिल विश्व जन नाच रहे हैं मन्त्रमुग्ध हो!

वृद्ध : (विस्मय विमूढ़)
क्या कहती हो बेटी, यह क्या युग का मन है? ...
टूटे-फूटे, दीमक के खाये खानों का,
धूल भरे गन्दे काग़ज़ पत्रों में लिपटा,
कटे-छँटे अखबारों के पन्नों - सा बिखरा,
बड़े-बड़े खातों, भारी भरकम पोथों से
भरा ठसाठस, युग का मन है? रीढ़ झुकाये
जीर्ण पुलिन्दों के बोझों से!! सच कहती हो?
अस्तव्यस्त, कूड़ा-कचरा ... यह युग का मन है?

युवती : पिता, यही युग का मन, युग मानव का मन है!
आप वृथा आश्चर्य मत करें!

वृद्ध : (सिर हिलाकर) सर्वनाश है!!

युवती : इसे अजायबघर समझें या चिड़ियाखाना!
इसके सँकरे खानों में प्रतिदिन की चौड़ी
घटनाएँ हैं ठुँसी हुई, सब छोटी - मोटी
देश-विदेशों की,—धरती, आकाश, सिन्धु की!
जग के क्रिया-कलापों का भण्डार यह बृहद्—
आप इसे गोदाम कहें या कूड़ाख़ाना! ...

(वृद्ध सिर हिलाता है)

पर,-भू जीवन की कुरूप कटु वास्तवता का
इसमें निर्मम परिचय संचित है दिग् व्यापक!
जीवन संघर्षण का तीखा कड़ुआ अनुभव,
रूढ़ि वृद्ध युग-युग का पथराया विस्मृत मन
बड़े यत्नपूर्वक संरक्षित किया गया है

इन विषण्ण खानों में जड़ अवसाद से भरे !
वृद्ध : कैसा रिक्त प्रदर्शन थोथी बौद्धिकता का !!
युवती : आप भयानक गूँज यहाँ जो सुनते प्रतिक्षण
समाचार यन्त्रों के हलचल की ध्वनि हैं वह;
वहन कर रहे जो सम्वाद विविध देशों के,
मनुज नियति पर दाँत किटकिटा क्रोध खीझ से!
वायु मार्ग से, सिन्धु मार्ग से, भूमि मार्ग से
निखिल विश्व जीवन का, मन का स्पन्दन कम्पन
अविरत वाहित हो, आन्दोलित करता रहता
आज धराजीवी मनुष्य के आहत मन को,—
जर्जर जो हो रहा सतत विद्युत् दंशन से !
वृद्ध : **(रुआँसे स्वर में)**
हाय, अभागे मानव की ऐसी विडम्बना !!
युवती : भू विस्तृत हो गया, पिता, मानव का अन्तर,
उसे ज्ञात अब रूस, चीन, जापान में कहाँ
कब क्या है हो रहा, विविध भू के भागों में !
अब लन्दन, न्यूयार्क पैठ कानों के भीतर
भनभन करते रहते बर्रों के छत्तों-से,—
पेकिंग, मास्को सब ओठों पर हैं जन-जन के,—
धरा आमलक-सी करतल में सभ्य मनुज के !
वृद्ध : क्या कहतीं, बेटी, ये दुर्मुख कलें निरन्तर
घृणित जन्तुओं-सी विषमय फुफकार छोड़तीं ?
भुनगों-सी भुनभुना, दादुरों-सी टर्रा कर !
युवती : विद्ध पक्षियों-सी ये अपने पंख छटपटा
आर्तनाद करतीं सब माथा ठोंक-पीटकर—
कँप-कँप मन में मानव मन की निर्दयता से …!
ये कहती हैं पिता, आज सब देश धरा के
लोक सभ्यता की, संस्कृति की, मानवता की
उच्च पुकारें लगा, लोह आवरण डालकर
शुभ्र शान्ति की छद्म ओट में महाप्रलय का
खर ताण्डव रच रहे, भयंकर अणु दानव को
पाल-पोसकर, समर संगठित कर जन-बल को !
वृद्ध : **(अनुपात से)**
अहा, आसुरी हाथों में पड़ गयी शक्ति फिर !!
युवती : विगत युद्ध में प्रजातन्त्र की रक्षा के हित
जूझे थे भू राष्ट्र, रक्त में ध्वजा डुबाकर,
दर्प दलित करने दुर्मद फ़ासिस्त शक्ति को,
और सदा के लिए समापन करने रण को ! …
किन्तु आज सब जन मंगल के आकांक्षी बन
विश्व शान्ति के हेतु दीखते आकुल उद्यत,
और बढ़ाते जाते सैनिक शस्त्रों का बल,—
अणुबम के, अतिबम के बिना विजय मोदक बहु !

आज शान्ति के पीछे पागल है अशान्त जग !!

वृद्ध : देख रहा हूँ बेटी, मैं मन की आँखों से
अनति दूर, भीषण धूमिल दृग-क्षितिज जगत का !
कृष्णकाय पंखों में उड़कर चला आ रहा
महानाश का घन भू पर शोणित बरसाता !!
शान्त पाप हों जग के! मेरे वृद्ध उदर में
अवचेतन का गह्वर कभी उमड़ उठता है !
पर मानव शासक है भू की अन्ध नियति का
पिघला सकता लौह वज्र की निर्ममता वह
और बदल सकता भू पथ जीवन प्रवाह का !
देख रहा मैं, दैत्याकार प्रलय का बादल
उदय हो रहे स्वर्ण बिम्ब पर मद मोहित हो
दौड़ रहा है उसे लीलने, किन्तु साथ ही
उसकी स्वर्णिम आभा में चेतना द्रवित हो
युग प्रभात की नव शोभा में सुलग रहा है !
समझ रहा हूँ मैं युग के कटु संघर्षण को
ऊर्ध्वग समदिक् संचरणों के बीच छिड़ा जो
आज धरा में, भौतिक आध्यात्मिक विप्लव बन!
ध्वस्त हो रहीं जीर्ण मान्यताएँ जन-मन की,
बदल रहा जग जीवन के प्रति दृष्टिकोण अब,
छँटता जाता भय संशय का घना कुहासा,
जन्म ले रहा मनुष्यत्व नव अन्तरिक्ष में,—
मनुज जाति को भू जीवन का नव वर देने !
विजयी होगा मानव यान्त्रिक युग दानव पर,
नवल वास्तविकता निखरेगी भौतिकता से,—
नव आध्यात्मिकता का स्वर्णिम संजीवन पा !

युवती : पिता, आपके वचनों को सुन कँप उठता मन,
और हर्ष गद्गद हो उठता कातर अन्तर !
रक्त स्वेद के पंक में सनी आज मनुजता,
ज्ञात नहीं, कब होगा भू पर वह स्वर्णोदय !

वृद्ध : नियत समय पर सब कुछ हो जायेगा बिटिया,
निकट आ रही धीरे अब निर्दिष्ट घड़ी वह,
जो मानव अन्तर में कब की जन्म ले चुकी…
धैर्य धरो, सब मंगल होगा ! अच्छा, बेटी,
अब मैं जाता हूँ, थोड़ा विश्राम करूँगा !

(वृद्ध का प्रस्थान)

(राजमार्ग पर नगाड़े की चोट के साथ दूर से आते हुए राज-घोषणा के स्वर सुनायी देते हैं।)

शान्त रहो हे भू-जन, व्यर्थ न धैर्य गँवाओ,
विश्व युद्ध की आशंका मन में मत लाओ !
शान्त रहो सब, झूठी अफ़वाहें न उड़ाओ,
राजाज्ञा यह : सब जन सावधान हो जाओ !

द्वितीय दृश्य

[विप्लवसूचक भीम करुण वाद्य संगीत : एक विशाल नगर का खँडहर : नेपथ्य में अणु-विस्फोटकों के फूटने की भयानक ध्वनि : पृष्ठभूमि के पट पर महाध्वंस की विकराल छाया पड़ी है : अग्नि की लपटों में लिपटे रंगीन धुएँ के बादल उमड़ रहे हैं : सुदूर से वाहित गीत के समवेत स्वर, धीरे-धीरे स्पष्ट होकर, सुनायी देते हैं।]

गीत

प्रलयंकर हे,
डम डम डम डमित डमरु
दुर्दम स्वर हे !
दहक उठी नेत्र ज्वाल,
फुँहुँक उठा उरस् व्याल,
लहक रहा विष कराल,
भव भय हर हे !
उगल रहा अग्नि व्योम,
रच रहा विनाश होम,
घुमड़ रहा तिमिर तोम
लहर हहर हे !
ध्वंस शेष भू दिगन्त,
एक वृत्त हुआ अन्त,
भार मुक्त अब अनन्त,
जग जित्वर हे !
भस्म स्वार्थ कलुष शोक,
ध्वस्त नगर ग्राम ओक,
निखर रहे नव्य लोक
विश्वम्भर हे !
भौतिक मद हुआ चूर,
मानस भ्रम हुआ दूर,
चेतन में उठा पूर
शिव शिवतर हे !

(अन्तरिक्ष में पुरुष और प्रकृति का प्रवेश : पुरुष ज्योति-रश्मियों से आवृत, प्रकृति इन्द्रधनुषी छाया से वेष्टित है।)

प्रकृति : देख रहा दुःस्वप्न हाय, क्या धरती का मन !
महाध्वंस-सा छाया कैसा घोर चतुर्दिक् ?
गहरा रही प्रलय की छाया जन धरणी पर
अँधियाली के डाल भयानक अन्ध आवरण !
उद्वेलित हो उठा धरा चेतना सिन्धु क्यों
प्लावित करने अन्त प्राण मन के पुलिनों को ?
नील सरोरुह-सी कुम्हलाकर म्लान दिशाएँ
महाशून्य की पलकों-सी मुंद रहीं तमस में !

लील रहा घन अन्धकार भयभीत ज्योति का,
छिन्न भिन्न कर किरणों के झीने सतरँग पट :
धुँधली-सी पड़ रहीं रूप रेखाएँ जग की
ढाँप रहा क्या विश्व ग्लानि से निज विषण्ण मुख ?
ध्वंस भ्रंश हो रहे संघटन जड़ भूतों के
समाधिस्थ-सा आज हो रहा स्थूल जगत क्यों !

(विप्लव-सूचक वाद्य संगीत)

प्रलय बलाहक-सा घिर-घिर कर विश्व क्षितिज में
गरज रहा संहार घोर मन्थित कर नभ को,
महाकाल का वक्ष चीर निज अट्टहास्य से
शत-शत दारुण निर्घोषों में प्रतिध्वनित हो !
अगणित भीषण वज्र कड़क उठते अम्बर में
लप-लप तड़ित शिखाएँ टूट रहीं धरती पर,
महानाश किटकिटा रहा कटु लौह दन्त निज
विकट धूम्र वाष्पों के श्वासोच्छ्वास छोड़कर !
रँग-रँग के लपटों की जिह्वाएँ लपकाकर
हरित पीत, आरक्त नील ज्वालाओं के घन
घुमड़ रहे विद्युत् घोषों के पंख मारकर
ज्वलित द्रवों के निर्झर बरसा अग्नि स्तम्भ-से !
धू-धू करता ताम्र व्योम, धू - धू जलती भू,
धू-धू बलतीं दिशा, उबलता धू-धू सागर,
भभक रही भू की रज, दहक रहे गल प्रस्तर,
सुलग रहे वन विटपी, धधक रहा समस्त जग !

(महाविध्वंससूचक वाद्य संगीत)

अग्नि प्रलय क्या हाय, भस्म कर देगा मनु की
इस सुन्दर मानसी सृष्टि को, जिसे जल प्रलय
मग्न नहीं कर पाया दुस्तर महा ज्वार में !
विचर रहीं छायाऽकृतियाँ - सी कैसी भू पर ?
प्रेत लोक खुल गया आज क्या मर्त्य लोक में !
स्वप्न दृश्य-से ओझल होते ग्राम पुर नगर,
चित्रित हो यह माया जग चल छाया पट पर !
भूतों का पिण्डित घनत्व गल तड़ित् स्पर्श से
धूम वाष्प बनकर विलीन हो रहा निमिष में !
क्या स्मृति में ही शेष रहेगी ध्वंस सृष्टि अब
दृश्य, स्पर्श, रस, गन्ध, शब्द गुण से विहीन हो ?
कैसे आया महानाश इस प्रबल वेग से ?
हाय, कौन - सा महादैत्य वह छूट नरक से
नष्ट भ्रष्ट करता निसर्ग को पदाघात से !!

पुरुष : महिषासुर, तारक, वृत्रासुर से भी भीषण
महाकाय यह अणु दानव उड़ रहा गगन में,
धूमिल देह फुला प्रचण्ड जलते वाष्पों की

किमाकार पावक के पर्वत - सी रोमांचक !
जड़ भूतों की मूल शक्ति से अनुप्राणित हो
उगल रहा वह गलते द्रव्यों के जलते घन !
निर्गत कर नथुनों से शत विषमय फूत्कारें
दारुण गर्जन से दिक् कम्पित कर अनन्त को !
शत-शत तड़ित् प्रपातों-सा वह टूट व्योम से
रौंद रहा जन भू को निर्मम लौह पदों से,
स्रस्त ध्वस्त कर क्षण में जड़भूतों के अवयव
चूर्ण-चूर्ण कर अडिग भूधरों के दृढ़ पंजर !
मदोन्मत्त वह, विकट हास्य भरता दिग्दारक
महानाश का खर ताण्डव रच त्रस्त भुवन में,—
विद्युत् शूलों से विदीर्ण कर धरा वक्ष को
ध्वंस भ्रंश कर निखिल सृष्टि को महावेग से !
त्राहि-त्राहि मच रही अवनि में, गगन पवन में,
त्राहि-त्राहि कर रहे सकल जल थलचर नभचर,
रुँध-रुँध जातीं आर्त उरों की भग्न पुकारें,
ध्वनि की गति से कहीं प्रखर है वेग दैत्य का !

(विप्लव गर्जन)

प्रकृति : क्या होगा तब देव, हाय, इस भूत सृष्टि का,
रूप रंग रेखामय मेरी निरुपम कृति का ?
मुग्ध प्रेम के पलकों पर सौन्दर्य स्वप्न - सी
मोहित करती रही सदा जो स्वर्ग लोक को !
विश्व प्रभव के सृजन हर्ष से पुलकित होकर
सूक्ष्म स्थूल के छायातप को गुम्फित कर नित
जिसमें मैंने अपने रहस कला कौशल से
सीमा में निःसीम, अचिर में बाँधा चिर को,
मृत्यु तमस में गूँथ अमरता के प्रकाश को
चेतनता को अर्थ ध्वनित है किया शब्द में !
अपने उर के रक्त-दान से जिस निसर्ग को
युग-युग से अविराम स्नेह श्रम से सिंचित कर
विकसित मैंने किया नित्य नव श्री सुषमा में
रूप गुणों के सतरँग ताने-बाने भरकर !

(सृजन आनन्द द्योतक वाद्य संगीत)

कैसे प्रहसित हुई नीलिमा मौन गगन की,
धरती को रोमांच हुआ कब हरियाली में,
कैसे नाच उठीं सागर उर में हिल्लोलें,
अवचनीय है मर्म कथा उस रहस सृजन की !
मुझे याद है, सुधा कलश - सा पूर्ण चन्द्र जब
रजत हर्ष से छलक उठा था : प्रथम उषा के
मुख पर सहसा जब लज्जा की लाली दौड़ी,
इन्द्रधनुष का सेतु टँगा जब फेनिल नभ में !

अभी-अभी तो फूलों के अपलक दृग अंचल
आकांक्षा से रँगे स्वप्न भावनावेश में,
समा सकी प्राणों की आकुल सुरभि न उर में,
कोयल का आवेश स्वरों में फूट पड़ा शत !

(करुण वाद्य संगीत)

कैसे मैं अमरों की इस प्यारी संसृति का
देख सकूंगी करुण ध्वंस आसुरी शक्ति से,
जिसको मैंने मा की मृदु ममता क्षमता से
सतत सँवारा निज अन्तर के निभृत कक्ष में !
तड़ित् कोष से विघटित हो भौतिक विधान सब
वाष्प धूम बन तितर-बितर हो रहा शून्य में,
खौल रहा अणु विगलित जड़ द्रव्यों का सागर
सूर्य खण्ड ज्यों टूट धँस गया हो धरती में !
उमड़ रहे दुर्गन्ध पूर्ण उच्छ्वास विषैले
धरा गर्भ की अग्नि फूट आयी है बाहर,
गूंज रहा अह, महामृत्यु संगीत चतुर्दिक्
चकाचौंध में बिखर रहे नक्षत्र पुंज हों !
उमड़ रहे दैत्यों - से भूधर धरा गर्भ से
हिल्लोलों-से उठ गिर, क्षण-भर में विलीन हो !
महा प्रबल अणु के विघात से दीर्ण धरित्री
खण्ड-खण्ड हो रही रिक्त मिट्टी के घट-सी !

(विश्व-प्रलयसूचक वाद्य संगीत)

कैसे हाय, रहेगा विद्युत् ताड़ित भू पर
कोमल मांसल, शोभा देही दुर्बल जीवन,
जिसके मुख पर खेला करती मुकुलों की स्मिति,
चितवन में पलती ओसों की मौन सजलता,
जिसके उर में स्वर्ग धरा का चेतन वैभव
क्रीड़ा करता रहस भावनाओं में दोलित !

ओ जीवन सौन्दर्य, जहाँ तरु के पत्ते भी
झरते नित शाश्वत सुख की नीरव गति लय में,
निज नयनों में मूंद विश्व की श्री सुन्दरता
स्वप्नालस पलकों-से झँप-झँप, प्रेम मग्न हो !
ओ विराट् सौन्दर्य, निभृत जिसके अन्तर में
शत रवि शशि ताराग्रह शोभा स्पन्दित रहते,
उषा झाँकती खोल स्वर्ण वातायन नभ का,
रजत चन्द्रिका शुभ्र शान्ति बरसाती भू पर !
हाय, आज क्या विधि के निष्ठुर भ्रू विलास से
मुरझा जाओगे तुम असमय धूलिसात् हो ?
जीव जगत की, मनुज लोक की दुर्लभ शोभा
लुप्त निखिल हो जायेगी कटु काल गर्भ में ?

जीवन की चेतना नष्ट हो जायेगी क्या
निश्चेतन के अप्रकेत तम में विकीर्ण हो ! !
किसने जन्म दिया इस दुर्मद अणु दानव को,
कौन बज्र की कोख रही वह विश्व घातिनी ?
किसने दिक् संहार बुलाया जन धरणी पर,
कहो, कौन वह नारकीय, भू जीवन द्रोही ! !

पुरुष : कातर मत हो प्रकृति, तुम्हें यह मर्त्यों की-सी
करुण क्लीवता नहीं सुहाती, शान्त करो मन !
भूत प्रलय यह नहीं, मात्र यह मनः क्रान्ति है,
आरोहण कर रही सभ्यता नव शिखरों पर !
अन्तर्मन की ही विभीषिका बाह्य जगत पर
प्रतिबिम्बित हो रही भयावह, भाव प्रताड़ित :
भौतिक अणु यह नहीं, दलित मानव आत्मा का
न्याय कोप ही टूट रहा पावक प्रपात-सा
जीर्ण धरा मन के खँडहर पर, जो युग-युग से
मनुज द्वेष की घृणित भित्तियों में विभक्त है !
आज युगों के रुद्ध मूक मानव अन्तर का
विकट नाद ललकार रहा निज मनुष्यत्व को,
संघर्षण चल रहा घोर मानव के उर में
यह विराट् विस्फोट उसी का राम दूत है !

(स्वार्थ, लोभ आदि की बौनी कुरूप छायाकृतियाँ कुत्सित चेष्टाओं का अभिनय करती हैं जिनके ऊपर एक विराट् घन की छाया झूलकर, चोट करती है ।)

मानव ही है सर्वाधिक मानव का भक्षक,
भौतिक मद से बुद्धि भ्रान्ति युगजीवी मानव
दानव बनकर आत्मघात कर रहा अन्ध हो !
शोषक शोषित में विभक्त अब युग मानवता,
जाति-पाँति में, वर्ग श्रेणि में शतशः खण्डित;
धनिकों का श्रमिकों का, धन बल का जन बल का
यह अन्तिम दुर्धर्ष समर है विश्व विनाशक,—
सामूहिक संहार तिक्त विषफल है जिसका !
जाग रहे हैं आज युगों के पीड़ित शोषित
दैन्य दुःख के जड़ पंजर, नव युग चेतन हो,
कर्म कुशल जग जीवन के श्रमजीवी शिल्पी
लोक साम्य निर्माण हेतु सब एक प्राण हो !
टूट रहीं कटु लौह शृंखलाएँ जनगण की
भू रज जीवी पावक कण हो रहे प्ररोहित;
आज रुद्र निज अग्नि चक्षु फिर खोल प्रज्वलित
भस्म कर रहे भू का कल्मष दृष्टि ज्वाल से !
अवचेतन के मनोज्ञान से पीड़ित मानव
अवरोहण कर रहा तिमिर के अतल गर्त में,

यन्त्रों की आसुरी शक्ति से जन का अन्तर
बिखर रहा जीवन प्रमत्त हो बहिर्जगत में !
रूढ़ि रुग्ण नैतिकता से आक्रान्त चेतना
देख नहीं पा रही प्रगति का पथ दिग्भ्रम में :
मानव का ही हृदय-क्षोभ अणु विस्फोटक बन
महानाश का आवाहन कर रहा धरा पर !
संख्याओं में वज्र संगठित इधर क्षुधा है,
उगल रहा है उधर काम अवचेतन का तम,
क्षुधा काम से दीर्ण शीर्ण हो लोक चेतना
आरोहण के विमुख, भटकती अधोमुखी हो !

(सभ्यता का विनाशसूचक वाद्य संगीत)

देखो प्रिये, विराट् भीष्म सौन्दर्य नाश का,
अद्भुत श्री शोभा है दारुण महाध्वंस की :
महा व्याल-सा शत सहस्र फन तान गगन में
महानाश फूत्कार भर रहा वज्र घोष कर !
गरल फेन के उगल लहकते धूमिल बादल
महामृत्यु के कुण्डल मार दिशाओं में वह
झाड़ रहा युग केंचुल भीषण अन्धकार की !
शत-शत दावाएँ, बड़वानल की ज्वालाएँ
चाट रहीं गहनों, गिरियों, सागर लहरों को,
सुरँग स्फुलिंगों की फुहार में भू को बिखरा,—
झर-झर पड़ता तड़ित चकित हो तारापथ ज्यों !
घोर बवण्डर, प्रबल प्रभंजन अट्टहास भर
पंख अश्व दैत्यों से उड़कर, निखिल भुवन को
कुचल रहे निज नृत्य मत्त उद्धत टापों से !
धुन्ध धूल बन निखिल भूत घूमते प्रलय के
विकट भँवर में, चक्राकार घुमड़ अम्बर में !
उछल रहे पर्वत कन्दुक-से मूल भ्रष्ट हो,
कँपते अंगद चरण, खिसकते गर्व शिखर गिर,
फूट रहे निर्झर निपात शत तड़ित् स्खलित हो,
विगलित प्रस्तर खण्डों के वाष्पों से फेनिल !
उमड़ रहा अम्बुधि शत फन जल स्तम्भों में उठ,
हिल्लोलों पर कल्लोलें करतीं आरोहण,
वाष्प धूम बन छिटक रहे सतरँग जल के कण
स्फीत सीकरों में, सपंख सर्पों से लोड़ित !
भूमि कम्प शत दौड़ रहे क्षत धरा-वक्ष पर
शिला अस्थियों को, मांसल रज को बखेरते,
फट-फट पड़तीं ज्वालामुखियाँ विकट घोष कर
द्रवित रक्त मज्जा उडेलतीं धरा उदर से—
हृदय क्षोभ ज्यों उगल उँबालों में, वमनों में
थूक रही हों नभ के मुख पर घोर घृणा से !

अणु लपटें फुफकार भरी जीभें चटकाकर
आत्मसात् कर रहीं पदार्थों के तत्वों को,
ज्वलित द्रवों से पर्वत टूट रहे पृथ्वी पर
गहरे गर्तों में विदीर्ण कर धरा-वक्ष को!
सिंह गुहाओं में दहाड़ते महात्रास से,
गज चिंघाड़ते जल सीकर बरसा सूंडों से,
दीप्त धूम्र शृंगों से आहत ऋक्ष कूदते,
गिर-गिर पड़ते विहग, रुदन करते कपि कँप-कँप!
विचलित मत हो प्रिये, संवरण करो दया को,
यह केवल दुःस्वप्न मात्र है युग के मन का,
तुम त्रिकाल दर्शिनी शक्ति हो मेरे उर की,
देख रही हो केवल सम्भावित भविष्य को!
अविनाशी हैं तत्व अखिल, अविनाशी हैं हम,
अविनाशी है अमर चेतना क्षर जीवों की,
नाश नहीं होता विकास प्रिय अमृत सत्य का
मिथ्या का संहार अवश्यम्भावी जग में!
पुनः निभृत नेपथ्य लोक में निज कौशल से
नवल सृष्टि तुम सृजन करोगी महाकाश से,—
पराशक्ति के महानन्द से अभिप्रेरित हो!
आओ, हम तुम लय हो जावें अब परोक्ष में!

(अस्त-व्यस्त वेश में सहसा भयभीत नागरिकों का प्रवेश)

दौड़ रहे शत प्रलय धरा का वक्ष चीरते,
रौंद रहीं लपटें पावक के भूधर पग धर;
टूट पड़े शत नरक, बरसते रुण्ड मुण्ड हत,
छूट गये रौरव के भूत पिशाच प्रेत हों!
कड़-कड़ करते क्रुद्ध वज्र, फट-फट पड़ते सिर,
रक्त मांस मज्जा उड़ते क्षण धूम भाप बन,—
फूट गया पृथ्वी के भीषण पापों का घट!!

लुंज पुंज मांसल तन पल में होते ओझल,
चटक अस्थि पंजर क्षण में मिलते भू-रज में!
तन्तु-जाल-सी त्वचा सिहरतीं झुलस ताप से,
छिन्न पसलियाँ, छितर टहनियों-सी पतझर की,
चरमर जल उठतीं पल में शत मोम शिखा-सी!
चीत्कारें करतीं चीत्कारें छूट कण्ठ से,
गूंज प्रतिध्वनियों-सी, तत्क्षण देह मुक्त हो,
बाल वृद्ध स्त्री पुरुष युवक, अगणित निरीह जन
निर्मम वेदी पर चढ़ते दारुण विनाश की!

महामृत्यु मुंह फाड़ भयानक नरक गुहा-सा
निगल रही भू को, साँसों में खींच मशक-सी,—
औंधे मुँह गिर नगर लोटते धरा गर्भ में,

गर्तों में धँस, उछल स्फीत धूमिल शिखरों में !
छायाओं-से कँपते उड़ते—दृश्य पुरों के,
भस्म शेष प्रासाद दीखते खड़े यथावत्,—
घूम रहे भू प्रान्त, भँवर में पड़ी नाव-से !
छायी घोर तुमुल विभीषिका जन धरणी पर
बरस रहीं पावक धाराएँ रक्त सूर्य से !
भय, विभीत हो रहा भयंकरता से अपनी;
भगदड़ हो मच गयी प्रकृति के तत्वों में ज्यों—
भाग रहा जीवन अपनी ही छाया से डर,
निज अन्तिम चरणों पर लँगड़ाता, डगमग डग !

(तेजी से प्रस्थान)

(सैनिकों तथा श्रमिकों के वेश में कुछ लोगों का प्रवेश)

कुछ स्वर : जूझ रहे अणु के दानव से भू के जनगण,
जूझ रहे हैं महानाश से अपराजित जन,
अब निसर्ग के तत्वों ने अपना अदम्य बल
जन मन में भर दिया, मनुज की मांस पेशियाँ
पर्वत-सी उठ रोक रहीं दुर्धर्ष शत्रु को !
नाच रहा जन के शोणित में जीवन पावक,
दौड़ रहीं उन्मत्त शिराओं में शत विद्युत्,
बहते हैं उनचास पवन उनकी श्वासों में !
भीत नहीं होगा मानव इस महानाश से,
विश्व ध्वंस से लोक करेंगे नव जग निर्मित,—
श्री समत्वमय मनुष्यत्व को नव्य जन्म दे !

कुछ स्वर : फिर से मानव शिशु खेलेंगे भू श्मशान में,
पुनः बहेगी जग के मरु में जीवन धारा;
मरुत भर रहे प्रबल शक्ति जन के प्राणों में,
विस्तृत करता वरुण तरुण वक्षःस्थल उनका :
भस्मसात् कर रही अग्नि जीवन का कर्दम,
मुक्त हो रहा इन्द्रासन फिर महाव्याल से;
शेष ऊर्ध्व फन खोल उठाता भू को ऊपर
फहराते दिङ्नाग मनुज की विजय ध्वजा को !

तीसरा दृश्य

[काल-यापन सूचक वाद्य संगीत : दस वर्ष के बाद का दृश्य : अग्नि का प्रकोप शान्त हो गया है, कुछ बलिष्ठ हाथ फावड़े, कुदाल आदि लेकर ध्वंस के ढेर को खोदते हुए बीच में गा रहे हैं।]

गीत

खोद, खोद रे, न हार !
शान्त हुई अग्नि वृष्टि
ध्वंस शेष भग्न सृष्टि,

ख़ोज रही नग्न दृष्टि
आर पार, आर पार !
रत्न गर्भ धरा धूल
मिट्टी में छिपे मूल,
वही बीज, वही फूल
छान बीन, कर विचार !

एक स्वर : बीत गये दस वर्ष आज उस अग्नि प्रलय को,
ठण्ढी जीवन राख पड़ी, बुझ गये अँगारे,
कट छँट गये धुएँ के बादल, नये क्षितिज की
धुँधली रेखाएँ सुदूर दिखतीं विषण्ण-सी !
रिक्त ताम्र का व्योम जल रहा युग सन्ध्या में,
झुलस रहे तन को झंझा के तप्त भभूके,
ध्वस्त पड़ा भू भाग, सभ्यता का गत खँडहर,
तृण तरु जन्तु रहित मिट्टी के करुण दैन्य-सा !
घोर निराशा का विषाद तम के कपाट-सा,
प्राणों को जकड़े है, क्रूर प्रलय प्रहरी बन,
महाश्मशान बना धरणी का जीवन प्रांगण,
जहाँ भयावहता विभीत निज भैरवता से,
मृत्यु-शून्य काँपता निदारुण सूनेपन से,
निर्जनता प्रतिफलित निविड़ निर्जनताओं में !

दूसरा स्वर : इधर-इधर है, खोद खाद का ढेर हटाओ,
पूरे बल से खोदो, हाँ, कूड़े कचरे को
बाहर फेंको···गड्ढे में, झुककर तो देखो,
यहीं कहीं पाषाण खण्ड से टकरा चटचट
उगल रहा चिनगारी क्रोध भरा कुदाल है !
कैसी है यह वज्र शिला, जो प्रलय अग्नि से
जल गल कर भी राख नहीं हो सकी जलमुँही !
निश्चय, यह पाषाण हृदय प्रतिमा है कोई ! ···
एक साथ वीरो, शाबाश ! ···इसे सब मिलकर
नरक योनि से बाहर लाकर सीधा रख दो ! ···
झाड़ पोंछकर इसकी एक झलक तो देखें,—
छिः छिः छिः. कैसा कुत्सित विकराल रूप है !
अह यह क्या यमराज स्वयं ? ···या कोई दानव
काल ध्वंस से दबकर पथरा गया धरा में ?

तीसरा स्वर : अरे नहीं ! — यह वज्रप्राण इतिहास मूर्ति है :
रक्त पंक हैं इसके अवयव, दारुण आकृति,
दुःस्वप्नों से जड़े पलक, दुःस्मृति पीड़ित उर,—
यह नृशंस आदिम वर्बरता का प्रतिनिधि है,
मानवता का निर्मम शिक्षक, चिर अन्यायी !
इसे दबा दो, पुनः गाड़ दो,···इसे अँधेरे
अतल गर्त में दफ़ना दो ! गत भू जीवन की
इस भीषण छाया को गहरे नरक कुण्ड में

दो धकेल···इस बलि को फिर पाताल भेज दो !

(मूर्ति को लुढ़काने का शब्द)

प्रस्तर युग से पूंजीवादी युग तक का यह
शोणित रंजित सर्ग, मनुज की निर्ममता का,
नयी पीढ़ियाँ इसकी आकृति देख भयानक
आँख फेरकर, विरत न हो जायें जीवन से ! ···
एक वृत्त हो चुका समापन भू जीवन का,
बदल गया गत दृष्टिकोण जग जीवन के प्रति,
बदल रहा मानव मन, बदल गया भू आनन,
नया पृष्ठ खुल रहा चेतना का स्वर्णोज्वल,
गत दुःस्मृति को निश्चेतन में मज्जित कर दो! ···
नया वृत्त उठ रहा, मात्र इतिहास नहीं जो,
नयी चेतना का प्रकाश, भू स्वर्ग विधायक !

गीत

खोद खोद, कर प्रहार !
दबी कहीं मिले आग,
चिनगी फिर उठे जाग,
आशा को तू न त्याग.
सोने को ले निखार !

भू के उर में विलीन
युग अनेक पुराचीन,
ध्वंस यह नहीं नवीन,
सृजन प्रलय दुर्निवार !

एक स्वर : रक्त मांस के सड़े पंक से उमड़ रही है
महा घोर दुर्गन्ध, रुद्ध हो उठती श्वासा;
तैर रहे गल अस्थि खण्ड शत, रुण्डमुण्ड हत,
कुत्सित कृमि संकुल कर्दम में महानाश के !
दिग्व्यापी संहार असंख्य निरीह जनों का
भूत सभ्यता का दारुण उपहार है घृणित !!
अगणित मनुजों की देहों की मांसल रज से
धरती की मिट्टी का नव निर्माण हो रहा,
कितने मन प्राणों हृदयों का भावुक स्पन्दन
कितने उर्वर मस्तिष्कों का चेतन वैभव
धरा धूलि में सोकर एकाकार हो गया !
क्या वह जाग सकेगा स्वप्न प्ररोहों में नव ?

दूसरा स्वर : थूः, यह कौन कराह रहा इस नरक कुण्ड में,
औंध मुँह गिरकर, आहत मन, क्षत विक्षत तन!
कोई अबला है यह क्या ? नागिन-सी वेणी
लोट रही है पृष्ठ देश पर बल खायी-सी !
इसे खींच बाहर कर दूं इस पाप कुण्ड से !

महिमामयी किसी नारी की रम्य मूर्ति यह !
दर्प भरे दृग, रंजित अधर, उरोज अधखुले,
अंगों से लावण्य टपकता श्री ह्री कोमल :
कुंचित भ्रू लतिका, इंगित पर नचा जगत को,
शान्त भंगिमा से क्षण भर विश्राम ले रही !
मन मोहिनी रही होगी यह मुग्ध यौवना,
हाय, रुक गया सहसा क्यों इसका उर स्पन्दन !

तीसरा स्वर : देखूं ?···ओ, यह वर्ग सभ्यता की अनुकृति है,
शोभा सज्जा रूप मधुरिमा की प्रतिमा-सी !
फूलों के मृदु अंग, हृदय पाषाण शिला-सा,
इसके स्वर में जादू, अधरों में थी ज्वाला :
अधिकारों की मदिरा से आरक्त युग नयन,
जन धन से स्वर्णिम झंकृत चंचल प्रिय अवयव,
भ्रू विलास से महा समर छिड़ते थे जग में; —
निखिल धरा के कटु शोषण पीड़न से पोषित
निखरी थी इसके अंगों की मांसल शोभा !···
स्वाभाविक ही अन्त हुआ इसका, युग भू पर
पके विषमता के फल-सी गिर पड़ी स्वयं यह !
ऐंठ रहा है तन मरकर भी लोक घृणा से !!

गीत

खोद, खोद रे उबार !
विश्व ध्वंस का श्मशान,
शेष अत्र न गीध श्वान,
विजय भीत शून्य प्राण
भरते कातर पुकार !

काल रात्रि का प्रसार
छाया घन अन्धकार,
निगल रहा निराकार
रुद्ध स्वर्ग ज्योति द्वार !

एक स्वर : फैल रहा कटु अनाचार अह, धरा नरक में,
चूर्ण हो गया विगत संगठन मानव मन का,
नैतिकता चीत्कार भर रही, सदाचार अब
दृष्टि हीन, घन अन्धकार में राह टोहता !
बर्बर युग की ओर जा रहा फिर मानव पशु,
धर्म नीति आदर्श निखिल म्रियमाण हैं पड़े,
लूट पीट, हिंसा नृशंसता अट्टहास भर
खर ताण्डव कर, रौंद रहे मानव आत्मा को !
मर्माहत हो उठी मनुज की मूक चेतना
लोक विघातक विश्व युद्ध की निर्ममता से, —
गहरे व्रण पड़ गये धरित्री के जीवन में,
बज्र क्रूर, कटु अन्ध नियति निकली मानव की! !

अतल गर्त में पड़ी, झींखती विश्व सभ्यता,
उमड़ रहीं खल हिंस्र वृत्तियाँ अवचेतन की,
मनुष्यत्व का रक्त चूसकर, कृमि-सा मानव
दानव बनकर रेंग रहा दिग् भ्रष्ट रीढ़ पर !
अन्न-वस्त्र, गृह, आवागमनों के अभाव से
पुनः अहेरी जीवन बिता रहे नारी नर,
आधि व्याधि बहु रोग टूटते क्षुधित गीध-से,
काम क्रोध मद लोभ घूमते नग्न नृत्य कर !
राग द्वेष, स्पर्धा कुत्सा, कटु कलह परस्पर
नोंच रहे मानव का मुख पैने पंजों से ! !

दूसरा स्वर : देखो हे, यह कैसी प्रतिमा यहाँ गड़ी है ?
मूछित-सी लगती विष वाष्पों के प्रभाव से !
इसे गर्त से बाहर ला, उपचार तो करो,
हिला-डुलाकर, सम्भव, यह प्रकृतिस्थ हो उठे !
हृष्ट-पुष्ट हैं इसके पुट्ठे, लौह कलेवर,
जटिल शिरा तन्त्रों में दौड़ रहीं शत विद्युत्,
टिक-टिक करता हृदय पिण्ड लघु काल यन्त्र-सा,
मन्द पड़ रहा धीरे जिसका यान्त्रिक स्पन्दन !
यह नवीनतम प्रतिकृति है कोई गत युग की,
किसी सर्वसम्पन्न व्यक्ति की कीर्ति चिह्न हो ! ···
आओ, इसको खुली हवा में रख दें क्षण भर
इसके मुरझाये मुख पर जल के छींटे दें !

तीसरा स्वर : आः, यह तो भौतिक युग की विज्ञान मूर्ति है ! ···
दूर, दूर हट जाओ,···इसकी वज्र देह को
अणु विस्फूर्जित विद्युत् किरणें गला रही हैं !
श्लथ नथुनों से निकल रहीं विष की निःश्वासें,
वाम हस्त में रुज् कृमियों से भरा पात्र है !
दक्षिण कर का संजीवन घट फूट गया है !
भस्मासुर-सा, अणु बल का वरदान प्राप्त कर
यह अपने ही वरद हस्त से भस्म हो गया !

एक स्वर : नहीं, नहीं···यह अधिक समय तक भस्मावृत हो
नहीं रहेगा ! यह अपने ही भस्म शेष से
नव्य जन्म ले, पुनः जी उठेगा पृथ्वी पर !
इसके भीतर भूत सत्य का अमृत अंश है,
इसको अपने ही विनाश से पाठ सीखकर
विध्वंसक से निर्मायक बनकर जगने दो !

गीत

खोद, खोद रे सँवार !
जीवन तम हो अछोर,
मन से हो दूर भोर,
होगी फिर कृपा कोर
बीती को दे बिसार !

अतल उदधि में अकूल
खिला एक नित्य फूल,
बिना नाल, बिना मूल
गन्ध अतुल मुक्त भार !

एक स्वर : इस मिट्टी की अन्ध योनि में जाने कैसे
कब जीवन का बीज गिर पड़ा अक्षयवट से,
जो प्राणों की हरियाली में रोमांचित हो
अग जग में छा गया असंख्य प्ररोहों में हँस !
सुनता हूँ, जो गहराई में पैठ खोजते,
पाते वे नित गूढ़ रत्न, पर यह मानव मन
अतल अकूल गुहा है, जिसके रहस मर्म को
भेद नहीं पायी मानव सभ्यता अभी तक ! ...

दूसरा स्वर : यहाँ कौन लेटा है यह कर्दम में लिपटा,
जीवन श्रान्त पथिक-सा, जगती से विरक्त मन ?
काल स्थविर कोई ऋषि चिर निद्रा में सोया
देख रहा है स्यात् स्वप्न वैकुण्ठ लोक के !
उन्नत, निष्प्रभ-सा ललाट, श्रुति दीर्घ-से नयन,
भरा झुर्रियों से आनन, चन्दन चर्चित तन,
स्फटिक माल स्मित वक्ष, यन्त्र बाँधे बाँहों में,
वृद्ध पुजारी-सा लगता सूने मन्दिर का
दीपशिखा बुझ गयी आरती करते जिसकी !

तीसरा स्वर : भाई, यह तो दारु मूर्ति है जीर्ण धर्म की
जिसके सन्मुख प्रणत रहे युग-युग से भूजन,
तर्क जाल फैला जिसने आकाश बेलि-से,
पाप पुण्य में, स्वर्ग नरक में उलझाया मन !
रक्तपात बहु हुए धरा पर इसके कारण
जीवन से हो विमुख, बने जन निर्जन सेवी,
घोर अन्ध विश्वासों के कुहरे में लिपटा,
रूढ़ि रीतियों में जकड़ा इसने जीवन को !
राजनीति ने सिंहासन च्युत कर फिर इसको
भौतिक बल से वशीभूत कर, किया पराजित,
गत युग की बौद्धिकता ने, जीवन दर्शन ने
चीर फाड़कर, इसके शव का किया परीक्षण !
घनन घनन, बज रहीं घण्टियाँ अन्तरिक्ष में,
घनन घनन, हो रहा समापन एक महायुग !
स्वर्ग लोक हे मिले पलित इस पुण्य मूर्ति को,
जनगण सेवक महाप्राण युग वृद्ध धर्म को !
रणन झनन, मानव के अन्तः स्मित शिखरों पर
नव आध्यात्मिकता विचरे नव जीवन चेतन,
खन खन खन बज रजत घण्टियाँ अन्तर्मन में
नव्य चेतना का आवाहन करतीं भू पर !

गीत

खोद, खोद, खोज सार !
चूर्ण-चूर्ण मनुज मान,
खण्ड-खण्ड बहिर्ज्ञान,
योग भ्रष्ट आत्मध्यान,
बहिरन्तर कर सुधार !
बाहर ही तू न दौड़
भीतर ही दृग न मोड़,
दोनों के सूत्र जोड़
दोनों को ले उबार !

एक स्वर : कितने ही दर्शन विज्ञान गढ़े मनुष्य ने,
रीति नीतियों की बाँधी शत मर्यादाएँ,
नगर तन्त्र से राजतन्त्र औ' प्रजातन्त्र बहु
परिचालित नित करते रहे मनुज समाज को !
पर मिट्टी की अन्ध अहंता को मानव मन
दीपित हाय, न कर पाया अन्त:प्रकाश से,
उसकी जड़ निर्ममता को कर प्रीति विद्रवित
सँजो नहीं पाया विस्तृत जीवन शोभा में !
जाति वर्ण के, वर्ग श्रेणि के अन्धकार को,
खण्ड युगों की संस्कृतियों के संस्कारों को,
राष्ट्रों की स्पर्धाओं, भिन्न मतों, वादों को
मनुष्यत्व में ढाल न वह पाया भू व्यापक !
संस्कृति का मुखड़ा पहने, छल सभ्य वेश में
प्रणत रीढ़ पशु मात्र रहा गत युग का मानव ! !

दूसरा स्वर : यह सिर के बल खड़ी मूर्ति है किस नर पशु की ?
मानव के पूर्वज-सा लगता भाव मूढ़ जो !
पुच्छ विषाण विहीन, भरा बहु रोओं से तन,
दृप्त मद्यपी के से दृग, भौंड़ी मुख आकृति :
मत्त वृषभ का-सा मांसल निचला तन इसका,
कौन पड़ा यह गड्ढे में, कीचड़ में डूबा !

तीसरा स्वर : किसी मनोविश्लेषक की प्रतिमा लगती यह,—
सीढ़ी-सीढ़ी उतर गहन वासना गर्त में
अवचेतन के अन्धकार में भटक गया जो !
ऊर्ध्व श्रेणियाँ छोड़ चेतना की, जो निम्नग
निश्चेतन में विचरा पशु मानस के स्तर पर,
उलझ ग्रन्थियों में असंख्य इन्द्रिय भ्रम पीड़ित
खोज न पाया आत्मशुद्धि का पथ अन्तर्मुख,—
उभरे मोटे ओठों में लालसा दबाये
कुण्ठाओं की रेखाओं से जर्जर आनन !

एक स्वर : और अनेकों खण्डित चिह्न यहाँ गत युग के
पड़े धूल में,—अंकित जिनमें धुँधली स्मृतियाँ

प्राणि वनस्पति जग के जीवन वैचित्र्यों की ! ...
यह डार्विन है क्या ? ...जिसने जीवन विकास की
विस्मृत कड़ियाँ गुम्फित कीं निज जीवशास्त्र में,
वर्गचयन, परिवेश, परिस्थिति को महत्त्व दे :
जल थल नभचर के विकास का क्रम सुलझा कर
सिद्ध किया मानव को वंशज शाखा मृग का,—
निष्क्रिय परवश मात्र मान जीवनी शक्ति को !

दूसरा स्वर : यह सम्भवत: कार्लमार्क्स ! समदिक् जीवन का
विश्लेषण संश्लेषण कर जिसने दिग्व्यापक
नव द्वन्द्वात्मक भूतवाद का युग दर्शन दे
आन्दोलित कर दिया लोक जीवन समुद्र को,—
अर्थशास्त्र का नव संजीवन पिला जनों को !
वर्ग क्रान्ति का दूत, साम्य जन तन्त्र विधायक !

तीसरा स्वर : देखो हे, यह जुड़वों-सी म्रियमाण पड़ी हैं
युगल मूर्तियाँ लुंज पुंज हो यहाँ घिनौनी :
बर्बर गर्हित आकृति इनकी, बौना-सा कद,
वक्र भृकुटि, दर्पोन्नत शिर, पद मद स्फारित दृग :
रक्त सिक्त पृथु हस्त, क्रोध से फूले नथुने,
भारी भद्दे पैर रौंदते हों ज्यों भू को !!

दूसरा स्वर : राजनीति औ' अर्थनीति की प्रतिमाएँ ये,
सँग-सँग जो नित रहीं स्वार्थ की गलबाँहीं दे :
दुरभिसन्धि करतीं, कुचक्र रचतीं जन भू पर,
आन्दोलन संग्राम छेड़ती रहीं निरन्तर
जन संगठनों के मिस नव अधिकार भोगतीं !
आकृति में ठिगनी, क्षमता में महाकाय ये
महाध्वंस लायीं भू पर अणुबल संग्रह कर ! ...
चूर्ण-चूर्ण कर दो इनका स्मृति शेष रूप हे,
मिट्टी में मिलने दो मिट्टी के दैत्यों को,
बहिर्जगत के अन्ध तमस में रहें भटकते
यमज प्रेत ये निर्मम, जग जीवन के घातक !

गीत

खोज, खोज, उर उदार !
तमस में छिपा प्रकाश,
प्रलय में सृजन विकास,
मृत्यु अमर का विलास
जगत रे नहीं असार !
पतझर में नव वसन्त,
सीमा में चिर अनन्त,
खुल रहा नवल दिगन्त
युग प्रभात मुख निहार !

एक स्वर : तिमिर तोम छँट रहा, कट रहे धूमिल पर्वत,

स्वर्ण विम्ब नव उदित हो रहा मनोगगन में,
नवल चेतना किरणों से दीपित आशाएँ,
उतर रही है दिव्य ज्योति अन्तः शिखरों पर !
ध्वस्त विगत मानस का खँडहर पड़ा धरा पर,
भूमिसात् गत भेद भित्तियों के दुर्गम गढ़,
उड़ा भाप बन भू शोषक भौतिक आडम्बर,
निखर रही नव भूतों से सम्पन्न धरित्री !
ऊर्ध्व पंख उड़ती अभिनव प्राणों की शोभा,—
स्वर्ण हंस-सी उतर रही निःस्वर जन-भू पर
ज्योतिर्मयी नवल आध्यात्मिकता नव चेतन !

दूसरा स्वर : यह किसकी प्रतिमा है स्वर्गिक आभा मण्डित ?
जीवन सुषमा से निर्मित जिसके प्रिय अवयव,
विश्वप्रीति से स्पन्दित विस्तृत कोमल अन्तर,
करुणा विगलित दृष्टि, ज्ञान से दीपित मस्तक,
दक्षिण कर में अभय, वाम में संजीवन ले
कौन उतर आयी भू तम में यह सुरबाला ?
धरती की रज को शोभित करता इसका तन
उमड़ रहा चेतना सिन्धु नव, निस्तल घट में !

तीसरा स्वर : इसे देखते ही पहचान गया मेरा मन !
यह संस्कृति की प्रतिमा है नव आभा देही,
अपने ही उर के प्रकाश से, रहस नियम से,
जिसका रूपान्तर होता रहता युग-युग में !
बाह्य शक्तियाँ जब अपने ही युग विप्लव में
ध्वंस भ्रंश हो जातीं, कटु संघर्ष में निरत,
अन्तर के शाश्वत प्रकाश से यह नव जीवन,
नव मन निर्मित करती रहती नव चेतन हो !
समाधिस्थ-सी यहाँ पड़ी यह आत्मलीन हो,—
इसे देखकर नव जीवित हो उठी हृदय में
नव जीवन,नव ज्योति प्रीति, श्री सुख की आशा !
जय हो नव मानवता की, जय नव संस्कृति की,—
जिसके पावन अमृत स्पर्श से, ध्वंस शेष से
धरा स्वर्ग नव निखर रहा जन मनःक्षितिज में!

(आशा-आनन्द-उत्साह द्योतक वाद्य संगीत)

चतुर्थ दृश्य

[सिन्धु तट पर एक स्वच्छ सुन्दर आश्रम : प्रभात का समय : एक नवयुग द्रष्टा प्रौढ़ तापस, नवोदित सूर्य के स्वर्ण बिम्ब को, आह्लाद-पूर्वक, अर्धखिले रक्तश्वेत कमलों की अंजलि अर्पित कर रहा है। आकाश से चतुर्दिक् प्रकाश की रंगीन पंखड़ियाँ बरस रही हैं। नेपथ्य से प्रभात-वन्दना के श्लक्षण मधुर स्वर प्रवाहित हो रहे हैं।]

स्तवन

स्वर्णोदय, जय हे, जय हे !
ज्योति तमस मिलन याम,
धन्य, रहस श्री ललाम,
जीवन मन पूर्ण काम,
जगत् द्वन्द्व लय हे !
कनक कलश धरा शिखर
प्राण उदधि उठा निखर,
संशय भय गये बिखर
सुर नर विस्मय हे !
मिले रुद्ध स्वर्ग धरा
बुद्धि बनी ऋतंभरा,
सिद्धि खड़ी स्वयंवरा
जड़ चित् परिणय हे !
देव दनुज भेद-मुक्त,
मनुज राग द्वेष मुक्त,
श्रेय प्रेय सहज युक्त
चिर मंगलमय हे !
अन्तर्नभ के प्रकाश
शाश्वत मुख के सुहास,
अति मानस के विलास
नित नव, अतिशय हे !

द्रष्टा : नव ऊषा का ज्योति द्वार अब अन्तर्नभ में
धीरे-धीरे खुल, दीपित करता दिगन्त को,
मनःसिन्धु की लहरों में शत स्वर्ण रश्मियाँ
खेल रहीं आलोक चूड़, भावों से मुखरित !
उतर रही नव जीवन प्रतिमा आभा देही,
शोभा पंखों में उड़, नव स्वप्नों में मूर्तित,
स्वर्ण शुभ्र कलहंस कपोत विचरते नभ में,
बरस रहा सौन्दर्य अलौकिक धरा शिखर पर !
कुसुमित अब भू का प्रांगण जन गृह कुंजों में,
स्वप्न झरोखे खुले दीप्त शत अन्तर्नभ को,
विचर रहे हैं शान्त अभय नर अन्तर्लोचन
प्रीति ध्वनित कर भू का उर निज पद चापों से !
लुप्त हो गयी गत दुःस्वप्नों की छाया स्मृति
हृदय ग्रन्थि खुल गयी, धुल गये भू के कलमष,
अन्तः सलिला नवल चेतना की धारा से
स्वप्न मुखर हो उठे मग्न मन जीवन के तट !
परिवर्तित जीवन के प्रति जन भाव कोण अब,
राग द्वेष हट गये, मिट गयी हिंसा स्पर्धा,
छायातप हो गये जगत के नव संयोजित !

इन्द्रिय पीड़ित, बहिर्भूत, दिग्भ्रम कुण्ठित मन
आरोहण करता अन्तर्मुख सोपानों पर :
दिव्य मातृ चेतना बन गयी, प्रकृति चेतना,
व्यक्ति विश्व के कटु भेदों में स्वर संगति भर !
धीरे-धीरे उपचेतन निश्चेतन का तम
आलोकित हो रहा ऊर्ध्व स्पर्शों से प्रेरित,
गत युग के समदिक् विरोध वैषम्य निखिल घुल
नवल सन्तुलन ग्रहण कर रहे अन्तःपूरित !
स्वतः दिव्य चेतना आज संचालित करती
मानव के जीवन के मन के व्यापारों को !
तर्कवाद मिट गये, न अब बौद्धिकता का तम,
इच्छाओं का संघर्षण, प्राणों का विप्लव !
शिथिल वसन-सी खिसक देह से, जीवन तृष्णा
मानव के चरणों पर पड़ी प्रणत छाया-सी !

क्या विरक्त हो गया मनुज मन जीवन के प्रति ?
नहीं, क्षुद्रता सकल मिट गयी मानव मन की,
जिससे खण्डित, स्वार्थ विभक्त रहा जग जीवन !
अहं भाव का स्थान ले लिया आत्म ऐक्य ने,
श्रद्धा ईड़ा सहज समन्वित आज हो गयीं :
अन्तरतम से योग युक्त हो चेतन मानव
मुक्त मधुर वैचित्र्य भोगता विश्व प्रकृति का !
आत्म स्थित वह, जीवन की आकांक्षाओं का
दास न अब, स्वामी है वह, द्रष्टा, भोक्ता है !
जीवन की कल्पना निखिल अन्तः परिणत हो
श्री शोभा आनन्दमयी बन गयी धरा पर :
आज दिशाएँ मुखरित अन्तर झंकारों से,
सस्मित धरणी का मुख अमर कला कौशल से :
बाह्य योजनाओं से अब न हृदय आतंकित,
अन्तः शोभन नर, अन्तर्जीवन निर्माता !
शान्ति बरसती, अन्तस का सौन्दर्य बरसता,
ज्योति प्रीति स्मित धरा मनाती जीवन उत्सव !

(आनन्द-मंगलसूचक वाद्य संगीत जो बिगुलों के स्वरों तथा घोड़ों की टापों में डूब जाता है ।)

कौन आ रहे ये अश्वारोही सैनिक-से,
शस्त्रों से सज्जित, प्रयाण का वाद्य बजाते,
आत्म पराजित, विश्व विजय के आकांक्षी जन,—
अभी शेष है भू पर क्या पशुता, बर्बरता ?

(कुछ सैनिकों का प्रवेश)

प्रतिनिधि : अभिवादन, शत अभिवादन करते नत मस्तक
हम पृथ्वी के लोकतन्त्र सत्ता के प्रतिनिधि,

विश्व भ्रमण को निकला है यह संस्कृति मण्डल
सद्भावों से प्रेरित, मैत्री स्थापित करने !

द्रष्टा : सैनिक भूषा में ?

प्रतिनिधि : धरती के रक्षक हैं हम !
महानाश में अक्षत रहा प्रदेश हमारा !
हाहाकार मचा था जब सारी धरती में
नव जीवन निर्माण निरत था लोकतन्त्र तब !
अर्धशती है बीत गयी उस विश्व ध्वंस को,
लोकसभ्यता विद्युत् गति से आगे बढ़कर
विकसित अब हो उठी चरम सीमा में अपनी
अन्न-वस्त्र से चिर कृतार्थ भू जीवी जनगण
आज हमारे शस्य स्मित उस महादेश में,
शिक्षा से सम्पन्न, कला कौशल में दीक्षित,
सामूहिक जीवन शिल्पी जग के प्रसिद्ध वे !
हमने विद्युत् वाष्प रश्मि अणु को वश में कर
उन्हें लोक जीवन रचना में किया नियोजित,
सिन्धु गगन से खींच तरंगित तड़ित् शक्ति को
शत आविष्कारों से उर्वर किया धरा को !
नये फूल फल, नयी वनस्पतियाँ उपजाकर,
नये जन्तु, नव अश्वशक्ति के प्रहरी रचकर
हमने बहु यान्त्रिक मन, यान्त्रिक जन निर्मित कर
विश्व प्रकृति को किया विजित मानवक्षमता से !
बरसाते अब कृत्रिम घन शतमुख जल सीकर,
मरुथल जीवन उर्वर अब, पर्वत नत मस्तक,
दीप्त निशा का तमस रसायन के जादू से,
स्वर्ग बन गयी भू, भौतिक विज्ञान स्पर्श से !
महत् सभ्यता का निर्माण किया है हमने
शोषण पीड़न से रक्षित कर जनगण का श्रम !

द्रष्टा : चिर कृतार्थ हो उठा निभृत सागर प्रान्तर यह
आज आपके शुभागमन से प्राण प्रफुल्लित,
लोकतन्त्र के नागरिकों के प्रतिनिधियों का
हम हार्दिक स्वागत करते हैं, उनके अतुलित
जीवन कौशल से विस्मित हो !

प्रतिनिधि : क्या यह कोई
नया तन्त्र है ?

द्रष्टा : यह जीवन संस्थान मात्र है !
जहाँ मनोयन्त्रों को विकसित कर साधकगण
नव प्रयोग कर रहे मनुज मन के विधान पर !
औ' अन्तर्विज्ञान निहित नियमों पर आश्रित
सत्यों का अनुशीलन कर, मानव जीवन का
रूपान्तर कर रहे, अभीप्सा में रत अविरत !
अन्तर्मन की सुप्त शक्तियों को जाग्रत् कर

दिव्य अवतरण को सचेष्ट करने के प्रार्थी,
आत्म समर्पण से, श्रद्धा, विश्वास, प्रीति से
आवाहन कर रहे महत् जीवन का भू पर !
मानव के अन्तः शिखरों पर नव्य चेतना
उतर सके जिससे ज्योतित स्वर्णिम प्रवाह-सी !
हास्यास्पद लग रहे भले हों आज आपके
समदिक् आदर्शों में निरत बहिर्गत मन को
ऊर्ध्वग जीवन आकांक्षा के स्वप्न हमारे,
किन्तु साधकों का गभीर अनुभव है निश्चित
भगवत् जीवन ही भू जीवन का भविष्य है !

प्रतिनिधि : आप वृथा सन्देह मत करें अपने मन में,
महत् प्रभावित हुए आपकी वाणी से हम,—
सत्य जानिए, लोकतन्त्र के महदाकांक्षी
जन का मन नव आदर्शों के प्रति जाग्रत् है !
जीवन की इच्छाओं से परितृप्त प्राण वे
भौतिक सामाजिक साधारणता से अवगत,
बोझिल सामूहिकता से हो मर्म श्रान्त जन
अन्तःशिखरों पर आरोहण को उद्यत हैं !
दिव्य ज्ञान की दीक्षा के उपयुक्त पात्र वे
आप उन्हें कृतकृत्य करें अभिनव प्रकाश दे,
आत्मा का स्वर्णिम पावक वितरण कर जन में
गहन अनुभवों से पोषित कर उनके मन को !
गत युग के आदर्श वस्तु विषयक विभेद अब
हुए समापन—जड़ चेतन का कटु संघर्षण;
धर्म काम के बीच पट गयी दुर्गम खाई,
धरा स्वर्ग को मिला दिया नव ज्योति सेतु ने !
बाह्य विरोध मिटे सब, भू जीवन की लघुता
अपनी ही भंगुर सीमाओं से लज्जित है !
महत् प्रेरणा, दिव्य जागरण के हित उत्सुक
बहिर्गमन से श्रान्त, खोजते जन अन्तःपथ !
संख्याओं के कोलाहल से कम्पित अन्तर,
यान्त्रिकता के लौह पदों से जर्जर जीवन
समतल समता, प्रचलित, परिचित मध्यमता से
चिर विरक्त हो, नव स्वप्नों का आकांक्षी अब !
जरा मरण को भुला अचिर ऐहिकता के हित
बहला सकता मनुज न मन को दीर्घकाल तक !
फिर इन्द्रिय शैथिल्य हृदय को मोह विरत कर
प्रेरित करता उसे तत्व की खोज के लिए !
लोकतन्त्र का यह अनुभव अब, सामूहिकता
निगल नहीं सकती अन्तःस्थित मनुज सत्य को ! ···

(शान्ति, पावनता, आनन्दद्योतक वाद्य संगीत)

ऐसी पावन शान्ति सहज जो व्याप्त है यहाँ
हमें नहीं अन्यत्र धरा में मिली कहीं भी !
यह कैसा नीहार कान्ति का रजत लोक है ?
विचरण करता हृदय यहाँ किन सोपानों से
अन्त: सुरभित स्वप्नों के नव मुकुलित जग में !
कैसी स्वच्छ सरल जीवन चेतना यहाँ है,
एक अलौकिक आकर्षण है व्याप्त चतुर्दिक् !
सिहर रहीं किस गोपन सुख से मन:शिराएँ,
खुल पड़ते अन्त: शोभा के पट पर नव पट
अपलक नयनों के सन्मुख,—मन को विमुग्ध कर !
जाग रहीं शत सूक्ष्म प्रेरणाएँ मानस में,
शिखरों पर नव शिखर उठ रहे स्वर्ग विभव के,
प्राण सिन्धु को नव स्पर्शों से आन्दोलित कर !
कौन देव ये, स्वस्थ सौम्य, स्मित, मुखमण्डल से
शान्ति कान्ति चिर बरस रही किस अन्त:सुख की ?
दुर्लभ है यह ज्योति प्रीति आनन्द मधुरिमा,
दुर्लभ भू पर अमर चेतना का यह उत्सव !
युग-युग से मानव अन्तर इस अमृत स्पर्श की
मर्म मधुर अनुभूति के लिए उत्कण्ठित था !
लोकतन्त्र का जीवन वैभव इस जीवन की
छाया की छाया है, क्षर भू रज में लुण्ठित ! ···
आप हमें चरितार्थ करें नव ज्ञान दृष्टि दे,
रिक्त धरा को पूर्ण करें निज अमर दान से !

द्रष्टा : आज परम आनन्द मिला, जन प्रतिनिधियों के
उच्चाकांक्षा से प्रेरित वचनों को सुनकर !
यह ईश्वर की महत् कृपा है : समतल जीवन
आज ऊर्ध्वमुख आरोहण के हित उद्यत है !
आज धरा के अन्धकार का गर्त भर गया
नव जीवन की आकांक्षा के नव प्रकाश से,
भू जीवन के क्लेश मिट गये, भेद भर गये,
रूपान्तर हो रहा प्रकृति का परम दया से !
आप सहज आतिथ्य करें स्वीकार हमारा
तापसगण को जनसेवा के हित अवसर दे !
भगवत् करुणा जनगण पर चरितार्थ हो रही
रूपान्तर का समय निकट अब भू जीवन का !

देख रहा मानव भविष्य मैं सूक्ष्म दृष्टि से,
विगत राजनीतिक आर्थिक तन्त्रों पर विजयी
भू पर मानव तन्त्र हो रहा प्राण प्रतिष्ठित
मनुष्यत्व के ऊर्ध्वग मूल्यों पर आधारित !
बौद्धिक वादों, स्थूल मतों से मुक्त धरा जन
स्वत: खिल रहे पुष्पों-से अन्त: प्रतीति स्मित,

उर के सौरभ में मज्जित कर स्वर्ग लोक को !
आओ, वन्दन करें आज उस परम शक्ति का
क्रीड़ानक यह विश्व महत् जिसकी इच्छा का !

गीत

ज्योति दायिनी,
अमृत वाहिनी,
जगत पावनी !
उतरो भू पर निकाम
जन मन हो प्रीति धाम,
जीवन शोभा ललाम,
स्वप्न शायिनी !
मुक्त रजत उर प्रसार
चेतन में जगे ज्वार,
प्राणों में नव निखार
कलुष दाहिनी !
कुसुमित भू वास द्वार
अन्तर्मुख जन विचार,
भौतिक श्री सुख अपार
स्वर्ग भाविनी !
प्रभु पर श्रद्धा प्रतीति,
संस्कृत हों रीति नीति,
विजित जरा रोग भीति,
मृत्यु पायिनी !

अप्सरा

(सौन्दर्य-चेतना का रूपक)

अप्सरा
कलाकार
ध्वनियाँ
प्रतिध्वनियाँ

प्रथम दृश्य

(भावोद्वेलन)

[मन:क्षितिज की द्वाभा चेतना में, हृदय सरोवर के तट पर कलाकार ध्यान मौन बैठा है। सामने भावनाओं की स्वर्ण शुभ्र श्रेणियां, विचारों के रजत कुहासे को चीरकर, निखर रही हैं। आकाश से प्रेरणाओं की लहरियों द्वारा मन्द मधुर स्वप्नवाहक संगीत गुंजरित हो रहा है।]

अप्सरा का गीत

छम छम चल कल पायल
बजतीं मेरी प्रतिपल,
नित नीरव नभ से रव
झरता मेरा अविकल !

मर्मर भर अस्फुट स्वर
गाते वन के तरुदल,
लहरों पर मृदु पग धर
फिरती मैं रह ओझल !

ऊर्ध्वग पथ सौरभ श्लथ
उड़ता मेरा अंचल,
घूंघट धर शशि मुख पर
हँसती मैं स्वर्णोज्वल !

जीवन के आँगन में
ऊषा की स्मिति निश्छल
छायातप में कँप-कँप
सन्ध्या में जाती ढल !

(संगीत-लहरियां धीरे-धीरे विलीन होती हैं)

कलाकार : यह कैसी संगीत वृष्टि हो रही गगन से
या मेरा ही ध्यान मौन मन गा उठता है ?
कैसा आकर्षण है यह, कैसा सम्मोहन,···
यह सौन्दर्य मधुरिमा,···कोई मेरे मन को
जैसे बरबस खींच रहा हो !···क्या है यह सब ?
प्राणों की व्याकुलता, जीवन की व्याकुलता !
अह, अब तो मैं यौवन का रोमांच द्वार भी

पार कर चुका, जब मंजरित दिगन्त धरा का
पागल कर देता था मन को !
यह मादकता,
यह सुन्दरता, यह सम्मोहन अकथनीय है,
अकथनीय !···आश्चर्यचकित हूँ ! बाहर भीतर,
ऊपर नीचे,—नील व्योम पर, गिरि शिखरों पर,
हरित धरा पर,—वही मधुर सम्मोहन मुझको
बुला रहा है ! सबने मुझको घेर लिया है !
बन्दी हूँ मैं बन्दी ! सन्मुख, रजत सरोवर
पर्वत की बाँहों में जैसे बँधा हुआ है !···
इन पाषाणों के भी क्या प्रेमार्द्र हृदय है ?
ऐसा ही आकुल चंचल हो मेरा मन भी
जीवन के पुलिनों से टकराता रहता है !
जैसे कोई शोभा छाया मेरे मन से
लिपट गयी हो, और उसी के संकेतों पर
मेरा जीवन नाच रहा हो ! विस्मित हूँ मैं !
नहीं जानता, स्वर्ग लोक की कौन अप्सरा
मेरे भीतर समा गयी है, जिसने मन को
निज स्वप्नों के फूल पाश में बाँध लिया है !
यह समस्त सौन्दर्य मुझे लगता है जैसे
उसका एक कटाक्ष पात है ! मुख पर झिलमिल
किरणों का घूंघट दे, स्वर्णिम छाया पट से
आँखमिचौनी खेला करती है वह मुझसे !
उसके रूपों के सौ-सौ आवर्तों में पड़
बहते हुए कमल-सा मेरा मन जाने कब
एक लहर के बाहुपाश से छूट, दूसरी
लहरी के चंचल अंचल में बँध जाता है !···
घोर अराजकता है प्राणों के प्रदेश में !
दन्तकथा के राजकुँवर-सा मोहित हो मैं
भटक गया हूँ किसी शप्त अप्सरा लोक में !

अप्सरा का गीत

जब निभृत नीलिमा कुंजों में
ऊषाएँ जगकर मुसकातीं
मैं अर्ध खुले वातायन से
अपना स्वर्गिक मुख दिखलाती !

जब कनक रश्मियाँ कलियों के
गोपन प्राणों को उकसातीं,
मैं सौरभ की चल अलकों में
गुंजरण रहस हूँ उलझाती !

मैं शशि की रजत तरी पर चढ़
तारापथ से आती - जाती,

मेघों के सतरँग शिखरों पर
स्वप्नों के केतन फहराती !

मैं मन: क्षितिज के पार जहाँ
स्वर्णिम द्वाभाएँ मँडरातीं,
गत सन्ध्याओं के पलनों में
अभिनव प्रभात हूँ विकसाती !
केवल न प्रकृति ही का प्रांगण
मैं रंग वृष्टि में नहलाती,
मैं अन्तर जग को भी अपनी
स्वप्निल सुषमा में लिपटाती !

(गीत के स्वर प्राणोन्मादन वाद्य ध्वनियों में डूब जाते हैं।)

कलाकार : हाय, कहाँ खो गया समस्त मनोबल जाने,
आज निखिल अध्ययन, मनन, चिन्तन जीवन का
व्यर्थ हो गया : ज्योतिरिंगणों-से जगमग कर
निष्प्रभ पड़ते जाते हैं आदर्श सुनहले,
ताराओं-से फीके पड़कर बुझते जाते
दीप ज्ञान के, मेघों के घन अन्धकार में,...
ज्योतित कर पा रहे नहीं वे जीवन का पथ !
किन अज्ञात गुहाओं का उन्मत्त तमस यह
आज न जाने उमड़ रहा, जीवन मूल्यों को
अतल निमज्जित करने निज उच्छल प्रवाह में !!

चंचल हो उठता फिर फिर मन ! ...यह क्या केवल
प्राणों का उद्वेलन है ? या मन का भ्रम है ?
अथवा बदल रहा युग करवट ? मन के भीतर
नया सत्य या जन्म ले रहा ? ...महारात्रि है ! ...
यह कैसी मर्मर ध्वनि जग उठती प्राणों में ?
जीवन के ठूँठे पंजर में नव स्पन्दन भर
एक नयी चेतना लपेट रही मानस को
अपनी स्वर्गिक शोभा के अभिनव वैभव में,—
पुलक पल्लवित हो उठता तन सूक्ष्म गन्ध से !
स्वप्नों के रंगों में वेष्टित कर प्राणों को
नव वसन्त हो फूट रहा अन्त:शोभा स्मित !
धुँधला पड़ता जाता मन का पिछला संचय
उपचेतन के गहरे गर्तों की विस्मृति में,
एक नया सौन्दर्य ज्वार उठता अन्तर से
धरणी के जड़ पुलिनों को प्रक्षालित करने !

(स्वप्नवाहक वाद्य संगीत और सहगान)

अप्सरा : मैं स्वप्नों के दल उकसाती
अन्तर सौरभ बन छा जाती,
मैं रूपहीन, दृग विस्मित कर,
स्वर शब्द रहित लय में गाती !

कलाकार : तुम छाया-सी छिप बिलमाती
उर में आकुलता उपजाती,
ओ रंगमयी, तुम अन्तर को
शोभा ज्वारों में नहलाती !

अप्सरा : मैं मन के नयनों में आती,
उर के श्रवणों में बतलाती,
मैं ध्यान मौन अन्तर्नभ में
स्मित भावों के पर फैलाती !

कलाकार : तुमको प्रतीति करता अर्पित
उर की श्रद्धा से अभिनन्दित,

अप्सरा : मैं आत्म समर्पण के क्षण में
निर्झर प्रकाश के बरसाती !

(आवाहनसूचक वाद्य संगीत जो मानसिक संघर्ष-द्योतक संगीत में परिणत हो जाता है।)

द्वितीय दृश्य

(मानसिक संघर्ष)

[जीवन की हरी-भरी घाटी : पृष्ठभूमि में आरोहण करता हुआ मन का सोपान रजत धूमिल गिरिशृंग-सा दिखायी दे रहा है । नीचे अतल अवचेतन अन्धकार में काली घटाएँ अनेक कुत्सित आकृतियाँ धरकर उमड़ रही हैं।]

कलाकार : कौन पुकार रहा मुझको अज्ञात देश से
या यह मेरे ही अन्तरतम की पुकार है !
आरोहण कर रही भावना किन अनजाने
शोभा के सोपानों से किस नव्य लोक में,
जीवन के मन के स्वर्गों को पार कर निखिल !
नव मानवता के विकास का ज्योति शिखर उठ
दीख रहा सन्मुख स्वर्णिम पंखों से स्पन्दित !
एकाकी विचरण कर अन्त:स्मित व्योमों में
स्वप्न क्लान्त चेतना उतरती जब धरती पर,
जहाँ तुमुल जन कोलाहल, युग क्रन्दन छाया,—
तब जैसे लगता है वास्तवता से कटकर
वाष्प खण्ड-सा अपने ही कल्पना जगत में
उड़ता फिरता है मन रिक्त कुहासा बनकर
अपने ही स्वप्नों के इन्द्रधनुष से रंजित !
बादल भी जो नहीं बन सका, जिसके उर में
गर्जन है, तर्जन है, विद्युत्, जल सीकर है !
बरस बरस जो धरती को नित उर्वर रखता

प्राणों की हँसमुख हरियाली में पुलकित कर !
घोर असंगति आज बाह्य भीतर के जग में !!
अह, यह कैसा संशय का तम घिरता मन में
किमाकार शत छायाऽकृतियों में कँप-कँप कर,
रेंग रहीं जो भग्न रीढ़ धरती की रज में !
ऊपर के नीरव आकाशों में मँडराकर
सृजन चेतना रुकी हुई है, लोक कर्म को
अनुप्राणित करने अपने अभिनव प्रकाश से !
नव्य सन्तुलन कब आयेगा जन धरणी के
ऊर्ध्वग समतल जीवन को शोभा कल्पित कर !

(नैराश्यसूचक वाद्य संगीत)

युग-चेतना का गीत

युग-चेतना : घुमड़ रहा अन्धकार, अन्धकार,
ह्रास नाश का तमिस्र दुर्निवार !
धरती की गुहाएँ रहीं पुकार
उमड़ रहा घोर सृजन प्रलय ज्वार !
प्रलय ज्वार !

पुरुष ध्वनियाँ :
ये लुण्ठित कुण्ठित कायाएँ,
ये लुंजित पुंजित छायाएँ,
धरती को दाँतों से पकड़े
फिरतीं लोभी बाँहें पसार !
ये जन धरणी के बुद्धिप्राण,
आहत जिनका मिथ्याभिमान,
गत धरा चेतना के प्रतिनिधि
रोके जो मानव मुक्तिद्वार !

कोमल प्रतिध्वनियाँ : ये महत् दिव्य के अवरोधक
अपनी सीमाओं के पोषक,
नव मनुष्यत्व के विद्वेषी
निज कुण्ठा का करते प्रचार !
रेती सी नीरस चमक भरी
बौद्धिकता के तट पर बिखरी
सिद्धान्तों की मृग तृष्णा में
ये भटका करते बार - बार !

पुरुष ध्वनियाँ : गिरगिट-से रंग बदल अगणित,
युग परिवेशों को कर बिम्बित,
ये शत प्रतिरोध खड़े करते
युग जीवन धारा के सिवार !
निम्नग अवचेतन के पूजक,
अन्तश्चेतन के पथ कंटक,
ये विद्रोही नर नहीं, तुच्छ
मानव द्रोही, युग के अँगार !

कोमल प्रतिध्वनियाँ : जन जीवन में जो उच्च महत्
वह इन्हें नहीं होता दृगगत,
निज दमित लालसा का जन में
ये देखा करते रुद्ध भार !

इनको प्रिय नहीं उदात्त भाव,
लघु तुच्छ घृणित से विकृत चाव,
कुछ उलट गयी है ऐसी मति,
ये सिर के बल करते विहार !

पुरुष ध्वनियाँ : युग जीवन कर्दम के दादुर
समवेत कण्ठ गाते बेसुर,
जनता, जनता रटते, उसका
मानवता से कर बहिष्कार !

ये जन धरणी के बुद्धिप्राण,
आहत जिनका मिथ्याभिमान,
ये धरा चेतना के प्रतिनिधि
रोके मानव का मुक्ति द्वार !

युग चेतना : घुमड़ रहा अन्धकार, अन्धकार,
नाश में विकास पा रहा निखार,
अन्तरतम की गुहा रही पुकार
नव प्रकाश उठा रहा तिमिर ज्वार,
तिमिर ज्वार !

(युग-विवर्तनसूचक वाद्य संगीत)

कलाकार : बिखर रहा अब विगत मन:संगठन मनुज का,
चूर्ण हो रहा जीर्ण अहंता का विधान भित,
आज घोर अधिविश्व क्रान्ति छायी जन भू पर
निगल रहा जीवन तृष्णा का अवचेतन तम
मानव आत्मा के मूल्यों के ध्रुव प्रकाश को !
उतर नहीं पा रही नव्य सौन्दर्य चेतना
युग कल्मष से पंकिल धरणी के प्रांगण में !
आज नया दायित्व भार है मध्यवर्ग के
सृजन प्राण युग जीवन शिल्पी के कन्धे पर,
धरती की सौन्दर्य चेतना का प्रतिनिधि जो !
युग मन के बिखरे अनगढ़ उपकरणों को ले
मनुष्यत्व की नव प्रतिमा कल्पित कर उसको
प्राण प्रतिष्ठित करना है जन मन मन्दिर में !
युग आवेशों के कटु कोलाहल में उसको
नव जीवन की स्वर संगति भरनी है व्यापक :
वस्तु परिस्थितियों के निश्चेतन पदार्थ को
उसे ढालना है विकसित मानव चरित्र में !

तृतीय दृश्य

(उन्मेष)

[सूक्ष्म वाष्पों का स्वर्णिम छाया-सेतु इन्द्रधनुष की तरह धरती-आकाश के बीच टँगा है, जिसके ऊपर खड़ा कलाकार ऊपर को देख रहा है।]

अप्सरा का गीत

मैं ही शिव हूँ, मैं ही सुन्दर,
मैं अन्त: सत्य अनश्वर,
मैं युग लांछन से मुक्त आज
फिर उतर रही वसुधा पर !

युग खँडहर पर जो मँडराते
पीले पत्रों के पतझर,
मैं उन्हें मिलाती मिट्टी में
नव मधु की खाद बनाकर !

जो युग प्रबुद्ध, जो नव जाग्रत्,
श्रद्धारत संवेदनपर,
मैं उनके अन्तर शिखरों को
छूती, फैला स्वर्गिक पर !

जो अहं मूढ़, कृमि साँप
केंचुओं, घोंघों पर न्योछावर
वे सरीसृपों का रूप बोध दे
रेंगा करते भू पर !

मैं मानवता की तप:पूत
सौन्दर्य चेतना भास्वर,
निज रहस स्पर्श से विकसाती
भावों का वैभव अक्षर !

कल्याण ज्योति, ऐश्वर्य शिखा,
आनन्द सरित, रस निर्भर,
मैं निखर रही फिर प्राणों का
पहने स्वर्णिम छायाम्बर !

(वाद्य ध्वनि आरोहण करती हुई धीरे-धीरे विलीन हो जाती है)

कलाकार : एक नया चैतन्य, नया अध्यात्म धरा पर
जन्म ले रहा, मानव अन्तर के शतदल में,
निज स्वर्णिम किरणों के वैभव में मज्जित कर
मनुज हृदय की निखिल क्षुद्रता, रुद्ध अहंता !
एक महत् चैतन्य उदय हो, मानवता के
ऊर्ध्व भाल पर मुकुट रख रहा स्वर्ग ज्योति का !
एक महत् अध्यात्म, युगों की धार्मिक नैतिक

सीमाओं को अतिक्रम कर, मानव जीवन को
सँजो रहा फिर पूर्ण समन्वय की संगति में,
नव्य सन्तुलन भर भू की विशृङ्खलता में;
आर्थिक समता वर्ग हीनता के छोरों को
अन्तरैक्य के रश्मि सेतु में बाँध अलौकिक,
भौतिकता को, साम्यवाद को आत्मसात् कर !
महाऽगमन की, दिव्य अवतरण की मर्मर ध्वनि
गूँज रही अन्तरतम के गोपन गहनों में,
हिल्लोलित हो रहा धरा चेतना सिन्धु अब
नव आवेगों के अति गति झंझा प्रवेग से,
सूक्ष्म भार से प्रणत दीखते धरा शिखर सब
नव प्रकाश के रहस स्पर्श से आन्दोलित हो !
उद्वेलित हो रहा गाढ़ तम अवचेतन का
शत विरोध की शिखर तरंगों में भुजंग-सा
आलोड़ित हो, उद्धत फन, शत फूत्कारें भर,—
गरल फेन वह उगल अचेतन के नरकों का !
आज नये रावण उपजे हैं नये राम का
युग अभिवादन करने को शतमुख शीशों से,
देवासुर संग्राम छिड़ रहा जन मन भू पर
अश्रुत चापों से गुंजित जग जीवन प्रांगण !
स्वयंवरा बन खड़ी गुण्ठिता धरा चेतना
प्रकट हो रहे मनोनील में लोक पुरुष नव,—
जीर्ण मान्यताओं का जर्जर चाप तोड़ने :
नव जीवन की श्री शोभा को वरने के हित
आकुल चंचल आज पुनः जन धरणी का मन !

(प्राणोन्मादक वाद्य संगीत)

धरा चेतना का गीत

मैं प्यासी की प्यासी !
धरती की चेतना मूक
जन मंगल की अभिलाषी !

युग के कर्दम में लिपटा तन
अवचेतन तम में भटका मन,
जीवन स्वर्ग बसाने को
कब से आकुल घटवासी !

मैं उदात्त भावों की द्योतक
महत् उच्च कर्मों की पोषक,
सत्य बनेंगे कब ये मेरे
स्वप्न अमर अविनाशी !

तुच्छ राग द्वेषों से पीड़ित
क्षुद्र श्रेणि वर्गों में खण्डित,

कब मेरे जन होंगे चेतन
मानव, आत्म प्रकाशी !
मानव मेरा पुण्य शस्य फल
यदि न रहेगा जाग्रत उज्ज्वल,
अन्धकार में सनी रहूँगी
बनी दुखों की दासी !
मेरे मूक हृदय में प्रतिक्षण
जगता रहता स्वर्गिक स्पन्दन,
अमर चेतना से कब मण्डित
होंगे मृत्यु विलासी !

कलाकार : ईशावास्यमिदं सर्वं कहते द्रष्टा ऋषि
उपनिषदों के, जगती में जो कुछ अक्षय है
वह भगवत् सत्ता है : जग की निखिल वस्तुएँ
ईश्वरमय हैं, वही सत्य है सार रूप में !
पर विकास प्रिय भू जीवन के द्वन्द्व क्षेत्र में
ईश्वर के साम्प्रत स्वरूप से उसके भावी
महत् रूप ही का आकांक्षी है मानव मन !
जगत भागवत् जीवन भिन्न पदार्थ नहीं हैं,
ईश्वर का ही अंश जगत्, आरोहण पथ पर,
जिसका पूर्ण प्रकारान्तर होना निश्चित है !
राग द्वेष के रुँधे गर्त से मानव जीवन
विचर सकेगा समतल ऊँचाई में उठकर !
मनुज नियति ऊर्ध्वग जीवन के हित उद्यत हो
आज युगों के बाद पुन: चरितार्थ हो रही !

मनुज नियति का गीत

मनुज नियति मैं निर्मम,
जग जीवन के पथ में जिसको
होता आया दिग्भ्रम !
घिरी तमिस्रा घोर अँधेरी
पुन: बज रही युग रण भेरी,
नव किरणों का विजय हार ले
उतर रहे तुम निरुपम !
बीत रहीं गत मोह निशाएँ
निखर रहीं अब नयी दिशाएँ,
गहन सन्धि वेला, प्रकाश का
द्योतक यह दारुण तम !
बुझता अब तारों का नभ
वृत्त चेतना का गत निष्प्रभ,
द्वाभा के अंचल में लिपटा
नव प्रकाश का उपक्रम !
स्वप्नों की चापों से गुंजित
यह पगध्वनि मेरी चिर परिचित,

पूर्ण काम करने फिर मुझको
नवल तुम्हारा आगम !
सफल आज तप चिन्तन साधन
सफल युगों के मौन जागरण,
सार्थक लौह पगों का मेरे
दुर्गम भूपथ का श्रम !

चतुर्थ दृश्य

(रूपान्तर)

[प्रभात के प्रकाश से स्वर्णिम जन धरणी का प्रांगण : लता-प्रतानों की एक छोटी-सी पर्णकुटी के द्वार पर खड़ा कलाकार नव प्रभात की शोभा देख रहा है ।]

कलाकार : क्या है यह सौन्दर्य चेतना ? जग जीवन की
अन्तरतम स्वर संगति : जो अब अन्तर्नभ के
शिखरों से है उतर रही स्वर्णिम प्रवाह-सी
स्वप्नों से शोभा उर्वर करने वसुधा को !
जीवन का आनन्द स्वतः ही मूर्तिमान हो
देख रहा निज रत्नच्छाया स्मित वैभव को !
मानव के अपलक हृत् शतदल में सुख दोलित
दिव्य प्रेम का अमर स्वप्न प्रस्फुटित हुआ जब
अन्तर्मन की प्रथम उषा में, शान्त सौम्य स्मित,
वह जीवन सौन्दर्य चेतना में लिपटा था !
ज्योति प्रीति आनन्द मधुरिमा,—अब मानव का
जीवन भी पर्याय बन रहा उसी सत्य का !
अन्तरैक्य में, वाह्य साम्य में संयोजित हो
भू जीवन नव शोभा का प्रतिमान बन रहा !

(भू-जीवन के रूपान्तर का सूचक आनन्द-उल्लासमय मधुर वाद्य संगीत]

अप्सरा का गीत

मैं जन धरणी के प्रांगण में
स्वर्णिम पावक कण बरसाती,
सौन्दर्य प्ररोहों की लपटें
चेतना भूमि में उकसाती !
मैं ही भू शय्या पर सोयी
मैं मिट्टी के तम में खोयी,
मैं ही मधु ऋतुओं का वैभव
रज के रोओं में सुलगाती !
सुन्दरता की स्वर लय में नित
जीवन मानों को कर झंकृत

स्वर्गिक सुषमा की ज्वाला में
मैं मानव उर को लिपटाती !
मैं स्वप्नों के रथ पर आती,
मैं भावों के पर रँग जाती,
प्राणों के सौरभ से गुम्फित
छायातप में कँप लहराती !
मैं धरा चेतना की आभा
मैं स्वर्ग क्षितिज की हूँ द्वाभा,
मैं ऊषाओं के ज्योति केतु
मानस शिखरों पर फहराती !
सौन्दर्य चेतना मैं मन की,
श्री शोभा मानव जीवन की,
मैं स्वप्न संगिनी जन-जन की
छिप हृदय कुंज में मुसकाती !

कलाकार : उच्च उच्चतर सोपानों पर चढ़ अधिमन के
अति मानस के दिव्य विभव से अभिप्रेरित हो,
मनुज चेतना उपचेतन की अन्ध गुहा को
अवगाहित कर रही निखिल कल्मष कर्दम से !
विगत अहंता का विधान विकसित वर्धित हो
मुक्त हो रहा राग द्वेष, कुत्सा स्पर्धा से !
भेद भाव मिट रहे, छँट रहा संशय का तम,
उदय हो रही अन्तर्मुख भावना साम्य की !
नव प्रतीति से, सहज प्रीति से प्रेरित होकर
मानव मानव को विलोकता नये रूप में !
संयोजित हो रहा मनुज मन नव प्रकाश में,
जन्म ले रही नव मनुष्यता हृदय क्षितिज में !

मनश्चेतना का गीत

भू मानस में आओ !
मेघों के घन अन्तराल से
स्वर्णिम मुख दिखलाओ !
ध्वस्त पड़ा युग मन का खँडहर
उमड़ रहे घनघोर बवण्डर,
दिक् कम्पित अन्तर शिखरों पर
नव प्रकाश बरसाओ !
उद्वेलित भू जीवन सागर
लोट रहीं शत लहर लहर पर,
मानवता की भरी तरी यह
फिर से पार लगाओ !
क्षुधा तृषा कूलों में पोषित
जन जीवन की धारा शोषित,
पुलिन मग्न कर, नयी चेतना का
युग ज्वार उठाओ !

आज व्यक्तिगत, क्षुद्र स्वार्थरत
उर में जन मंगल हो जाग्रत्
अमृत प्रीति की विश्व भावना
मन में महत् जगाओ !

अन्तर्मन से मिले प्रेरणा
जन जीवन की बने योजना,
आत्म त्याग के पूत रक्त में
भू के कलुष डुबाओ !

कलाकार : कैसा युग है क्रूर हमारा ह्रास नाश का,
कलाकार के लिए नरक हो गयी धरा यह,
शोभाजीवी उर को जीवन की कुरूपता
नागिन-सी डँसती रहती शत फन फैलाये !
प्राणचेतना अधोमुखी हो अवचेतन के
तम में लिपटी रेंग रही है भग्न रीढ़ पर,
आरोहण कर पाती नहीं हृदय आकांक्षा
स्वप्न पंख सौन्दर्य चेतना के स्वर्गों में !
आहत, कुण्ठित सृजन प्रेरणा मृगतृष्णा बन
मन के मरु में भटक रही, जीवन विरक्त हो !
अन्तर्मन का विभव उतर प्राणों के स्तर पर
शोभा मण्डित कर पायेगा कब जीवन को ?

प्राण चेतना का गीत

प्राणों में निखरो !
भू पथ पर जीवन शोभा के
नव रथ पर विचरो !

रश्मि वृत्तियों को कर में धर
लोक लीक अभिनव अंकित कर
दुर्दम इच्छा के अश्वों को
संयत स्ववश करो !

स्पन्दित हों नव भावों के स्तर
गुंजित हो स्वप्नों से अन्तर,
निज स्वर्णिम रथ चक्रों का रव
मन में मत्त भरो !

नव आशा से कुसुमित हो मग
नव अभिलाषा से मुखरित पग,
नव विकासमय, नवल प्रगतिमय
निर्भय चरण धरो !

जीवन मंगल का हो उत्सव
श्री सुख सुषमा का हो वैभव,

नव रस के निर्झर-से झर तुम
जन मन तृषा हरो !

अमृत स्पर्श से हो तन पुलकित
मौन मधुरिमा से मन मुकुलित,
दिव्य शिखा ले, गुह्य तमस के
गह्वर में उतरो !

सौवर्ण

[प्रथम प्रकाशन वर्ष : १९५६]

बन्धुवर
श्री रामचन्द्र टण्डन को
सप्रेम

विज्ञापन

'सौवर्ण' के अन्तर्गत मेरे दो काव्य-रूपक संगृहीत हैं, जो अपने संक्षिप्त रूप में आकाशवाणी से प्रसारित हो चुके हैं। 'सौवर्ण' का रचनाकाल मार्च १९५४ है और 'स्वप्न और सत्य' का नवम्बर १९५२।

१८/७ बी०, स्टेनली रोड,
इलाहाबाद

सुमित्रानंदन पंत

द्वितीय संस्करण

इस संस्करण में 'दिग्विजय' नामक नवीन काव्य-रूपक भी जोड़ दिया गया है, जिसकी प्रेरणा मुझे यूरी गगारिन की अन्तरिक्ष यात्रा से मिली।

१५ फरवरी '६३

सुमित्रानंदन पंत

सौवर्ण

(संक्रमणकालीन मानव-मूल्यों के विकास का प्रतीक रूपक)

स्वर्दूत
स्वर्दूती
देव
देवी
कवि
सौवर्ण
अन्य स्त्री-पुरुष स्वर

[युगान्तर-सूचक वादित्र संगीत]

(डमरु ध्वनि के साथ नेपथ्य से उद्घोष)

पृष्ठभूमि में शोभित मौन हिमाद्रि श्रेणियाँ
विश्व सांस्कृतिक संचय सी स्थित शुभ्र सनातन,
दिग् विराट् यह दृश्य योग्य अमरों के निश्चय !

परिक्रमा कर रहे देवगण धरा शिखर की,
अर्ध अगोचर, जगमग छायातप में भूषित :
श्लक्ष्ण मधुर कण्ठों से गाते दिव्य वन्दना
नव्य युगान्तर का मन में संकेत पा रहस !

शंख घण्ट वीणा मृदंग गन्धर्व बजाते,
किन्नरियों के सँग किन्नर करते नीराजन :
प्रथम सुनें मंगल स्तव अम्बर पथ में गुंजित,
श्रवण करें फिर अमरों का गोपन सम्भाषण !

(शंख घण्ट वीणा मृदंग आदि का उल्लसित घोष)

[देवताओं द्वारा स्तवन]

जय हिमाद्रि, जय हे !

जयति, स्वर्ग भाल अमर,
जयति, विश्व हृदय शिखर,
जयति, सत्य शिव सुन्दर,
शाश्वत अक्षय हे !

पुण्य सेतु, देव निलय,
संस्कृति के शुचि संचय,
श्रद्धा सोपान अभय,
शुभ्र शान्तिमय हे !

धरा चेतना निखार,
जन मन के ज्योति ज्वार,
संयम तप मुक्ति द्वार
चिर मंगलमय हे !

विश्व ह्रास, क्रम विकास,
उर में करते विलास,
कोटि सृजन प्रलय लास
सुख - दुख अभिनय, हे !

पावन सुर वारि निखर
उर में स्वर्णिम रव भर
भू रज रखते उर्वर,
जड़ चित् परिणय हे !

केवल, भास्वर, अमेय,
ध्यानावस्थित अजेय,
जीवन के चरम ध्येय
चिन्मय, तन्मय हे !

हरित अवनि भरित अंक,
रहस कलामय मयंक,
काल व्याल से निशंक
मृत्युंजय, जय हे !

उदित कौन परम लक्ष्य
मनश्चक्षु के समक्ष ?
ऊर्ध्व प्राण मौन वक्ष,
सुर नर विस्मय हे !

(स्तवन के उपरान्त देवगणों का संवाद)

देव

निभृत याम यह मध्य निशा का, गुह्य तमसमय,
गहन अचेतन मन-सा, रहस मौन से मुखरित,—
भूत निशा ही देव जागरण की बेला भी !
अतल मूक भय नीचे, ऊपर नीरव विस्मय,
महा प्रकृति विश्राम कर रही स्वप्न-कक्ष में,—
रज सत तम हों लीन आत्म-विस्मृति के पट में !
कैसा निविड़ तिमिर छाया यह महा दिशा के
केशजाल - सा महाकाल के वक्षःस्थल पर
गाढ़ लालसाओं के आवर्तों में लहरा,—
सृजन हर्ष के प्रीति पाश में बँधे हुए दो !
दिव्य तमस यह दिव्य विभा में होगा वितरित
दीपित कर भय विस्मय को आशा प्रतीति से !

देवी

शुक्ल पक्ष : नवमी के शशि का सौम्य पार्श्व मुख
मौन मधुरिमा, आभिजात्य गरिमा में मण्डित,
नीरव सम्मोहन बरसाता अन्तरिक्ष से
अन्धकार के निखिल जगत का केन्द्र बिन्दु बन,—
अन्तर्मन के शान्त मुकुर-सा चिर तेजोमय !
हिम शिखरों पर प्रतिध्वनित शत रजत रश्मियाँ
आत्म चकित आभाओं में प्रतिफलित हो रहीं
दीप्त प्रेरणाओं - सी, निःस्वर उन्मेषों - सी,—

कँप उठती हों कोटि तड़ित् हर्षातिरेक से !
स्वतः स्फुरित जल उठतीं जगमग वन ओषधियाँ
बिना पँखड़ियों के पुष्पों-सी शत वर्णों में,
इन्द्रधनुष-पंखों में उड़कर स्वप्न दूत नव
विचरण करते अन्तश्चेतन मनोभूमि में,—
अद्भुत वातावरण उपस्थित रहस सृजन का !

देव

पतझर मधु का सन्धिकाल यह : झर झर पड़ते
पीले पत्रों के मर्मर क्षण, उर क्रन्दन से,
प्राण वायु का मलय स्पर्श पा; गत स्मृतियों के
जीर्ण भार से हृदय मुक्त कर; मूक धरा के
उपचेतन में गोपन अस्फुट पद चापों से
मौन प्रतीक्षा, आशा का संगीत वहन कर !—
निर्जन वन में गूँज उठी लय सृजन व्यथा की !
रजत कुहासे में लिपटी कलियों की स्वर्णिम
अर्ध खुली पलकें हँस उठतीं स्वप्न जगत में,
नाम हीन सौरभ में डूब गया दिगन्त मन !
अन्तश्चेतन सूक्ष्म भुवन हो रहे पल्लवित,
निकट संक्रमण-वेला भू मानस विकास की !

देवी

अधिमानस का शैल खड़ा जाज्वल्य, स्वप्न स्मित,
यशःकाय चैतन्य का अजर : अन्तर्मन का
सार तत्त्व : मानव संस्कृति का अमर दाय-धन !
जिसके शिखरों पर ऊर्ध्वाकाशों से झर झर
शत शत रत्न छटाएँ छहरातीं प्रकाश की,
जन्म अभी ले सका नहीं जो मनोगुहा में !
जन के अन्तर्जीवन का इतिहास अलौकिक
पुंजीभूत हुआ इसमें, युग-युग में विकसित,—
सूक्ष्म जगत के सोपानों में उठ अन्तर्मुख !

देव

आज नवल चेतना शक्तियाँ जन्म ग्रहण कर
ज्योति प्रीति सुषमा की स्वर्णिम निर्झरिणी-सी
नव स्वर लय गति में निःस्वर नूपुर झंकृत कर
रश्मि स्फुरित अन्तर्नभ से अवतरित हो रहीं
ध्यान मौन इस तपोभूमि के रजत व्योम में !—
जन श्रद्धा विश्वास, चेतना की साँसों से
जहाँ सत्य-परिणीत पार्वती परमेश्वर से !

देवी

कोटि लक्ष युग बीत गये, जब निस्तल जल से
ज्योति स्तम्भ-सा निखरा था चैतन्य लोक यह,

शनैः-शनैः उठ, ऊर्ध्व भाल पर धारण कर निज
रवि शशि तारा जटित मुकुट स्मितआत्मतेज का!
सामन्तों, सम्राटों, धनिकों के युग में बहु
विकसित होता रहा गुह्य अन्तःस्थ कूट यह,
मर्म गुंजरित इसकी प्राणों की द्रोणी में
जीवन वैभव रहा भूलता नव शोभा में!

देव

नया सांस्कृतिक वृत्त उदित हो रहा क्षितिज में
मानव जीवन मन का नव रूपान्तर करने,
नव संगति में सँजो परिस्थितियों की भू को,
नवल सन्तुलन भर बहिरन्तर के यथार्थ में!
नवमी का मणि कलश, पूर्ण चैतन्य सुधा से,
स्वप्न द्रवित राका बरसायेगा भविष्य की,
देव दृष्टि अतिक्रम कर चुकी मनुज के मन को,
सक्रिय फिर से दिव्य चेतना, नव्य संचरण
गुहा बद्ध ज्योतिर्निर्झर सा युग-सचेष्ट अब,
जन भू को मज्जित करने जीवन शोभा में!
देखो, वह, स्वर्दूत उतरते स्वप्न पंख स्मित,
आओ, हम विश्राम करें ध्यानावस्थित हो?

(देवों का अन्तर्धान होना : स्वर्दूतों का प्रवेश)

स्वर्दूती

ओ नभचर, ओ खेचर, क्या स्वप्नों में जाग्रत्
भाव पंख थक गये तुम्हारे? कहाँ छिपे हो?

स्वर्दूत

मैं हूँ तो, खेचरी, क्या कहूँ, इन अमरों का
नित नव वैभव देख, दृष्टि अपलक रह जाती!
बरस रही स्वप्नों की जगमग नीरव शोभा
स्वर्णिम पंखड़ियों में झर झर अन्तर्नभ से,
चकित रह गये लोचन क्षण भर ज्योति मूढ़ हो!

[प्रसन्न वाद्य संगीत]

यह अमरों का पुण्य धाम, गोपन क्रीड़ा स्थल,
सूक्ष्म चेतना, सृजन शक्तियों के प्रतीक जो :
आज अतन्द्रित मनःस्वर्ग के वासी सुरगण
तपोभूमि में हिमवत् की समवेत हो रहे,
कल्पान्तर का रहस समय सन्निकट जानकर,—
हम जिनके नव युग के प्रतिनिधि अग्रदूत हैं!

स्वर्दूती

रहने दो इन प्रतिक्रियावादी देवों को,
मूढ़ मनुज को स्वप्न पलायन सिखलाते जो!

आओ, हम भू भ्रमण करें स्मित छाया पथ से,
जन युग की नव परिणति देखें मनुज लोक में !

स्वर्दूत

क्या ये पौराणिक प्रयोग अब भी सम्भव हैं ?

स्वर्दूती

सब कुछ सम्भव है प्रगल्भ कल्पना के लिए,
जो विद्युत् गति से, अणु जव से वेगवती है !
नये प्रयोगों का यह वैज्ञानिक युग जग में,
वायुयान से उड़ इस युग का भौतिक मानव
देवयान में विचरण करता अब, अम्बर के
मन्थित उर को विद्युत् पंखों से विदीर्ण कर !

(शंखध्वनि और मन्त्रोच्चार)

वह देखो, स्मित अधित्यका अन्तर्मानस की,
ऋषियों के पावन आश्रम-सी, मौन ध्यान-रत :
नीवारों के ढेर लगे नीरव चिन्तन से,
लटके धुले कषाय, साधना विरस चित्त से;
लिपे पुते तृण प्रांगण सुथरे सात्त्विक मन से
यज्ञ धूम, मन्त्रोच्चारों से लगते धूमिल !
विचरण करते यहाँ मृगों के छौने अब भी
निज अबोध विस्मित चितवन से देख जगत को;
सींगों से सहला मुनियों के समाधिस्थ तन !
यहाँ आत्म-द्रष्टा तापस बैठे निर्जन में
पद्मासन स्थित, केन्द्रित दृग नासाग्र भाग में,
आरोहण कर रहे ऊर्ध्व श्रेणियाँ मनस की
प्राणों की सतरँग छायाएँ छील कर निखिल,
तन्मय, विश्व विरत, अखण्ड ब्रह्माण्ड सत्य को
बौने-सा अंगुष्ठ मात्र पा, आप्त काम मन !

स्वर्दूत

बौने-सा अंगुष्ठ मात्र ? यह विडम्बना है
मानव मन की निश्चय, जो अति भाव प्रवण हो,
घट को सागर में मज्जित करने के बदले
सागर को बाँधना चाहता सीमित घट में !
अखिल व्याप्त सत्ता के सक्रिय अमर सत्य को
आत्म रूप में परिणत कर निष्क्रिय साक्षीवत् !
हाय, असम्भव को सम्भव करने की निष्फल
चेष्टा में वह इन्द्रजाल रचता जाता नव !

स्वर्दूती

वह देखो, वह भू जीवन की घाटी नूतन
अन्धकार था जहाँ घोर, विद्युत् प्रकाश से

जगमग अब वह लगती नव नक्षत्र लोक-सी !
यहाँ मनस्वी मानव अथक निरीक्षण पथ से
उद्घाटित कर मूक प्रकृति के रहस वक्ष को,
भौतिक जग के गहन रहस्यों को अधिकृत कर
जुटा रहे मानव भावी के उपादान नव !
किन्तु मृत्यु के दारुण पंखों की छायाएँ
उन्हें त्रस्त कर रहीं, स्वेद से सिंचित उनके
रचना-श्रम को छीन, अमृत को बदल गरल में !
आज नाश की मुट्ठी में बन्दी विवश सृजन !

स्वर्दूत

कहीं नितान्त कमी है इस वैज्ञानिक युग में !
एक ओर है महत् मनुज का रचना संचय,
और दूसरी ओर बृहत् खाई अभाव की
मध्य युगों के अभिशापों से भरी भयानक
रूढ़ि रीति शोषण के कर्दम का मुँह बाये,—
मानवता के उर में पड़ी घृणित दरार-सी !
अभी बदलना मानव को भीतर बाहर से
अतिक्रम कर अपनी सीमाओं के संकट को !

स्वर्दूती

वह देखो, समतल प्रसार फैला दृग सम्मुख
जहाँ क्षुब्ध जन-ग्राम, नगर, गृह, हर्म्य, राजपथ
मृण्मय प्रतिमानों-से बिखरे विगत युगों के,
उपचेतन के मान-चित्र से अस्तव्यस्त जो :
मनुज सभ्यता की चापों-से ध्वनित अवनि पर
ज्यों मिटते पदचिह्न शेष हों काल पथिक के !
बहु देशों में खण्डित रुद्ध धरा का मानस
आज घृणित स्पर्धाओं, स्वार्थों से आतंकित,—
घनीभूत होती विनाश की भीषण छाया
जन भू के मुख पर विषाद नैराश्य से भरी !
मँडरा रहे विहंग भीम धूमांक क्षितिज में,
लगता हरित प्रसार सिन्धु-सा आन्दोलित अब,
आवेशों से उद्वेलित उद्भ्रान्त नागरिक
नव्य युगान्तर का आवाहन करते भू पर !

(गीत)

पुरुष स्वर

एक वृत्त हुआ शेष,
वृत्त शेष, वृत्त शेष !
जन-मन में मर्मर भर
नव युग करता प्रवेश !
वृत्त शेष !

स्त्री स्वर

युग विवर्त प्रहर घोर
छाया तम ग्रोर छोर,
दूर ग्रभी दूर भोर
दिक् कम्पित भू प्रदेश !
वृत्त शेष !

पुरुष स्वर

पावक का लोक ग्रमर
ग्राकुल करता ग्रन्तर,
मृत्यु घूम रहा घहर
गरजता क्षितिज ग्रशेष !
वृत्त शेष !

स्त्री स्वर

निद्रा से कलान्त नयन
स्मृतियों से उपचेतन,
मानस में युग स्पन्दन
प्राणों में नवोन्मेष !
वृत्त शेष !

पुरुष स्वर

सिहर रहे सूक्ष्म भुवन
जीवन रज नव चेतन,
धरते नव स्वप्न चरण
मिटने को दैन्य क्लेश !
वृत्त शेष !

(संगीत ध्वनियाँ धीरे-धीरे लय होती हैं : नागरिकों का संवाद)

एक पुरुष

क्रान्ति, विप्लवों, भू युद्धों, गृह संघर्षों से
त्रस्त, क्षुब्ध, युग-ग्रान्दोलित ग्रब धरा चेतना,
भूमि कम्प शत दौड़ रहे हों भू मानस में !
कैसा दारुण युग ग्राया निर्मम विनाश का !
ध्वस्त हो रहे संस्कृतियों के सौध रत्न-स्मित,
भू लुण्ठित स्मृति शिखर ज्योतिमुख ग्रादर्शों के,
नष्ट भ्रष्ट संगठन सचेतन मानव मन के !
धर्म, नीति, ग्राचार गिर रहे ग्रौंधे मुँह हो !
हँसमुख तम से भरे ग्रतल कामना-कूप में !
बुद्धि भ्रान्त, जीवन के ग्रावेशों से चंचल,
भाग रहा मन बहिर्जगत के जलते मरु में
मृग मरीचिका पीड़ित, चल जल छाया मोहित !

स्त्री स्वर

सिंहासन लुट रहे, टूटते छत्र रत्न प्रभ
ज्वलित तारकों से भू रज पर; रूढ़ि रीति के
दुर्ग ढह रहे,--दिवा भीत विश्वासों के गढ़
झिल्ली झंकृत! उथल-पुथल मच रही धरा के
जीवन प्रांगण में, दारुण झंझा कम्पित जो!
धधक रहे उपचेतन के शत ज्वालामुख गिरि
युग-युग के आवेशों की लपटें बखेरकर,
भीषण छायाओं से उद्वेलित जन-मन अब!

दूसरा पुरुष

परिवर्तित हो रही वास्तविकता जगती की
नव रूपों में प्रकट हो रहा जीवन शाश्वत,
विश्व विवर्तन को धारण करने में सक्षम!
शाश्वत तथा अनित्य विरोधी तत्त्व नहीं दो,
एक सत्य ही विविध स्वरूपों में अन्तर्हित;
परिवर्तन की अविच्छिन्नता ही शाश्वत है,
भूत भविष्यत् वर्तमान हैं गुम्फित जिसमें!
जीवन सक्रिय देश काल में विस्तृत शाश्वत,
सक्रिय आज परिस्थितियों की रुद्ध चेतना,
बहिर्दृष्टि विज्ञानों से नव बल संचय कर!
बदल रहा जीवन यथार्थ, मानस-पदार्थ अब,—
नव मानव मूल्यों में कुसुमित सामाजिकता
विश्व विषमताओं में नवल समत्व भर रही!

स्त्री स्वर

महत् प्रयोग धरा जीवन में आज हो रहे
एक बृहद् भू भाग रक्त कर्दम से उठकर,
दैन्य, निराशा, क्षुधा, ताप के घृणित नरक के
अन्धकार को चीर, विषमता की कारा से
वर्ग मुक्त हो, अमानुषी सत्त्वों स्वार्थों की
रीढ़ चूर्ण कर, मध्ययुगों की जीवन जर्जर
परम्पराओं की सीमाएँ छिन्न-भिन्न कर,
भू जीवन की मूर्त प्रेरणा से उन्मेषित
श्री समत्व का धरा स्वप्न निर्माण कर रहा
जन बल की संगठित लौह संकल्प शक्ति से!

पुरुष स्वर

युग-युग के शापों तापों से शोषित जनगण
मानवता की लोक कल्पना से अनुप्राणित
मूर्तिमान कर रहे धरा के प्राण-स्वप्न को!
निखर रहे नव रजत सूत्र जन सम्बन्धों के,
नव प्रणालियों के स्वर्णिम ताने-बाने में

नवल लोक-जीवन का पट हो रहा भू ग्रथित !
ग्रादर्शों के दीप्त लोक नव उदित हो रहे,
जन संस्कृति का ग्ररुणोदय प्रासाद उठ रहा
सिन्धु ज्वार-सा मुक्त प्राण, रवि शशि ग्रह चुम्बित,
खोल दिगन्तों के वातायन स्वप्न मंजरित !

(सुख वैभव द्योतक प्राणप्रद वाद्य संगीत)

स्वर्दूती

वह देखो, वह उपत्यका, सौन्दर्य पल्लवित
मौन चाँदनी खिली जहाँ जीवन स्वप्नों की !
रजत घण्टियों से झंकृत परिवेश सुरक्षित,
सौरभ से श्लथ वायु मनोभावों से गुंजित !
कलाकार हैं जुटे वहाँ विश्रुत युग चेतन
संवेगों के सूक्ष्म कुहासों में जो लिपटे,
नीरव पौ फटने का - सा मार्दव है मुख पर,
रूप उनींदी पलकें, भावोद्वेलित ग्रन्तर,
सम्भाषण कर रहे सुनो वे, वादों में रत,
ग्रात्म दर्प से घिरे, व्यथा से जग की पीड़ित !

(वाद विवाद का कोलाहल : ग्राकाश में
मँडराते हुए तोतों के स्वर, जो 'गॉड
ब्लेस यू', 'गॉड ब्लेस यू' दुहराते हैं)

स्वर्दूत

ये पश्चिम के मध्यवित्त बौद्धिक सम्भवतः,
मानववादी परम्परा के नव ग्रधिनायक,
जनवादी तन्त्रों के जीवन से विभीत हो
दिवा स्वप्न जो देख रहे पीड़ित पलकों पर,
व्यक्ति मुक्ति के कामी, मोह निशा में निद्रित !
निज कुसुमित वाणी से ये ग्राकर्षित करते
मनोजीवियों के मधु लोलुप मधुकर मन को !

स्वर्दूती

सुनने दो क्या कहते वे युग मंच पर खड़े !

एक बुद्धिजीवी

मित्रो, घोर भयंकर संकट की स्थिति है यह,
मानव संस्कृति यान डूबने को ग्रब निस्तल
जल तल में, जन जीवन ज्वारों से ग्रान्दोलित !
यह केवल ग्रार्थिक न राजनीतिक ही संकट,
जीवन के मौलिक प्रतिमानों का संकट यह
ग्राज उपस्थित जो मानव इतिहास में विकट;
वंचित जिससे नहीं कला साहित्य क्षेत्र भी !
सामाजिक होती जाती ग्रब प्रगति भावना,

विविध मतों, वादों, दलगत स्वार्थों में खोयी—
सामाजिकता आज बाहुबल से है शासित !

(उच्छ्वसित होकर)

मँडराते अपरूप विहंगम मुक्त गगन में,
गहरातीं धूमिल छायाएँ जन धरणी पर,
घोर प्रलय के मेघ उमड़ते अन्तरिक्ष में—

(सहसा हतवाक् होना)

दूसरा स्वर

सुनिए, मैं समझाता हूँ इस युग संकट को,
रुद्ध कण्ठ हो गये सुहृद् भावनावेश से !

(जनता का उच्च हास्य)

दो प्रकार के दारुण संकट आज सामने,
दोनों क्षेत्रों पर हमको संयुक्त जूझना !
एक, जनों को धरा स्वर्ग का आश्वासन दे,
सम्प्रति भय, अन्याय, यातनाएँ सहने को
बाधित करते उनको बहुविधि आतंकित कर,
बुद्धि विवेक विहीन बना मानसजीवी को,—
क्रूर संघ स्वार्थों का साधन बना मनुज को !
और दूसरे, रिक्त शून्य में पंख मारकर
ऊपर ही ऊपर उड़ते हैं ज्योति अन्ध हो,
स्वप्न पलायन सिखा जनों को अविज्ञात में !
दिव्य स्वाति के पी-पी रटते प्यासे चातक
भावी के आकाश कुसुम निज चंचु में लिये,
कुम्हला उठते जो जीवन के शीत ताप से !

स्त्री स्वर

सच है, यह दिन के प्रकाश-सा स्वयं स्पष्ट है !
ये दोनों ही मूढ़ पलायन वर्तमान से !...
सत्य भविष्यत् नहीं, भूतमय वर्तमान है,
वही भविष्यत् होगा जिसे बनायेंगे हम !
वर्तमान, जो चिर अतीत की परम्परा का
मूर्त रूप है, वही सत्य है, वही प्रगति का,
युग विकास का मापदण्ड है,—यह अकाट्य है !
जैसा मैंने कहीं पढ़ा,—हम जो जीते हैं,
हम्हीं सत्य हैं ! वर्तमान क्षण के पुट में ही
हमें बांधना होगा जीवन के शाश्वत को !

(करतल ध्वनि)

दूसरा स्वर

यही सत्य है ! सुनो बन्धुओ, हमको दोनों
पलायनों से लड़ना होगा, जो भविष्य के

मृग मरु में भटकाते मन को ! मूल प्रगति के
नहीं शुष्क सामाजिकता में, जो दल शासित,
नित नवीन आवेशों से उत्तेजित रहती !
मानव मूल्यों का है स्रोत मनुज के भीतर,
जीवन मर्यादा में विकसित सहज व्यक्ति में !
अस्थायी हैं जन जीवन के मूल्य बहिर्गत,
सिद्ध कर दिया यह युग के इतिहास ने इधर
यान्त्रिक, जनतान्त्रिक प्रयोग बहु कर जन मन में !

स्त्री स्वर

अल्प संख्य जो हम संस्कृति के अग्रदूत हैं,
मानवता के ज्योति शिखा वाहक युग-युग के—
गहन समस्या आज हमारे निकट उपस्थित
कैसे हम असुरों के कर से छीन अमृत-घट
देवों के हित करें सुरक्षित, युग गंगा की
सुधा धार को छिपा श्रवण पुट में फिर अपने,
देश-देश का मानस वैभव संचित जिसमें !
यह गौरव अधिकार सदा से रहा हमारा,
हम जो काल प्रबुद्ध, अल्प संख्यक जन जग के,
वहन करें हम धरती पर सन्देश स्वर्ग का,
मानव मूल्यों की मर्यादा को विकसित कर !
आज जगत के सम्मुख प्रस्तुत जटिल प्रश्न यह
साध्य और साधन हो कैसे स्वर्ण समन्वित !

पुरुष स्वर

सामूहिकता चूर्ण न कर दे व्यक्ति व्यक्ति की
स्वतन्त्रता, संकल्प शक्ति, उन्नत विवेक को,
इससे पहिले हम जो इने-गिने मानस हैं
हमें संगठित होकर अब तत्पर रहना है
निज महान दायित्व के लिए, भू मंगल हित !
हम थोड़े, जो जीवित हैं, अस्तित्ववान हैं,
हम्हीं सत्य हैं, शेष व्यर्थ भूभार मात्र हैं,—
क्योंकि नहीं परिचित वे व्यापक भू जीवन से,
विश्व सभ्यता की गति से, मानव संस्कृति की
सूक्ष्म, रहस्यभरी, अति जटिल विकास सरणि से !

प्रथम स्वर

मुझे बोलने दें अब, मैं आश्वस्त हो गया !
मित्रो, मूल्यों का उद्धार हमें करना अब
सुज्ञ व्यक्ति के भीतर उनको स्थापित कर फिर !
हमें विशिष्ट मनुष्य चाहिए, जो प्रतिभा के
पंखों में उड़ सकते मन के अन्तर्नभ में,
स्वर्गंगा-सा जहाँ उत्स मानव मूल्यों का
चिर अनादि से अन्तर्हित स्मित छाया-पथ में !

अल्प संख्य कुछ ही हम कर सकते अवगाहन
उस अन्त:सलिला धारा में अन्तश्चेतन ! —
गुरुतम युग दायित्व हमारे कृश कन्धों पर
आज आ पड़ा, हम जो भू के भारवाह हैं,
निखिल विश्व जीवन, चिन्तन, सौन्दर्य बोध के
निरवधि सागर का मन्थन कर, वर्तमान के
क्षीर फेन से मानव-मूल्यों की मर्यादा
सार रूप में संचित कर, उस जटिल सत्य को
निज विवेक सम्मत स्वतन्त्र संकल्प शक्ति से
सृजन कर्म में परिणत करना हमको शाश्वत ! —
विकृत प्रचारों, भावावेशों से हत, मूर्छित
शब्द शक्ति का नवोद्धार कर, नव मूल्यों का
उसे प्रतीक बना, मार्जित रुचि से सँवारकर
मानव के भीतर करना है हमें प्रतिष्ठित ! —
बहिरन्तर का शुष्क समन्वय भ्रम है केवल !

तीसरा स्वर

कैसा कुसुमित शब्द जाल है ! सुन्दर वाग्छल !

स्त्री स्वर

कायरता से बचना है प्रतिभावानों को !
कायरता से ग्रस्त रहा इतिहास मनुज का,
कायरता से विमुख हुआ प्रतियुग में मानव
निज अन्तर सत्यों से, सत्त्वों की पुकार से !
वर्तमान में दृढ़ रहकर—बहते अतीत का
मूर्त रूप साम्प्रत क्षण जो, उसके प्रति जाग्रत्,
हमको निज निज स्थिति से पुनः स्वधर्म के लिए
आत्म यज्ञ में पूर्णाहुति देनी है—

तीसरा स्वर

उसको
लोक यज्ञ कह, नव मूल्यों का ज्योतिवाह बन !
सामाजिकता निगल न दे निज वर्तमान के
सत्त्वों के प्रति जाग्रत् बौद्धिक वर्ग व्यक्ति को
जो छाया-सा काँप रहा जन-भय से मूर्छित,
सावधान रहना है हमको—

एक स्वर

क्या बकते हो ?

तीसरा स्वर

सामूहिकता कुचल न दे विस्मृत अतीत की
परम्पराओं के हम पथराये ढूहों को,
हमको रहना है सतर्क, संगठित—

स्त्री स्वर

चुप रहो !

तीसरा स्वर

हमने अपने ही भीतर से युग जीवन का
जटिल जाल है बुना अहंता से निज, जिसके
स्वर्णिम मर्यादाओं के ताने-बाने में
बन्दी हैं हम आप स्वयं·· कँप उठता है जो
श्वास मात्र से,—जिसमें ओसों से दुखते क्षण
जगमग कर उठते, शशि किरणों से सम्मोहित !
भाव जगत् यह मूक व्यथित का, सूक्ष्म, गहन, तत,
जो कि असुन्दर क्षण को भी सुन्दर कर देता
निज प्राणों का रस उडेल कर अवचेतन से !
हम, सच, नये प्रयोग कर रहे मानव मन में !

स्त्री स्वर

व्यंग्य मत करो, बन्द करो—

एक स्वर

वह सच कहता है !

तीसरा स्वर

यह विशेष अधिकार सदा से रहा हमारा,
हम जो चेतन प्राण, अल्प संख्यक हैं जग के,
हम नव युग सन्देश वहन कर अन्ध धरा में,
चरवाहों से जन भेड़ों को रहें हाँकते,
मानव मूल्यों की नव मर्यादा घोषित कर !
जन धरती में फलती नहीं सुनहली संस्कृति,
वह उगती कुछ बुद्धिजीवियों के मानस में,
केसर की क्यारी हँसती ज्यों सरोवरों में !

एक स्वर

इसे चुप करो !

दूसरा स्वर

इसे पकड़ लो, मत जाने दो !

स्त्री स्वर

यह कोई भेदिया, गुप्तचर लगता निश्चय !

(द्वन्द्व कोलाहल)

स्वर्दूत

यदि फूलों की रक्त शिराएँ उत्तेजित हों
तो उनके मुख चमक सकेंगे कभी सूर्य से ?
वे निरस्त कर पायेंगे धरती के तम को ?
ह्रासोन्मुख संस्कारों का उन्माद मात्र यह !

तर्कजाल से यदि विकसित होता मानव मन
तो न पनपता तरु-जीवन आकाश लता से ?
महत् भाव ही मौन विभूषण मानव मन के,
मुकुट पुष्प ही पहना सकते तरु शिखरों को !

स्वर्दूती

उधर चलें अब खेचर, हिम प्राचीर पार कर,
देखें मलयज सुरभित स्वर्णिम शस्य भूमि को,
सदा विश्व के मुग्ध दृगों की स्वप्न रही जो !

स्वर्दूत

पलक मारते पहुँच गये लो, अपने मन की
अभिमत भू पर,—सफल करो अब अपलक लोचन!

स्वर्दूती

अहा, दीखती शस्य हरित भू मरकत मणि-सी,
मौन गुंजरित से लगते गृह कुंज नगर वन
भ्रमर विश्व गायक की सद्यः स्वर लहरी से !
यहाँ महत् सांस्कृतिक संचरण जन्म ले रहा
मानवीय गरिमा में अतिक्रम कर इस युग को,
हृदय स्पर्श करने में पारस मणि-सा सक्षम ! —
जो पशु तल से उठा मनुज को मानस तल पर,
आवेशों से सत्य शील संयम के स्तर पर,
सौम्य चेतना से निज विस्मित करता जग को !

स्वर्दूत

स्मृति पट पर नव आभा रेखाओं से अंकित
प्रकट हुआ युग पुरुष अभी इस पुण्य भूमि में,
जो अनादि से देवों को प्रिय रही विश्व में !
जिसकी मनोगुहाएँ जनश्रद्धा से दीपित
जीवन पावन रहीं, अविद्या तम से वंचित,
उपचेतन निश्चेतन स्तर तक आलोकित हो !
यहाँ असत् पर सत् की, तम पर सतत ज्योति की
तथा मृत्यु पर विजय हुई अमृतत्व की महत् ! —

स्वर्दूती

यहाँ पंक से ज्योति पद्म-सा उठकर विहँसा
युग मानव वह लोक सत्य से अनुप्राणित हो,
संयम तप से दीप्त, आत्म स्मित सदाचार की
रजत शिखा कर में धर, बर्बर हिंस्र जगत् को
महत् साध्य अनुरूप दे गया जो नव साधन,
प्रेम अस्त्र से जीत घृणा को,—स्थितप्रज्ञ मन!
युद्धों से हत जर्जर भू पर विश्व श्रेय हित
सबल अहिंसा के प्रयोग कर जाग्रत् सक्रिय

सामूहिक स्तर पर,—जन-मन को द्वेष मुक्त कर !
आत्म शक्ति से जूझ संगठित पशुबल से वह
प्रवृत्तियों के अन्ध प्रयोगों की झंझा में
रहा अडिग, चेतन पर्वत-सा नैतिक बल का !
सच है, स्वर्णधरा यह उसके अथक यत्न से
युग - युग के पाशों से जीवन मुक्त हो पुनः
मानव गौरव वहन कर रही, विश्व मुकुट बन,
कीर्ति स्तम्भ-सी उठ उसके तप आत्म त्याग की !

स्वर्दूत

वह देखो, नव जीवन - सा संचार हो रहा
जन ग्रामों में आज, सृजन कर्मों में रत जो !
नव वसन्त में स्वप्न मंजरित कुंजों से हँस
दिक् कुसुमित जन वास उठ रहे, श्रीः कूजित!
नव आशा आकांक्षा से मुखरित जन मन अब
नव्य चेतना से दीपित, आश्वस्त, उल्लसित !
हृष्ट पुष्ट तन शत कर पद श्रमदान कर रहे
नव जीवन निर्माण हेतु, जन मंगल प्रेरित !

स्वर्दूती

आः, पर निर्मम संस्कारों से पीड़ित यह भू !
करुण दृश्य देखो वह कुण्ठित मानवता का,
युग - युग के शापों विश्वासों से कवलित जन
दैन्य दुःख के पंजर से लगते जीवन-मृत !!
मिट्टी के खँडहरों घरौंदों में पुंजित वे
रेंग रहे हैं रीढ़ हीन जीवन कर्दम में !
शीत ताप आँधी पानी में वन-कुसुमों से
क्षण भर खिलकर, कुम्हलाकर आदिम निसर्ग की
निर्दयता को अर्पित, निष्ठुर नियति पराजित !

स्वर्दूत

पर देखो, मरुथल में हँसमुख हरित द्वीप से
धीरे सोये ग्राम जग रहे जीवन चेतन,
नव शोभा से लिपे पुते जन संस्थानों से,—
सौम्य शील संस्कारों के उर्वर निकुंज ये
लोक चेतना स्पर्शी, यत्नों से अनुप्राणित !
संघ विकेन्द्रित यहाँ हो रहा मानव जीवन
रुचि स्वभाव वैचित्र्य ग्रथित भू के भागों में,
एक मातृ सत्ता के अवयव से ये अगणित,
मधुचक्रों से गुंजित जन जीवन वैभव से !
धन्य अहिंसक भूमि, सत्य पर प्राण प्रतिष्ठित,
मानवीय साधन से सुलभ जहाँ जन मंगल !
विश्व शान्ति कामी ये जनगण, भू के प्रेमी

सरल संयमित जीवन जिनका श्रम पर निर्भर !
गृह धन्धों उद्योगों से, तकुओं चरखों से
बुनते संस्कृत आत्म तुष्ट जन-जीवन पट जो !
लोक जागरण के इनके सात्त्विक प्रयत्न ये
रजत किरीट बनेंगे निश्चय मानवता के,—
रक्त मुक्त चिर शान्ति क्रान्ति के अग्रदूत बन !
प्रतिध्वनित इनके भू मंगल के गीतों से
पुण्य धरा के ग्राम नगर, कानन, नद निर्झर !

(विश्व शान्ति द्योतक वाद्य संगीत)

मंगल गान

गाओ, जन मंगल हे !
शस्य हरित रहे सतत
स्वर्णिम भू अंचल हे !

शान्त रहे नील गगन,
शान्त सिन्धु वारि गहन,
शान्ति दूत हों दिशि क्षण,
विश्व शान्ति शतदल हे !

सृजन कर्म निरत जगत
घृणा द्वेष स्वार्थ विरत,
प्रीति ग्रथित हृदय प्रणत,
पूजित हो श्रम फल हे !

भीति रहित हो जन मन,
वैभव स्मित जग जीवन,
शोभा अपलक लोचन,
कुसुमित दिङ् मण्डल हे !

शान्त हो समर प्रमाद,
शान्त मनुज का विषाद,
शान्त निखिल तर्कवाद,
शान्ति स्वर्ग भूतल हे !

स्वर्दूत

चलो, चलें औद्योगिक केन्द्रों में भी क्षण-भर,
घनी बस्तियाँ जहाँ उगलतीं धूम निरन्तर
धूमिल कर मानव भावी के घिरे क्षितिज को !
जहाँ उमड़ते विश्वक्रान्ति के प्रलय बलाहक
महायुद्ध की लपटों पर शत धार बरसने,
तथा शान्त करने भू उर की क्रूर अग्नि को !

स्वर्दूती

वह देखो, कुछ विश्रुत देशों के अधिनायक
विश्व शान्ति के लिए यहाँ समवेत हुए हैं,

चिन्तातुर मुख, कुंचित भ्रू, रेखांकित मस्तक !
सोच रहे मन ही मन, दैव, विश्व में सम्प्रति
शान्ति हमारे अर्थों में स्थापित हो सकती !
किन्तु व्यर्थ सब! विधि को जाने क्या स्वीकृत है !
कुछ भी निर्णय नहीं कर सका शान्ति मिलन यह,
जैसा होता आया सदा हुआ वैसा ही !
रिक्त वितण्डावादों में सब समय खो गया,
स्वार्थ त्याग करने को कौन यहाँ है उद्यत ?
आज गभीर समस्या है भू जन के सम्मुख
युद्ध नहीं तो क्या वे तत्पर शान्ति के लिए ?

स्वर्दूत

पर देखो वह विश्व शान्ति की रजत शिखा-सा
जो सबके सँग है,—हताश वह नहीं तनिक भी !
मध्यमार्ग का पथिक, तटस्थ सदा हिंसा से,
पंचशील का पोषक, सहजीवन का घोषक,
घृणा द्वेष से विमुख, प्रमुख युग द्रष्टा भी जो,
चिन्तन कृश तन, निज महदाकांक्षा-सा उन्नत,
चुप न रहेगा वह, जूझेगा धर्म चक्र ले,
जन मंगल का, लोक न्याय का पक्ष ग्रहण कर,
निज नैतिक बल डाल सत्य की विजय के लिए !

स्वर्दूती

सच कहते दिग्भ्रान्त जगत का दीप स्तम्भ वह,
उसके ऊपर वरद हस्त है लोक पुरुष का !
आह, घोर शिविरों में आज बँटा भू जीवन,
घृणा द्वेष स्पर्धा के दारुण दुर्ग संगठित,
हिंस्र प्रचारों के झींगुर चीत्कार भर रहे
उग्र मतों, कटु तर्कों वादों में झनझन कर !
रंग बदलते रह-रह अवसरवादी गिरगिट,
रटते अर्ध पठित दादुर अपना अपना मत,
उछल घृणित जीवन कर्दम में, कण्ठ फुलाकर !
आवेशों के भुजग लोट, फुफकारें भर - भर
जन-मन को करते विषाक्त फन खोल भयंकर :
रुद्ध वासना के घोंघे, केंचुवे, सरीसृप
रेंग रहे निश्चेतन तम में धरा - नरक के !
रूढ़ि, रीति, आचार, अन्धविश्वास अनेकों
पंख छटपटाते विभीत गेंदुर उलूक - से
गहन अँधेरी खोहों में पैठे जन-मन की !
भूख - भूख चिल्लाते कँपते जीवन पंजर,
प्यास प्यास, स्मर दग्ध, स्नायुओं के तृण पिंजर,
महाह्रास में जीवन तम का भार ढो रहा
पशुओं के स्तर पर प्रवृत्तिजीवी मानव गिर !!

स्वर्दूत

अह, मन में अवसाद घिर रहा तम-कपाट-सा
युग मानव की अन्ध नियति का दृश्य देखकर !
वह देखो, कँप - कँप उठता ध्वनि मूढ़ दिगन्तर
विद्युत् आघातों से ! विकट प्रयोग हो रहे
पृथ्वी पर जीवन नाशक परमाणु शक्ति के !
सेनाओं का तुमुल घोष सुन पड़ता तुमको ?
लौह पगों से हिल - हिल उठता त्रस्त धरातल,
प्रतिध्वनित हो रही मृत्यु की चाप दिशा में,
भीषण रण यानों से मन्थित उदर गगन का,
उगल रहा संहार अग्नि वमनों का कटु विष,
मृत्यु धूल उड़ रही धरा में विद्युत् सक्रिय !
महाप्रलय की दारुण छायाएँ मण्डरातीं
अँधियाली के आवर्तों में लोट धरा पर,
विश्वयुद्ध की विकट घोषणा फटने को अब
विस्फोटक - सी, रुद्ध श्वास दानव के मुँह से !
चलो, लौट हम चलें सुरों की छाया में फिर,
देखें, कोई महत् कर्म हो जन्म ले रहा
मानवता के संरक्षण हित देव लोक में !

(नवीन जागरण सूचक वाद्य संगीत)

अहा, मनस्तुरगों पर चढ़ कर हम देवों की
तपोभूमि में पहुँच गये फिर शुभ्र शान्तिमय !

स्वर्दूती

पौ फट चुकी ! सुनहला क्षण युग की द्वाभा का
मोहित करता चित्त, रुपहली भंकारों की
स्वर-संगति में सूक्ष्म चेतनातप-सा गुम्फित !
मौन लालिमा लोक रक्त शतदल-सा प्रहसित
खोल रहा दल पर दल,—निखिल दिगन्त पल्लवित !
ज्वलित प्रवालों के पर्वत से खड़े हिम शिखर !
रक्त पीत सित नील कमल जग स्वप्न वृन्त पर
सस्मित पलकें खोल रहे निज अर्ध निमीलित !
जाग रहे फूलों के वक्षोजों पर सोये
प्रेम मुग्ध बन्दी मधुकर, उन्मन गुंजन भर !
पारिजात मन्दार लताएँ लगीं सिहरने
मुग्धाओं-सी हरि चन्दन तरुओं से लिपटीं,—
खिलने लगे अशोक पदाघातों की स्मृति से,
देवदारु के शिखर हो उठे, लो, स्वर्णप्रभ !
निश्चय देवों के सँग रहता स्वर्ग निरन्तर
तपोभूमि को सृजन भूमि में बदल अलौकिक !
सुनो, जागरण गीत गा रहे वैतालिक सुर,
कमलों की अंजलि भर, जो प्रतिमान सृष्टि के !

(प्रभात वादित्र संगीत तथा सहगान)

रक्त कमल, श्वेत कमल
खुले ज्योति पलक नवल !

रक्त कमल जीवन स्मित,
श्वेत कमल शान्ति जनित,
खोल रहे रश्मि स्फुरित
मानस में ज्वाला दल !

नील कमल श्रद्धा नत,
स्वर्ण कमल भक्ति प्रणत,
कर्दम में खिले सतत,
प्रीति मधुर अन्तस्तल !

अमित सुरभि रही निखर,
गूँज उठे लोक निकर,
जाग उठा जीवन सर,
स्वर्णिम लहरें उच्छल !

नयी चेतना हिलोर,
शोभा छायी अछोर,
होने को नया भोर,
गाओ सुर, जन मंगल !

स्वर्दूत

देखो, कौन खड़ा हिम अंचल में वह तापस
आरोहण करता मन के दुर्गम शिखरों पर,
जीवन की मधुभूमि छोड़कर कैसे मानव
यहाँ पहुँच पाया ? देवों के हित जो रक्षित !
वह क्या कोई प्रेमी, पागल अथवा साधक,
या वह जीवन द्रष्टा कोई ऊर्ध्वारोही ?
अन्न प्राण मन के प्रिय भुवनों को अतिक्रम कर
अधिमन के शिखरों पर जो अटका त्रिशंकु-सा,—
हाय, असम्भव इच्छाओं की बलि का अज बन !

स्वर्दूती

ओः, वह कोई क्रान्त दृष्टि कवि लगता निश्चय,
लोक प्रेम के महत् ध्येय से प्रेरित हो जो
सूर्य मनस में देख रहा मानव भविष्य को,
स्वर्ण मुकुर-सा ज्योति स्फुरित जो मनोगगन में !
अपलक अन्तर्दृष्टि महत् स्वप्नों से विस्मित
पार कर रही रहस भविष्यत् का स्वर्णिम नभ,
कुंचित अलकों पर उलझीं सौन्दर्य रश्मियाँ,
सौम्य कान्त मुख, भाव प्रतनु, कल्पना विहग वह
सम्प्रति भू जीवन मन से सूक्ष्मग, अति चेतन !
सृजन प्राण वह, निखिल असम्भव सम्भव उसको !

सुनो, ध्यान से सुनो, स्वगत भाषण करता वह
अर्ध-स्वरों में,—आत्म व्यथित; स्वप्नों से पीड़ित !

(भावोद्वेलन सूचक वादित्र संगीत)

क्रान्त द्रष्टा

व्यक्ति समाज, समाज व्यक्ति,—कैसी विडम्बना!
साध्य प्रथम या साधन,—कैसा तर्क वृत्त है !
अनेकता में एक, एकता में अनेकता,—
बाहर भीतर,—शब्द जाल सब, केवल वाग्छल!
यान्त्रिक बौद्धिक तत्त्व, रिक्त दर्शन के क्षेपक,
भ्रान्त बुद्धि की प्रेत समस्याएँ मानव कृत,
जो अरण्य रोदन करतीं युग के मानस में,
निर्जन खँडहर में झिल्ली-सी झींख झींख कर !

सत्य एक है,—व्यक्ति समाज, अनेक एक, जड़
चेतन, बाहर-भीतर सब जिस पर अवलम्बित !
आवर्तन गति से विरोध जग के अनुप्राणित,
विश्व संचरण जीवन का वैषम्य सन्तुलित !

स्वर्दूत

मानस मन्थन चलता युग मानव के भीतर !

क्रान्त द्रष्टा

देख रहा मैं, बरफ बन गया, बरफ बन गया !
बरफ बन गया पथराकर, जमकर, युग-युग का
मानव का चैतन्य-शिखर—नीरव, एकाकी,
निष्क्रिय, नीरस, जीवन-मृत-सब बरफ बन गया!
राख मात्र जड़, शीतल,—ताप प्रकाश नहीं कुछ,
ठण्ढे, बुझे हुए अंगारों में प्राणों का
ताप नहीं, मन का जीवन्त प्रकाश नहीं अब !
चट्टानों पर चट्टानें सोयी शतियों की,
जमे फलक पर फलक शवों-से श्वेत रक्त के,
अट्टहास भरते जो निःस्वर खीस काढ़ कर
महाकाय कंकालों के अवशेष पुरातन !
चमक-चमक चिल्ला उठतीं किरणें प्रकाश की
सतरंगे छायाभासों की चकाचौंध में,
प्रतिध्वनित हो मनःशिलाओं पर चिर निद्रित !

स्वर्दूती

आत्म विघातक देन रिक्त थोथे दर्शन की !

क्रान्त द्रष्टा

राग विरत, निर्वाण शून्य का मूर्त रूप यह,
निरासक्त, निश्चेष्ट, शान्त का स्तूप-सा खड़ा,

जीवन प्रत्याख्यानों के ऋण अस्थि सौध-सा,
नेति-नेति का, आत्म निषेधों का दुर्गम गढ़ !
सूख गये प्रेरणा स्रोत बाहर-भीतर के
शीतल, हिम शीतल जीवन की जड़ समाधि यह!
स्पन्द शून्य भैरव नीरवता महाशून्य की
घेरे इसको महामृत्यु के बृहत् पंख सी !
रिक्त ज्योति बन हाय, जल गया जल धरणी का
रूप रंग रस स्पर्श मुखर जीवन उर्वर मन,—
प्राणों के सौरभ पंखों में मर्म गुंजरित ! !

स्वर्दूत

मध्य युगों के जड़ निषेध, जीवन वर्जन ने
कुण्ठित कर दी मुक्त प्रगति मानव विकास की !

क्रान्त द्रष्टा

बिखर शिखर पर जातीं जीवन स्वर्णिम किरणें,
मरु की सूनी कँपती निर्जल छायाओं सी,
हँसती वहाँ न प्राणों की मर्मर हरियाली
लोट रुपहली लहरों में धरती की रज पर !
प्रणय गीत गाती न मधुकरी, मधु अधरों से
मुकुलों का मुख चूम, झूम गुंजित पंखों में,
कूक न पाती पिकी मंजरित डालों पर उड़
सृजन प्रेरणा शून्य, अमूर्त विदेह लोक में ! !

स्वर्दूती

विद्या और अविद्या में सन्तुलन खो गया !

(भावोद्दीपक वादित्र संगीत)

क्रान्त द्रष्टा

आह, इसे प्राणों का स्पन्दित ताप चाहिए,
जीने को जन-मन का भावोच्छ्वास चाहिए,
हरित-प्राण उल्लास से रहित इस युग-युग के
पतझारों के निर्जन, करुण, कराल ठूंठ को
गन्ध गुंजरित, रस कुसुमित मधुमास चाहिए !
गला सके जो इसके भस्मावृत तुषार को,
मिटा सके भीषण विराग, भारी विषाद को,
आलोकित कर सके घोर नैराश्य तिमिर को,
जकड़े है जो इसे श्वेत कंकाल हास्य से ! !
हाय, खो गया शुभ्र तमस में धरा शिखर उठ,
हाय, सो गया शून्य अतन्द्रा में जाग्रत् मन,
भटक गये बीहड़ मरुपथ में चरण बुद्धि के,
देशकाल से परे, नास्ति में, मन के लोचन
स्वप्नहीन तन्द्रा में कब खुल गये निर्निमिष,—
ध्यानावस्थित, स्थिर, निष्कम्प, अरूप प्रताड़ित !

आत्म नग्न नर, रिक्त देह मन के वैभव से,
अम्ल धौत पट-सा,—धुल गये प्रकृति के सब रँग !

(निर्जन विषादपूर्ण वादित्र संगीत)

स्वर्दूत

बौद्धिक मरु में लुप्त हो गया उत्स भाव का !

क्रान्त द्रष्टा

इसे इन्द्रियों के स्वर्णिम पट में लिपटाओ
रूप गन्ध रस से झंकृत भूषण पहनाओ,...
इसे खुले द्वारों से, भाव पगों से गुंजित,
जन भू के विस्तृत पथ पर चलना सिखलाओ !
इसे ऊर्ध्व नभ के प्रकाश को आत्मसात् कर
जन भू जीवन में मूर्तित करना बतलाओ ! ...
जिससे फिर चल सके अचल, स्वर्णिम स्रोतों में
झर-झर कर बह सके वेग से, नव गति पाकर,
शोभा में हो द्रवित मूक प्राणों की जड़िमा,
लोट लिपट भू-रज में हो नव भाव प्ररोहित !

(जीवनोल्लास सूचक वादित्र संगीत)

स्वर्दूती

महत् समन्वय आज चाहिए युग मानव को
देव मनुज पशु जिसमें हों अन्तः संयोजित !

क्रान्त द्रष्टा

देख रहा मैं खड़ा धरा चेतना शिखर पर
युग प्रभात नव जन्म ले रहा विश्व क्षितिज में,
स्वर्ण-शुभ्र धर रश्मि-मुकुट भू-स्वर्ग भाल पर! ...
युग-युग से स्तम्भित, निरुद्ध, आत्मस्थ, स्वार्थरत
मानव के अध्यात्म जाड्य को ज्योति मुग्ध कर!

द्रवित हो रहा शतियों का चैतन्य सनातन
विरह मूढ़ जो रहा वियुक्त धरा से होकर,
जीवन से ऊपर उठ मन के अहं शूल पर ! ...
फूट रहे शत स्रोत विकल प्राणों में मुखरित
धरती को निज प्रीति स्रवित बाँहों में भरने !

शान्त हो रहे मानव के अभिशाप युगों के,
पुनः मिल रहे बिछुड़े जड़ चेतन, जीवन मन,
मानव की आत्मा में नव प्राणों से स्पन्दित !
एक विश्व-जन-जीवन निश्चय,—वसुन्धरा ही
मनुज सत्य की अमर मूर्ति, जीवित प्रतीक है...
अमित चराचरमयि जो, शाश्वत जीवनमयि जो!
एक छोर चैतन्य चिरन्तन, रश्मि पंख स्मित,

भावों का सतरँग प्रकाश बरसाता अविरत,

गुह्य दूसरा छोर, अकूल अतल जड़ तम है,
धारण करता जो अपने अविकार गर्भ में
जन्म-मरण, भव जीवन क्रम, सुख-दुख के स्पन्दन!
देख रहा मैं, मूक धरा के अतल गर्भ से
अग्नि स्तम्भ उठ रहा तप्त हेमाभ शैल-सा,—
महा आगमन का सूचक यह ज्योति पंख क्षण !

(युगान्तर सूचक मधुर भीषण वादित्र संगीत)

स्वर्दूत

निश्चय, यह मानव भविष्य द्रष्टा नव युग कवि,
भूत भविष्यत् के पुलिनों पर बाँध रहा जो
स्वप्न पग ध्वनित भाव सेतु, शत इन्द्र धनुष स्मित,—
गरज रहा नीचे उद्वेलित जन युग सागर !

(तीव्रतर वादित्र संगीत)

स्वर्दूती

वह देखो, वह झंझा रथ पर चढ़कर आता
नव युग का मानव, प्रदीप्त जीवन पर्वत-सा,
धरा पंक को दग्ध, मनोनभ को दीपित कर !
युग-युग के पतझर झर पड़ते उसके भय से
धूल धुन्ध पंखों से बिखरा अग्नि बीज नव,
क्रुद्ध बवण्डर, अन्धड़ उसके साथ खेलते
मत्त तुरंगों-से उड़, दिक्-कम्पित कर भूतल···
रथ चक्रों के दारुण रव से बधिर कर गगन !···
नव मधु के फूलों की ज्वाला में वह वेष्टित,
रूप रंग शोभा सौरभ के अंग गुंजरित,···
दीपित उससे सूक्ष्म भुवन, युग स्वप्न मंजरित !

जाग उठे लो सुरगण महाऽगमन की ध्वनि सुन,
ध्यान मौन निज स्वप्न कक्ष में चौंक अचानक,
आन्दोलित हो उठे सूक्ष्म भावों के आसन,
दीप्त प्रेरणाओं से स्पन्दित अर्पित अन्तर,···
गलित रश्मियों-सी बहतीं जो उर के भीतर !
देखो, मणि आवास छोड़, समवेत देवगण
चकित दृष्टि से देख चतुर्दिक् आत्म मूढ़ हो
गुप्त मन्त्रणा करते मिलकर,···कौन पुरुष वह ?
विस्फारित दृग सोच रहे सब,···कौन पुरुष वह ?
भय विस्मय में डूब पूछते,···कौन पुरुष वह ?

(दूर आँधी तूफान के उठने का शब्द)

एक देव

कौन आ रहा वह भीषण सुन्दर, भुवनों को
अपनी दुर्धर पदचापों से कम्पित करता ?
झंझा-सा, जन - मन में भैरव मर्मर रव भर
भू समुद्र को हिल्लोलित, भय मन्थित करता !
क्या यह महा प्रलय: कि प्रभंजन महानाश का ?
जन धरणी को वरने आया महाकाल या ?
दौड़ रहे उनचास पवन, कँपते मनो भुवन,
निश्चय, यह नव कल्पान्तर, यह महा युगान्तर !
नया सृजन आ रहा सूर्य के स्वर्णिम रथ पर
अग्नि पुरुष यह, प्राण पुरुष यह, लोक पुरुष यह !

कुछ देव

आओ हे, आओ, अभिवादन, शत अभिवादन !

स्वर्दूत

शान्त हो गया क्रुद्ध वेग स्वागत नत होते !
(रथचक्रों के आगमन का रव)

देवी

कौन, कौन तुम तप्त स्वर्ण से दारुण सुन्दर,
धरा गर्भ के गुह्य तमस से प्रकट सूर्य से ?
मरुतों के तुरगों पर चढ़, मर्मर हर्-हर् भर,
जन मन को करते आन्दोलित, सिन्धु उच्छ्वसित ?
जीवन क्रन्दन में बज उठता नया गान अब,
मन की मूर्छा में जग पड़ती नयी चेतना,
प्राणों के अवचेतन तम में धँसी ज्योति नव,
क्षुब्ध स्नायुओं के दीपन में रजत शान्ति-सी ! ...
शून्य निराशा में आशा, संशय में आस्था
अविनय में श्रद्धा, सम्मान उपेक्षा पट में,
संघर्षों में जय, संकल्प अहंता में अब
छिपा प्रलय में सृजन, घोर तम में प्रकाश नव !
हाय, कौन तुम विद्रोही जन के ईश्वर से ! ...
उलट-पलट कर दिया निखिल जीवन क्रम तुमने !

सौवर्ण

(आत्मविश्वास भरा सौम्य स्वर)

मैं हूँ वह सौवर्ण, लोक जीवन का प्रतिनिधि !
नव मानव मैं, नव जीवन गरिमा में मण्डित,
युग मानस का पद्म, खिला जो धरा पंक में,
जड़ चेतन जिसमें सजीव सौन्दर्य सन्तुलित ! ...
प्रथम एक, अविभक्त सत्य मैं, फिर जड़ चेतन !
मैं ही मूर्त प्रकाश, सूक्ष्म औ' स्थूल जगत के

सतरँग छायातप में विकसित ! मर्त्य अमर मैं,
जिसके अन्तर में भविष्य के शत स्वर्णिम युग
नव जीवन की शोभा में सागर-से स्पन्दित,
विश्व चेतना से मेरी अहरह अनुप्राणित !
मैं हूँ श्रद्धा का भविष्य, जो व्यक्त जगत के
काल ग्रसित, खण्डित मानों के भूत भविष्यत्
वर्तमान को अतिक्रम कर, उनमें प्रविष्ट हो,
विकसित करता अग-जग को नव सीमाओं में !
मैं ही वह निरपेक्ष, विश्व सापेक्षों में जो
अभिव्यक्त हो, जग जीवन मन के मूल्यों में,—
उनके संक्रमणों में,···उदय, विकास, ह्रास में,···
उनके भीतर स्थित, निरपेक्ष बना रहता नित !
क्या आश्चर्य कि तुम्हें कल्पनावत् लगता हूँ !

स्वर्दूती

कला सृष्टि यह,···महत् कल्पना जन भविष्य की !

सौवर्ण

ऊपर मैं रत्नाभा - सा छहरा देवों में,
सृजन चेतना के प्रतीक जो सूक्ष्म अगोचर.
नीचे मानव जग में मूर्तित, प्रिय जो मुझको,
देवों को कर आत्मसात् विकसित होता जो !
तुम दीपक से भिन्न समझते दीप शिखा को ?
विस्मय करते कैसे आँधी तूफ़ानों में
जीवित रहती है वह ? मैं तूफ़ानों ही में
जलनेवाली अमर ज्योति हूँ ! ···मैं रहस्य हूँ !
भंगुर मिट्टी के प्रदीप ही में पलता हूँ !
झंझा के पंखों पर चढ़ जीवन ज्वाला - सा
सँग-सँग फिरता मैं अम्बर, सागर, कानन में !
भूत भविष्यत् वर्तमान मुझमें ही जीवित,
विश्व समन्वय से मैं महत्···समष्टि प्रेरणा,
सृजन प्रेरणा,···मूर्तिमान जीवन स्पन्दन में !

स्वर्दूती

लोक काव्य यह, जिसमें सूक्ष्म मूर्त हो उठता !

सौवर्ण

ध्यान मौन तुम, शून्य अतीन्द्रिय नभ में खोये,
मुझे खोजते जीवन से निष्क्रिय निरीह हो ?···
वहाँ नहीं मैं,···अतिवादों से दूर, निरन्तर
जग जीवन ही में निविष्ट, अति से अतितम हूँ !
आत्म ज्योति औ' भूत तमस से अन्ध, उभय ही
एक समान मुझे हैं,···ज्योति-तमस से पर मैं
स्वयं सत्य हूँ ! ···ज्योति-तमसमय, जड़-चेतनमय,

मन जीवनमय, मुझमें जो वागर्थ से जुड़े !

स्वर्दूती

देव काव्य यह, जिसमें तत्त्व निहित रहता नित !

सौवर्ण

ओ प्रकाश के पागल प्रेमी, दग्ध पंख
शिशु-शलभ, करोगे क्या प्रकाश, छूँछे प्रकाश से ?
क्या प्रकाश करता जो होती नहीं मातृ भू ?
किरणों में हँसने को सतरँग फूल न होते,
उन्हें चूमने को न मचलतीं चपल लहरियाँ,
और साँस लेती न कहीं होती हरीतिमा ?
होता तप्ताकाश शून्य, जलता जीवन मरु…
होता एकाकी प्रकाश, कुछ और न होता !!
मैं प्रकाश का हूँ प्रकाश, मैं अन्धकार का
अन्धकार हूँ ! …मैं, जो जन भू जीवनमय हूँ !
मेरे लिए प्रकाश-तमस हैं, मैं ही जीवित
सार्थकता हूँ सत्ता के निष्क्रिय छोरों की !
मैं ही शाश्वत रस समुद्र, अमृतत्व तत्त्व हूँ,…
जीवन सत्य अमर,…जड़ चेतन उपादान भर !
ओ ईश्वर के विरही, मैं संयुक्त सभी से,
कैसा कल्पित विरह तुम्हारा तुहिन अश्रुमय ?
चिर साध्वी जन प्रकृति, विरहिणी हो सकती वह !
नित नव-नव रूपों में जो आलिंगित मुझसे !
तुमको ईश्वर पर विश्वास नहीं ? जो नित नव
सत्यों में विकसित होता जग जीवन क्रम में !
तुम केवल विधिवत् सत्कर्म किये जाते हो
जो अकर्म औ' असत्कर्म बन गये युगों से !!

स्वर्दूती

अमर काव्य यह परम्परा को करता विकसित !

सौवर्ण

प्राण हरित जीवन पादप मैं,…मूल सत्य में;
सुदृढ़ स्कन्ध संयम, संकल्प महत् शाखाएँ,
मानस विकसित सुमन, सूक्ष्म स्मित भाव रंग दल,
सुरभि चेतना, सुख विकास, मधु प्रेम मर्म धन,…
आशाऽकांक्षा के मधुपों से शाश्वत गुंजित !
नव युग में मैं जन मानवता का प्रतीक हूँ,
ज्योति प्रीति, आनन्द मधुरिमा में नव स्पन्दित !
नव संस्कृति का सारथि, नव आध्यात्मिकता मैं,
नव विकसित इन्द्रिय, मन प्राणों से अतिचेतन !
तत्त्व रूप में नहीं समझ पाते जो मुझको,
वे मूर्तित देखें मुझको नव जन जीवन में !

युग-युग के जीवन का पर्वत सुलग उठा अब
नव शोभा लपटों में,...जाग्रत् जन समूह जो !
मैं भावी चैतन्य, मूर्त कल्पना गात्र में,
मैं धन मानव,...सर्व श्रेष्ठ, जन श्रेयस्कर जो
उसे बाँधने आया भू जीवन अंचल में,
शोषण, दुख, अन्याय, दैन्य का भूमि भार हर !
शतियों के पतझारों में भरने आया मैं
नव मधु की गुंजरित मधुरिमा ज्वाल पल्लवित !
सप्त चेतना भुवनों के अक्षय वैभव को
लोक चेतना में करने आया हूँ मूर्तित !
एक धरा जीवन में जन के मन प्राणों के
रुचि स्वभाव वैचित्र्यों को कर नव संयोजित,
युग-युग के मानव संचय का समीकरण कर
नव मानवता में करने आया हूँ वितरित !
स्वप्न गवाक्षों से दीपित अब मुक्त काल क्षण,
धरा वक्ष में देश खण्ड हो रहे समन्वित,
युग-युग से विच्छिन्न चेतना के प्रकाश को
मैं जीवन सूत्रों में करने आया गुम्फित !

स्वर्दूत

अजर काव्य यह, इसमें जन भावी अन्तर्हित !

सौवर्ण

आज धरा जीवन अंचल में बँधी प्रेरणा,
आज जनों के साथ प्राणप्रद सृजन शक्ति नव,
अब न कला के स्वप्न निकुंजों में पल सकते,
अगणित वक्षों में अब स्पन्दित नयी चेतना !
नव जीवन सौन्दर्य उग रहा जन धरणी में,
मनुष्यत्व की फसल उगलती हँसती भू रज,
नव मूल्यों की स्वर्णिम मंजरियों से भूषित !

(झंझा रथ में प्रस्थान : नव वसन्तागम का वादित्र संगीत)

स्वर्दूती

विस्मय-स्तम्भित से लगते निष्प्रभ हो सुरगण,
नवोन्मेष उद्वेलित, गोपन सम्भाषण रत !

एक देव

धरा गर्भ से प्रकट, धरा में समा गया, लो,
वह तेजोमय स्वर्ण पुरुष फिर, शत सूर्योज्ज्वल,
स्वर्णिम पावक से दीपित कर देवों का मन !
बरस रहे शत निःस्वर निर्झर अधिमानस से
उज्ज्वल तप्त हिरण्य द्रवित, नव युग प्रभात में—
उतर रही हो स्वर्गंगा आलोक वारि स्मित,

स्वर्ण नूपुरों से मुखरित सुर बालाओं के—
जीवन शोभा से उर्वर करने जन भू को!

देवी

चलो, चलें हम धरा स्वर्ग में, जन मानव बन,
छोड़ त्रिदिव की मानस रति प्रिय भोग भूमि को
प्रगति विमुख जो, चिर निष्क्रिय, वंचित विकास से!
मर्त्य लोक ही निश्चय भावी का नन्दन वन!

(देवों का अवतरण सूचक वादित्र संगीत)

स्वर्दूती

स्वर्ण पृष्ठ खुल रहा लोक जीवन का भू पर,
जन मानवता प्राण प्रेरणा से हिल्लोलित!
नव जन ग्रामों, नव जन नगरों में सुख मुखरित
नव युग अरुणोदय हँसता नव आशा दीपित!
स्वर्ण घण्टियाँ-सी बज उठतीं रजत अनिल में,
मुग्ध क्षितिज वातायन लगते स्वप्न मंजरित,
स्वर्ग दूत-सा उतर रहा नव युग प्रभात अब
शुभ्र लालिमा भरा रश्मियों के निर्झर-सा,...
श्वेत कपोतों से अम्बर पथ में अभिनन्दित!
हर्ष मुखर खग मिथुन जग रहे ज्योति नीड़ में,
रत्न मर्मरित से लगते तरुओं के पल्लव!
द्रवित हो उठी शून्य नीलिमा अपलक नभ की
देख धरा मुख, शत रत्नच्छायाओं में कँप!
निखिल विश्व आनन्द छन्द-सा प्राण तरंगित!
अगणित स्वर लय संगतियों में जीवन मुखरित!

स्वर्दूत

दैन्य दुःख मिट गये, छँट गये धूमिल पर्वत
घृणा द्वेष स्पर्धा के, भय संशय पीड़न के,
जन शोषण, अन्याय, अनय से मुक्त धरा पर
एक छत्र अब शान्ति, सौम्य, स्वातन्त्र्य प्रतिष्ठित!
शुभ्र शान्ति, जो सर्व श्रेष्ठ गति मानव मन की,
जिसके स्वर्णिम पंखों में जन भू का जीवन
सृजन हर्ष से स्पन्दित, सतरँग श्री शोभा में
विचरण करता बाधा बन्धन हीन, विश्व में!
नव युग उत्सव मना रहे उल्लसित धरा जन
प्रीति सूत्र में गुँथे, मंजरित तन मन लोचन,
नव वसन्त में नव जीवन मधु संचय करने!

समवेत गीत

युग प्रभात नव, युग वसन्त नव,
जन भू का अभिनन्दन गायें!

कितने हृदयों के मृदु स्पन्दन
कितनों के मधु हास, अश्रुकण
कब से मधु सुमनों में संचित,
आओ इनके हार बनायें !
आकुल उच्छ्वासों की सौरभ,
उत्सुक अपलक नयनों के नभ
इन नीरव मुकुलों में मूर्तित,
स्मृतियों की माला पहनायें !
युग-युग की वह मौन प्रतीक्षा
मर्म गुंजरित जीवन दीक्षा,
सफल आज, जन भू में अर्जित,
इन्हें स्नेह से हृदय लगायें !
ये प्रतीक जन हृदय मिलन के,
जन पूजन, जन आराधन के,
भाव युगों के इनमें विकसित,
इन फूलों को शीश चढ़ायें !

स्वप्न और सत्य

(आदर्श और वास्तविकता के बीच
युग-संघर्ष द्योतक काव्य रूपक)

कलाकार
दो मित्र
छाया चेतनाएँ

प्रथम दृश्य

[सन्ध्या का समय : एक तरुण कलाकार का रंग कक्ष : कलाकार दीवार पर लगी काली तख्ती पर रंगीन खड़ियों से पतझर का रेखा-चित्र बना रहा है और बीच-बीच में, खिड़की से बाहर की ओर देखता हुआ, मन्द स्वर में गुनगुना रहा है।]

(गीत)

मर्मर भरी वनाली !
नग्न गात, हिम भग्न पात,
सूनी जीवन तरु डाली !
मृत्यु भीत क्रन्दन भर कातर
जीवन का संचय पड़ता झर,
भटक रही उद्भ्रान्त गन्ध
भू इच्छा सी मतवाली !
मधु के रंग चित्र से सुन्दर
रेखाओं का यह ऋतु पंजर
तभी चितेरे ने रख दी निज
स्वप्न तूलि, रँग प्याली !
धूप छाँह से भर मृदु अवयव
हिम से निखर रहा वसन्त नव,
कलि किसलय से दृश्य पटी की
शोभा सँजो निराली !
मधु पतझर का मिलन सुहाया
विश्व प्रकृति स्वप्नों की माया,
पीत शिशिर अधरों पर छायी
फिर नव पल्लव लाली !
अँगड़ाई भरतीं हँस कलियाँ
मुग्ध मधुप करते रँगरलियाँ,
रिक्त पात्र में किसने मोहक
माणिक मदिरा ढाली !

(बाहर देखता हुआ)

कलाकार

पतझर आया, जग जीवन में पतझर आया,
झर-झर पड़ता युग-युग का मुरझाया वैभव,
मन की ठठरी बाहर अखिल निकल आयी हो !

भावों, तर्क-विचारों की नाड़ियाँ उभरकर
ठूँठी, शुष्क टहनियों-सी छितरी पड़ती हैं!
प्राण प्रभंजन समुच्छ्वसित सीत्कार छोड़ता,
सिहर-सिहर उठता आन्दोलित जन-मन कानन :
प्रलय गीत गा रही चूर्ण पसलियाँ जगत की,
जीर्ण मान्यताएँ पीले पत्तों-सी उड़कर
धूलिसात् हो रहीं मौन मर्मर क्रन्दन-भर!
गिर-गिर पड़ते नष्ट-भ्रष्ट सुख नीड़ अरक्षित,
स्वप्न हिमानी जड़ी हृदय की डाल रुपहली
बिखर-बिखर पड़ती निर्जन में अश्रुपात कर!

(मित्रों का प्रवेश)

पहला मित्र

नमस्कार! ···फिर वही प्रकृति की छवि का चित्रण?
तुम्हें धन्य है!

कलाकार

कहीं छोड़ सकते हैं बच्चे!
माँ का अंचल?

पहला मित्र

माँ का अंचल! ठीक, अभी
बौद्धिक शिशु ही हो! (हास्य)
निर्निमेष, भावुक प्रेमी से
मात्र प्रेयसी का प्रिय मुख देखा करते हो,—
मुग्ध यक्ष से, जीवन से कर्तव्य विमुख हो!
इस प्रमाद के लिए कभी तुम जन समाज से
शापित होगे!

दूसरा मित्र

(चित्र को देखकर) कैसा मधुर सजीव दृश्य है!
पतझर के सूने पंजर में नव वसन्त का
हृदय हो उठा हो स्पन्दित, नव भाव उच्छ्वसित!
टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं की रंग-पटी से
नव शोभा का क्षितिज झाँकता मर्मर कम्पित!
छायातप कँप-कँप उठता मृदु तूलि स्पर्श से!
मुट्ठी-भर रेखाओं में निस्तब्ध विजन की
आशाऽकांक्षा गूँज उठी हो, रंग ध्वनित हो!
नव भावों से आन्दोलित कृश देह लता-सी
मुग्ध वनश्री झूम रही मधु बाहु पाश में! ···
रेखाएं ज्यों लय की बहती धाराएँ हों!
कला प्रेरणा कुशल तूलि के संचालन से

मूर्त हो उठी है अवाक् शोभा में अपलक !
मार्मिक कृति है !

कलाकार

(मुग्ध भाव से) मातृ प्रकृति कैसी अद्भुत है! —
सत्य असत् के, घृणा प्रेम के, हास अश्रु के
छायातप से गुम्फित है जिसका करुणांचल !
जन्म-मरण औ' प्रलय सृजन जिसके आँगन में
आँख-मिचौनी खेला करते हैं निशि वासर !
कौन शक्ति वह ? चल चित्रों के सृष्टि जाल को
जिसने दिया उछाल मात्र छायाभासों में !
कौन ज्योति वह ? जिसने वाष्प कणों को रँगकर
इन्द्रधनुष वेणी छहरा दी महाशून्य में !
विस्मित हूँ ! नव सृजन स्वप्नमयि कौन चेतना
झाँक रही पल्लवित झरोखों से विटपों के ?
तरुवन के हिलते हड्डी के पंजर को छू
फूट रही जो अंग भंगिमा में वसन्त की !
कलाकार के लिए, सत्य ही, विश्व प्रकृति यह
निखिल प्रेरणाओं की जननी है रहस्यमय !

पहला मित्र

अभी प्रकृति के बाह्य रूप पर मोहित हो तुम,
मुग्ध यौवना-सी जो नित्य बदलती रहती !
लज्जा की लालिमा कपोलों पर रँग प्रतिपल
इन्द्रजाल रचती वह नित हावों भावों के ! ...
डूब मरो उसकी कम्पित अंचल छाया में,
उसे अकूल अतल श्यामल जल बिम्ब मानकर !
पलकों से सहला कोमल पल्लव से पदतल,
नव स्वप्नों से नागिन वेणी रहो गूँथते !
शशि किरणों में पिरो सुनहले ओस कणों को
अश्रुहार पहनाते रहो विकम्पित उर को !
हृदय रक्त से अंकित कर अपलक शोभा को
छिन्न प्राण तन्त्री में रहो विहाग छेड़ते !
तुम्हें ज्ञात है ? आज प्रकृति पर विजय प्राप्त कर
मनु का सुत निर्माण कर रहा नयी सभ्यता !
मानव में केन्द्रित कर श्री सुषमा निसर्ग की
उसे मनुज को सौंप दिया जीवनी शक्ति ने !

दूसरा मित्र

कुछ मति भ्रम हो गया तुम्हें! क्यों मातृ प्रकृति का
शाप ले रहे हो तुम सिर पर, पाप वचन कह !

पहला मित्र

तर्क बुद्धि से परिचालित चेतन युग मानव
पाप पुण्य से भीत नहीं—

दूसरा मित्र

क्यों तर्क बुद्धि की
व्यर्थ दुहाई देते हो ! ···इस युग का मानव
मात्र प्रकृति का दास, इन्द्रियों का पूजक है !
वह निसर्ग की स्थूल शक्तियों को अर्जित कर
अपनी अन्तर आत्मा पर अधिकार खो चुका !
बाह्य विजय की चकाचौंध से आत्म पराजित
वह विनाश के अन्ध गर्त की ओर बढ़ रहा ! ···
विजय प्राप्ति है दूर,—उसे शाश्वत निसर्ग के
नियमों का पालन करना है शुद्ध बुद्धि से !
इसमें ही कल्याण निहित है मनुज जाति का,—
नियमों पर चलना उन पर विजयी होना है !

पहला मित्र

बीत कभी का चुका प्राकृतिक दर्शन का युग
तुम तोते की तरह लगाये हो रट जिसकी !
आज प्रकृति नियमों से नहीं, मनुज इंगित से
संचालित हो रही नियति मानव समाज की !
स्थापित स्वार्थ नियम बनते जाते विधान के,
मुट्ठी भर नर नित्य असंख्य निरीह जनों का
शोषण करते जिन नृशंस नियमों के बल पर !
नियमों पर चलना है आत्म पराजित होना! ···
कलाकार को नैतिकता सिखलाते हो तुम ?
शुष्क नियम पालेगा क्या वह आत्म शुद्धि के,
बिना लीक चलने ही में जिसका गौरव है ?

कलाकार

नहीं जानता तर्कवाद, विद्वान् नहीं हूँ,
मैंने सीखा नहीं पहेली कभी बुझाना !
पर जो मन की आँखों को सुन्दर लगता है
उससे कैसे आँख चुराऊँ ? जो अन्तर के
घटवासी को प्रिय लगता है, कैसे निर्मम
तिरस्कार कर उसे भुलाऊँ ? यह मनुष्य से
सम्भव है क्या? नहीं,···बड़ी निर्दयता है यह !
मैं क्या करूँ ? विवश हूँ, मुझसे न हो सकेगा !
मन तो मेरे हाथ नहीं है, तर्क बुद्धि से
न चल सकूँगा, मुझे भावना ही प्रिय है !—
जो, अनजाने ही मन को मोहित कर लेता है,
चितवन को अनिमेष लूट लेता निज छवि से,
रूप रश्मियों में उलझा पलकों का विस्मय,—
जो प्राणों को पागल कर बरबस भावों के

स्वप्न पाश में बांध, हृदय तन्मय कर देता,—
मैं उसको ही आँकूंगा निज रंग तूलि से,
वह चाहे कुछ भी हो, मैं यह नहीं जानता !

पहला मित्र

क्या प्रलाप करते हो पागल प्रेमी का-सा ! ···
मानव जगत कहीं सुन्दर है प्रकृति जगत से,
क्योंकि अधिक विकसित है वह पुष्पों पशुओं से !
ऊर्ध्व रीढ़ पद दलित कर चुकी जड़ निसर्ग को,
शीश झुकायेगी वह पुन: प्रकृति के सम्मुख ?—
जिसे प्रकृति प्रभु मान हर्ष से पूंछ हिलाती
और प्रणत रेंगा करती पैरों के नीचे !
फूलों की रंगीन शिराओं से रहस्यमय
ज्ञानवाहिनी सूक्ष्म नाड़ियाँ हैं मनुष्य की !
मानव जग में, जनगण जीवन में प्रवेश कर
नयी प्रेरणा तुम्हें मिलेगी कला के लिए,
शक्ति स्फूर्ति आ जायेगी स्वप्निल तूली में !
मानव के मन को गढ़ना सर्वोच्च कला है !
जन से सहज सहानुभूति ही मनुज हृदय की
सार्थकता है, वही प्रेम की क्षमता भी है !
आओ, देखो आँख खोलकर मनुज जगत को—
कैसा हाहाकार छा रहा आज वहाँ है !

दूसरा मित्र

आँख मूंदकर सोचो, देखो मानव मन को
कैसा हाहाकार छा रहा आज वहाँ है !

पहला मित्र

शोषित कंकालों की भूखी चीत्कारों से !
काँप रही है नग्न वास्तविकता जगती की !

दूसरा मित्र

भौतिकता से बुद्धि भ्रान्त, जीवन तृष्णा से
पराभूत हो, भूल गया नर आत्म ज्ञान को !

पहला मित्र

एक ओर प्रासाद खड़े हैं स्वर्ग विचुम्बित,
चारों ओर असंख्य घिनौनी झाड़ फूंस की
बौनी झोपड़ियाँ हैं, पशुओं के विवरों सी,—
घोर विषमता छायी है मानव जीवन में !

दूसरा मित्र

एक ओर आदर्श भ्रष्ट हो रहा मनुज मन
चारों ओर घिरा अछोर अवचेतन का तम,
भाव ग्रन्थियाँ सुलझाने में कुण्ठित भू-जन

श्रौर उलझते जाते हैं वासना पंक में,—
घोर अराजकता है प्राणों के जीवन में!!

पहला मित्र

श्राज पुनः सगठित हो रहे शोषित पीड़ित,
युग-युग के पंजर खँडहर उठ धरा गर्भ से,—
क्रान्ति दौड़ती दावानल-सी, भूमि कम्प-सी,
महत् वर्ग विस्फोट हो रहा मानव जग में!

दूसरा मित्र

श्राज पुनः संगठित हो रहा मानव का मन,
नव प्रकाश से दीपित अन्तश्चेतन गह्वर,
नव्य चेतना से मधु झंकृत सूक्ष्म शिराएँ,—
रूपान्तर अब निकट महत् मानव भावी का!

पहला मित्र

लोक साम्य की बृहद् भावना से प्रेरित हो
सामूहिक निर्माण हेतु अब उत्सुक भू जन!

दूसरा मित्र

विशद विश्व मानवता के भावों से प्रेरित
आध्यात्मिक उन्नयन हेतु आतुर मानव मन!

(वाद-विवाद सूचक ध्वनि संगीत प्रभाव)

कलाकार

ऊब गया मन घोर विरोधाभासों को सुन,
क्लान्त कल्पना, दौड़ समान्तर तथ्यों के सँग!

(अँगड़ाई लेता है)

आऽऽह!

(बाहर से नारे लगने की आवाज़)

(नारे) क्रान्ति की जय हो! प्रजातंत्र की जय हो!
लोकतन्त्र की जय हो! जन मंगल की जय हो!

पहला मित्र

सुनो, बन्धु, वह जन समुद्र गर्जन भरता है,
प्रतिध्वनित हो रहे मौन वन पर्वत कन्दर,
जाग रहे चिर निद्रित भू के निःस्वर गह्वर,
लोकोत्सव यह, महत् प्रदर्शन लोक पर्व का!

(दूसरे मित्र से)

उठो मित्र, त्यौहार मनाती जन मानवता,
चलो, सम्मिलित हों हम भी आनन्द पर्व में!
कलाकार की पलकें डूब रहीं निद्रा में,
उसको सोने दो अपने कल्पना नीड़ में
स्वप्नों की परियों के सँग, भावना मग्न हो!

दूसरा मित्र

चलता हूँ पर, लोक पर्व में न जा सकूँगा !···
इन नारों से कहीं तीव्र झंकार कभी से
मेरे अन्तर में उठती है !···निर्जन में जा
खोज करूँगा गहन मर्म जिज्ञासा की अब !
(दोनों मित्रों का प्रस्थान)
(नारे) नये राष्ट्र की जय हो ! लोकतन्त्र की जय हो !

कलाकार

शिथिल पड़ गयी देह, व्यथित हो उठे प्राण मन
नीरस तर्कों के बोझिल शब्दाडम्बर से,
इनसे कहीं प्रेरणाप्रद लगते ये नारे···
प्राण शक्ति का स्पन्दन कम्पन जिनमें जन का !
(भावमग्न होकर)
एक और चेतना शक्ति है, जो मानव के
अन्तरतम में अन्तर्हित है, ज्योति प्रीतिमय :
जो विकास पथ में सम्भवतः, जिसके धूमिल
चरण चिह्न भू पथ पर छोड़ गये प्रवुद्ध जन !
तर्क बुद्धि, मतवादों से जो कहीं पूर्ण है !
उसकी आभा कभी स्फुरित हो अन्तर्नभ में
आलोकित कर देती स्वतः निखिल भेदों को !
स्वप्नमयी वह, सृजनमयी, आनन्दमयी वह,
करुणा कोमल, मा की ममता-सी मंगलमय,
प्रीति मधुरिमा से भर श्रद्धा मौन हृदय को
दीपित कर देती रहस्य सब सहज बोध से,—
सौ-सौ भावों के दल खोल दृगों के सम्मुख !
(अँगड़ाई लेकर)
आह ! न जाने किन फूलों की मदिर गन्ध पी
अलस-श्रान्ति जृंभा लेती मन्थर अंगों में !
क्लान्त हो उठा मन,—थोड़ा विश्राम करूँगा,
स्वप्नों की परियों के छायांचल में छिपकर !
(तख्त पर सो जाता है)

स्वप्न दृश्य

एक

[मन्द मधुर वादित्र संगीत : कलाकार का भावाक्रान्त मन स्वप्नावस्था में अन्तर्जगत् के सूक्ष्म प्रसारों में विचरण करता है, जिसे स्वर्ग कहते हैं]

(स्वर्ग चेतना का गीत)

स्वागत, अमरपुरी में आओ !
जीवन स्वप्नों से विभीत हे
तन्द्रालस में मत विलमाओ !

जागो, जागो, दिव्य पान्थ हे,
त्यागो भव भय, मुक्त कान्त हे,
स्वर्ग शिखर यह शुभ्र शान्त हे,
निर्भय, निश्चय, चरण बढ़ाओ !
यह अन्तर का सूक्ष्म संगठन,
मन करता आया आरोहण,
तुम जड़ नहीं, अनश्वर, चेतन,
चेतो, मन की भीति भगाओ !
महानन्द की उठती लहरी,
पुण्य यहाँ के अक्षय प्रहरी,
जन्म-मरण की निद्रा गहरी
छोड़ो, नर जीवन फल पाओ !
क्षणिक अतिथि बन जो तुम आये
तन - मन प्राणों से कुम्हलाये,
तो वरदान तुम्हें यदि भाये
भू पर देव-विभव ले जाओ !

(संगीत की झंकारें मन्द पड़ जाती हैं)

कलाकार

(आँखें मलता हुआ)

कैसी स्वर-संगति है इस सुन्दर प्रदेश में,...
स्वर्ग लोक है यह क्या, अन्तर्मन का दर्पण ?
जहाँ मौन संगीत प्रवाहित होता रहता
सूक्ष्म भावना अप्सरियों के पदक्षेप से !
निश्चय, यह मानव जग का प्रतिमान रूप है,—
विगत युगों का भाव विभव है जिसमें संचित !
ये कैसी छायाएँ विचर रहीं अनन्त में
दिव्य चेतनाओं-सी, स्वप्नों के पंखों पर !
ये कैसे विच्छिन्न हुईं जीवन पदार्थ से !
आत्माएँ हैं ये क्या जो तन में बँधने को
मँडरातीं उड़ चिद् नभ में निःशब्द अर्थ-सी ?
अथवा ये चिर रहस शक्तियाँ, मनुज नियति को
संचालित करतीं जो छिपकर स्वर्दूतों-सी ?
इन्हें कौन परिचालित करता ?—गूढ़ प्रश्न है !
सम्भव, ये अन्तर प्रकाश की छायाएँ हों,
धरती की रज बाह्य आवरण भर है जिनकी !
जीवन का बहुमुखी सत्य है एक, अखण्डित,
अधः ऊर्ध्व सोपान श्रेणियों में बहु छहरा,
एक - दूसरे पर निर्भर है जिनकी सत्ता,—
एकांगी अभिव्यक्ति नहीं श्रेयस्कर इनकी !
मनुज चेतना भटक गयी क्यों मध्य युगों से
भाव लोक में ? ऊर्ध्व पन्थ क्यों पकड़ा उसने !

स्वप्न लोक में शून्य मुक्ति का अनुभव करने ?
मुक्ति रिक्त कल्पना नहीं, वास्तविक सत्य है !
उसे प्रतिष्ठित करना होगा जन समाज में
महत् वास्तविकता में परिणत कर जीवन को !
सूक्ष्म स्वर्ग को भी फिर विकसित होना होगा
जन धरणी पर उतर, मूर्त अवयव धारण कर,—
वह यथार्थता में बँधने को रुका हुआ है !

(वादित्र संगीत के साथ गम्भीर मधुर प्रार्थना गान)

यह कैसा उन्मुक्त प्रार्थना गान बह रहा,
चिर श्रद्धा विश्वास हो उठे अन्तर्मुखरित,
गुह्य अर्थ मन्त्रों के स्वतः स्फुरित हो उर में
उद्भासित हो उठे तड़िल्लतिका से दीपित !
यह किन आत्माओं का करुणोज्ज्वल प्रकाश है ?
वरदहस्त की छाया कौन किये ये भू पर ?
दिव्य महापुरुषों से लगते ये पृथ्वी के !
स्वप्न देखता हूँ मैं क्या ? या अति जाग्रत् हूँ !
सुनूँ, धरा के स्वर्गिक प्रतिनिधि क्या कहते हैं ?

(छायाओं को सम्बोधन कर)

अभिवादन करता हूँ, श्रद्धानत मस्तक मैं
जन-भू के स्वप्नों से पीड़ित,—रंग तूलि से
रँगता जो नित धरा चेतना के क्षत पदतल,
उर की करुणा ममता, शोभा सुषमा से भर,—
लोक कला का महदाकांक्षी, नर देवों से
महत् प्रेरणा का अभिलाषी, मर्त्य जीव मैं !

प्रथम छाया

मर्त्य जीव ही नहीं, अमरताऽकांक्षी भी तुम !
हम भी जन-भू के अभिभावक, जन सेवक हैं,—
आत्म मुक्ति पथ त्याग, लोक जीवन वेदी पर
हमने पार्थिव स्वार्थों का बलिदान किया निज !
अब भी हम संघर्षशील हैं स्वर्ग लोक में
भू जीवन के श्रेय के लिए,—आत्म तेज से
मार्ग प्रकाशित कर जन-गण का ध्रुव तारकवत् !

कलाकार

मेरा भी भू पन्थ प्रकाशित करें कृपा कर !

प्रथम छाया

सफल मनोरथ हो तुम वत्स, कला जीवन की
मूर्त वास्तविकता बन सके, उसे जन जीवन
नित नव सार्थकता दे, वह जीवन तृष्णा का
मानव अन्तर के प्रकाश में रूपान्तर कर

उसे मनुज के योग्य बनाये,—घृणा द्वेष को
प्रीति द्रवित कर! ···मानव ईश्वरका प्रतिनिधि है!
लोकोत्तर जीवन विकास की क्षेत्र है धरा,
मानव का जीवन ग्रात्मोन्नति का प्रांगण है!

दूसरी छाया

पुण्य कर्म रत रहो, पाप का पथ मत रोको :
प्रभु खल सज्जन को करते सम ज्योति दान नित!
एक सर्वगत प्रेम व्याप्त सब चराचरों में,
वही प्रेम ईश्वर, जिसका मन्दिर मानव उर :
तुम पवित्र यदि रहो तुम्हें फिर किसका क्या भय?
सदाचार श्रेयस्कर भू पर, स्वर्ग लोक से!
कैसे खिलते फूल, उन्हें क्या जीवन चिन्ता?
उनका पालक सबका ही रक्षक है जग में!
क्षमा शत्रु को करो, तुम्हें प्रभु क्षमा करेंगे,—
प्रेम, क्षमा, जन दया, विनय, सोपान स्वर्ग के!
धन्य विनम्र निरीह, उन्हें स्वर्धाम मिलेगा,
धन्य सत्य पथ चारी, होंगे पूर्णकाम वे!
धन्य पवित्र हृदय, ईश्वर का मुख देखेंगे···
धन्य शान्ति कामी, प्रभु के शिशु कहलायेंगे!
धन्य न्याय हित व्यथित, स्वर्ग में राज्य करेंगे।
तुम धरती के लवण, विश्व-भर के प्रकाश हो,
ईश्वरीय महिमा को भू पर करो प्रकाशित।

तीसरी छाया

रोग शोक ग्रौ' जरा मृत्यु पीड़ित जग जीवन,
सुख की तृष्णा—मार, शत्रु दुर्जय मनुज का!
राग द्वेष षड् रिपुग्रों का षट् चक्र भयंकर,
ग्रन्धकार ग्रज्ञान जनित छाया जन भू पर।
ग्रात्म शुद्धि का ग्रन्तर्मुख ग्रसि पथ है दुर्गम,
सम्बोधन का द्वार घिरा स्वर्णिम जालों से।
मूल ग्रविद्या है, प्रसार जिसकी तृष्णा का
नाम रूपमय षडायतन, भव, जन्म मरण है।
कारण, दुःख निदान, निरोध समझकर मानव
जन मंगल का मार्ग गहे,—मध्यमा प्रतिपदा।
क्षण भंगुर यह जगत, नित्य चैतन्य न ग्रात्मा,
निखिल पदार्थ ग्रनित्य, कर्म जग-जीवन-बन्धन,—
तृष्णा दुख का कारण, उसका पूर्ण त्याग कर
ग्रहण करें जनगण सेवा पथ, जीव दया रत।
बुद्ध, धर्म ग्रौ' संघ शरण निर्वाण प्राप्ति पथ।

चौथी छाया

ईश्वर केवल एक, ग्रसीम दया सागर जो,
उसके सब सेवक समान, जातियाँ व्यर्थ हैं।

मृत्यु श्रेष्ठतर मृत्यु-भीत के अविश्वास से,
ईश्वर पर विश्वास, धर्म का सारतत्त्व दृढ़।
विनय, दान, प्रार्थना,—सम्पदा सन्त जनों की,
ईश्वरीय जन साम्य चाहता मैं पृथ्वी पर।

पांचवीं छाया

अभी लौटकर आया हूँ पार्थिव यात्रा से
अभी नहीं भर सके मर्म के व्रण भी मेरे,
जो कि लोक सेवा के प्रिय उपहार चिह्न हैं!
महापुरुष जो ज्योति चिह्न जगती के पथ पर
छोड़ गये हैं, मैंने आजीवन उनका ही
नम्र अनुसरण किया! अतुल आदर्शों की निधि
संचित कर नित, उन्हें कसौटी में कस उर की,
मैंने विविध प्रयोग किये जन के जीवन में,—
स्वतः सत्य का पालन कर मन कर्म वचन से!
ईश्वर सत्य न कहके, कहूँ, सत्य ईश्वर है?
सतत असत् पर सत् की, जड़ तम पर प्रकाश की,
तथा मृत्यु पर जीवन की जय होती जग में!
नियम नियामक दोनों एक तथा अभिन्न हैं!
भू जीवन में आज नये के प्रति आग्रह है!
सभी नया चाहिए मनुज को, जादू से ज्यों
सभी पुराना क्षण में नया बदल जायेगा!
शाश्वत और चिरन्तन सत्य नहीं हो कुछ भी,
अभिव्यक्ति पाता जो जीवन व्यापारों में,
पुनः पुरातन का नूतन में समावेश कर!
सूर्य तले, कहते हैं, कुछ भी नया नहीं है,
घटवासी को छोड़, नित्य अभिनव, पुराण जो!
खादी सूतों के सात्त्विक ताने बाने भर
जन जीवन पट बुना सरल लोकोज्ज्वल मैंने
जनगण के श्रम बल के मूल्यों पर आधारित,
हिंसा शोषण के धब्बों से उसे बचाकर
औ' असत्य के कलमष से रक्षा कर उसकी!
अन्यायों अत्याचारों के प्रति नृशंस के
मैंने नम्र-अवज्ञा के सिखला प्रयोग नव,
युद्ध जर्जरित जग को दिखा अहिंसा का पथ,
भीरु हृदय में मानव गौरव पुनः जगाया,—
आत्म शक्ति से रोक पाशविक हिंसा का बल!

कलाकार

अब भी जन-मन मर्मर कर उठता सम्भ्रम से,
पावन स्मृति के मलय स्पर्श से पुलकाकुल हो,
एक नया चेतनाऽलोक उठ धरा गर्भ से
बढ़ता नभ की ओर, स्वर्ग मुख दीपित करने!

शत प्रणाम, जन युग की इस आराध्य ज्योति को !

पाँचवीं छाया

जन मंगल हो ! लोक कर्म रत रहो निरन्तर
सेवा करना ही प्रणाम करना है मुझको !

('रघुपति राघव राजाराम' की धुन धीरे-धीरे
"श्री रामचन्द्र कृपालु भज मन' के श्लक्ष्ण कण्ठ
स्वर में डूब जाती है)

कलाकार

ओः, यह क्या स्वान्तः सुखाय तुलसी के स्वर हैं ?

एक स्वर

मैं पहिले ही परम मन्त्र दे चुका विश्व को !
राम चरण अवलम्ब बिना परमार्थ सिद्धि की
पुण्याशा वारिद की गिरती बूंद पकड़कर
नभ में उड़ने की अभिलाषा - सी मिथ्या है !
सियाराम मय जान समस्त जगत को निश्चित
बार-बार करता प्रणाम युग पाणि जोड़ निज !

दूसरा स्वर

परम लोकप्रिय यह तुलसी ही की वाणी है !

एक स्वर

मुझे लोकप्रिय बतलाते हैं सूरदास जी !
सूर सूर हैं ! जिनके मधुर कृष्ण का शैशव
अब भी घुटनों बल चलता इस भरत भूमि के
घर घर में, आँगन आँगन पर, भुवन मोहिनी
अपनी लीला से विमुग्ध कर जन जन का मन !
अब भी मौन निकुंजों से वंशी ध्वनि छनकर
ज्योत्स्ना में पुलकित करती रहती भू का मन,
यमुना तट नित मुखरित रहता रास लास से !
दुर्लभ अन्तर्मुखी दृष्टि यह ! आप राम को
सदा कृष्णमय रहे देखते ! मुझको उनका
धनुर्बाणधर रूप सदैव प्रणम्य रहा है !

कलाकार

यह क्या मीराँ ? मौन, नृत्य में समाधिस्थ सी !

दूसरा स्वर

नृत्य निरत, गिरिधर में लीन, भाव-रस डूबी,
प्रेम दिवानी मीराँ केवल तन्मयता है !
निःस्वर नूपुर ध्वनि से ही उसकी सत्ता का
मर्म मधुर आभास स्वर्ग को मिलता सन्तत !

तीसरा स्वर

टीक बात है, मस्त हुआ मन तब क्यों बोले !

एक स्वर

शबद अनाहद के कबीर यह, अकथ प्रेम का
गुड़ खाकर, गूंगे - से सदा रहे मुसकाते !

दूसरा स्वर

सूक्ष्म सुषुम्ना के तारों से झीनी झीनी
बिनी चेतना सुघर चदरिया स्वच्छ आपने,
कलुष चिह्न से मुक्त : धन्य हैं आप, कि जिसने
घूंघट का पट खोल सत्य के मुख को देखा,
सद्‌गुरु से चूनर रँगवा ज्यों की त्यों रख दी,—
अमर रहे साजन को प्रिय शृंगार आपका !

चौथा स्वर

मुझे आपकी अमर साखियाँ सदा प्रिय रहीं;
चमत्कारिणी काव्य दृष्टि. मार्मिक, रहस्यमय,—
उलटवासियों का क्या कहना! अद्‌भुत, अद्‌भुत !
नदी नाव के बीच समाती रहती प्रतिपल !

कलाकार

मेघ मन्द्र क्या ये कवीन्द्र के मादक स्वर हैं !

चौथा स्वर

अमरों को है प्रिय शस्य-स्मित स्वर्ण धरित्री,···
पर भारत के अकर्मण्य जन मुख अतीत का
देखा करते सदा···विगत गौरव स्वप्नों में
खोये, निज दायित्वों के प्रति सोये रहते !
सामाजिक चेतना न अब भी जाग्रत् उनमें !
नये राष्ट्र का भार वहन करने में अक्षम,
जाति पाँतियों, कुल परिवारों में विभक्त वे,
रूढ़ि रीतियों से शासित, मत भेद प्रताड़ित !
मैंने निज अन्तर की स्वर्णिम झंकारों से
भू भागों की संस्कृतियों का किया समन्वय,
विश्ववाद स्थापित कर खण्डित भू प्रांगण में,—
भारत की आत्मा को पश्चिम के जीवन की
नव सौष्ठव-गरिमा से फिर से आभूषित कर !
मानव उर के भावों को पहिनाये मैंने
स्वर्ण रजत परिधान रत्नस्मित छायातप के,
ऊषा ज्योत्स्ना की छाया में भू जीवन के
गीतों का पट बुन अभिनव सौन्दर्य बोध से !—
श्री शोभा गरिमा से मण्डित हो जन धरणी,
महत् ज्ञान विज्ञान समन्वित हो जन जीवन,

यही मात्र सन्देश विश्व जन के प्रति मेरा !
तुम प्रसन्न मन, आश्वासित हो लौटो भू पर;
वही प्रगति का, आत्मोन्नति का पुण्य क्षेत्र है !

(वादित्र संगीत : छायाएँ अन्तर्धान होती हैं :
मंच स्वर्णारुण प्रकाश से भर जाता है)

कलाकार

(अर्ध जाग्रतावस्था में)

धन्य भाग्य हैं ! सफल हो गया मानव जीवन,
आज महापुरुषों का क्षण सामीप्य मिल सका,
और महाकवियों का दर्शन लाभ हो सका !
सभी महाकवियों की वाणी जन मंगल की
महत् भावनाओं से प्रेरित रही निरन्तर !
सभी श्रेष्ठ धर्मों का अभिमत एक रहा है—
ईश्वर पर विश्वास, सत्य आचरण धरा पर !
सभी महापुरुषों के लक्षण एक रहे हैं,—
आत्मत्याग, जन सेवा, दया, विनय, चरित्रबल !
भू की भिन्न परिस्थितियों को भिन्न रूप से
संयोजित नित किया स्वर्ग की महत् दया ने,
मूर्तिमान हो युग - युग में बहु सत्पुरुषों में !
सभी लोक पुरुषों की वाणी सत्य पूत है !
सभी दिव्य द्रष्टा, जन भू के अभिभावक हैं !
पर, मानव की नियति हाय, सचमुच निर्मम है !
सद् वचनों के लिए बधिर हैं हृदय के श्रवण,
मनोभूमि बन्ध्या है उच्च विचारों के प्रति !
दिव्य प्रेरणाओं के विमुख मनुष्य चेतना !
सत्य बीज जन प्राणों के रस से सिंचित हो
क्यों न प्ररोहित हो उठते जीवन गरिमा में ?
कहाँ, कौन-सी त्रुटि है ? ···कैसी परवशता है !
अह, कँप उठता मन मानव की दुर्बलता से !
ऊपर से आकर प्रकाश सन जाता तम में
अन्धकार को और अँधेरा बना धरा पर !
दुःस्वप्नों से आकुल हो उठता है अन्तर,···
रौंद रहा है कोई उर को,···विश्वासों के
शिखर बिखरते जाते, खिसक रही मन की भू,···
ज्यों अन्तर्मन का विधान हो चूर्ण हो रहा,—
घने कुहासे से आवृत है मानव आत्मा !!

(स्वप्न वाहक वादित्र संगीत : कलाकार की
आत्मा अनेक उच्च तथा सूक्ष्म प्रसारों में विचरण
करती है)

अह, क्या सूक्ष्म अनेकों स्तर हैं स्वर्गलोक के ?
कैसा सम्मोहन है सद्यः स्फुट वर्णों का !

यह प्राणों का हरित स्वर्ग - सा लगता सुन्दर,
जीवन की कामना जहाँ हिल्लोलित अहरह
शस्य राशि - सी श्यामल, शत वर्णों में मुकुलित,
इन्द्रिय भृंगों से गुंजित, मधु गन्धोन्मादन !
मदिरा की सरिताएँ बहतीं ! यौवन उन्मद
अप्सरियों की नूपुर ध्वनि मन्थित करती मन,—
अर्धखिली कलियों - सी कोमल देह लताएँ
अंग भंगिमा भर, नयनों को रखतीं अपलक !

(भावपरिवर्तन-सूचक वादित्र संगीत)

यह भावों का स्वर्ग लोक है मनो भूमि पर,
झूल रहा जो संयम तप की कृश डोरों में !
यहाँ व्याप्त चिन्मय प्रकाश नीरव नीलोज्ज्वल,
मर्यादा में बँधी क्यारियाँ,—भाव राशि के
मुकुल स्वप्न-स्मित, पक्व पुण्य फल, आदर्शों की
लतिकाएँ लटकीं पात्रों से विनयानत हो !
सूक्ष्म वायु मण्डल में व्यापकता है निर्मल
मौन प्रेरणा की सुगन्ध से समुच्छ्वसित जो !
श्रद्धा औ' विश्वास तैरते हंस मिथुन-से
उच्च विचारों के प्रशान्त जल में रजतोज्ज्वल,
अतल नील उर सरसी को कर प्रीति तरंगित !

(भावपरिवर्तन-सूचक वादित्र संगीत)

आत्मशुद्धि के नियमों की निर्जन समाधि-से
और अनेकों स्वर्ग बसे हैं, धर्म नीति गत
सदाचार के स्तम्भों पर, तर्कों से. वेष्टित,
जहाँ जगन्मिथ्या की निष्क्रियता छायी है !
मुक्ति दीप टिमटिमा रहा फीका प्रकाश दे,
सन्ध्या के झुटपुट-सा पीला-तम विकीर्ण कर,—
आत्माएँ उड़तीं जुगनू-सी स्वयं प्रकाशित !

(पुनः भावपरिवर्तन-सूचक वादित्र संगीत)

अधोमुखी लघु स्वर्ग, सम्प्रदायों में सीमित
लटके हैं अगणित त्रिशंकु से, बहुमत पोषक,...
कट्टरपन्थी आचारों के झींगुर झन - झन
जहाँ रेंगते, दारुण धर्मोन्माद बढ़ाकर !
जहाँ रूढ़ि जर्जर आस्था के झंखाड़ों पर
क्षुद्र अहंता के दिवान्ध हैं नीड़ बसाये
मन्द प्रभा में, जो प्रकाश की छाया भर है !
आदर्शों के उच्च स्वर्ग, संकीर्ण क्षीण हो,
बिखर गये जाने क्यों बहु उपशाखाओं में,
शुष्क कर्म काण्डों में, जड़ विधियों, नियमों में !

(वादित्र संगीत के साथ दूर से वाहित गीतों के स्वर जिनमें कलाकार को अपने मन के भावों की प्रतिध्वनि मिलती है)

सहगान

यह क्या मन के रीते सपने !
कहाँ स्वर्ग सुख शान्ति, कहाँ रे
धरती के दुख भरे कलपने !
सपने भी तो कब के बीते
मीठे सुख क्षण लगते तीते,
धर्म नीति आदर्श सुनहले
काम न आते लगते अपने !
यह छायाओं का अन्तर्मन
कभी रहा जो जीवन चेतन,
अब भी विस्मृत मधु स्मृतियों के
स्वप्नों से दृग लगते झँपने !
एक वृत्त रे हुआ समापन,
स्वर्ग न रहता कभी चिरन्तन,
नये जागरण का नव रण अब
नये मन्त्र के मनके जपने !
लौट न आ सकते बीते क्षण,
उन्हें न दो अब व्यर्थ निमन्त्रण,
जन-मन प्रांगण आज लगा फिर
अश्रुत पद चापों से कँपने !

कलाकार

(चिन्तातुर स्वर में)

कहाँ हाय, मैं भटक गया हूँ, किन लोकों में,···
दुःस्वप्नों से पीड़ित क्यों हो उठता अन्तर ?
क्यों विभक्त कर दिया सत्य को मानव उर ने,···
मानव मन की सीमा ही क्या इसका कारण ?—
खण्ड खण्ड कर करता जो नित पूर्ण को ग्रहण !
जीवन, मन, चेतना सभी तो एक सत्य हैं,
स्वर्ग धरा, जड़ चेतन, एक, अभेद्य, पूर्ण हैं !

(नीचे के वातावरण से उठकर अन्धकार जनित कटु संघर्ष का कुत्सित कोलाहल सुनायी पड़ता है)

वे कैसी चीत्कारें उठतीं अवचेतन से ?
घोर तिमिर का बादल घेर रहा हो मन को ! ···
कहाँ गिर रहा हूँ मैं ?···ये क्या नरक लोक हैं ?
नीचे उतर हृदय बुझता जाता विषाद से,
अन्धकार के भी क्या हाय, अनेकों स्तर हैं ?

(दारुण विषादपूर्ण वादित्र संगीत : प्रकाश मन्द

पड़ता है : कलाकार आँखें मलता हुआ करवट बदलकर फिर गाढ़ निद्रा मग्न होता है।)

स्वप्न दृश्य

दो

[कलाकार का दुःस्वप्न ग्रस्त अन्तर अवचेतन के छायान्धकार पूर्ण लोकों में भटकता है। सुदूर से वाहित संगीत के स्वर उसके कानों में टकराते हैं।]

(ह्रासोन्मुख चेतना का गीत)

अन्धकार भी तो प्रकाश है !
पलकों में रे लवण अश्रु कण
अधरों पर क्षण मधुर हास है !
नयनों को प्रिय नींद घनेरी
जीवन तृष्णा देती फेरी,
मोह निशा की अंचल छाया,
मनुज ध्येय इन्द्रिय विलास है !
वृथा आयु की अवधि गँवायी,
मन की टीस नहीं मिट पायी,
चार दिवस की मधुर चाँदनी
रैन अँधेरी फिर उदास है !
विकसित पशु ही निश्चय मानव,
कभी देव वह, फिर वह दानव,
ह्रास सतत होता जीवन में,
कहने को होता विकास है !
जो जैसा वह बना रहेगा,
बहता पानी सदा बहेगा,
बड़े-बड़े मुनि हार गये रे
मनुज प्रकृति का क्रीत दास है !
लिखा करम का नहीं टलेगा
अपना बस कुछ नहीं चलेगा,
कभी मन्द तो कभी तेज है
मन की गति से बँधी साँस है !
यहाँ कौन, कब किसका सहचर,
अपने सब, सबका है ईश्वर,
हानि-लाभ सुख-दुख की दुनिया
कभी दूर तो कभी पास है !

कलाकार

(कर्तव्यमूढ़-सा)

अन्धकार ? वह कैसे हो सकता प्रकाश-सा
अन्धकार भी क्या प्रकाश की एक शक्ति है ?

या प्रकाश ही अन्धकार की एक शक्ति हो ?...
खूब पहली है ! ...उफ़्, मैं क्या सोच रहा हूँ !
कैसी दूषित वायु यहाँ है भ्रान्ति से भरी !
कहाँ आ गया मैं,... किस दृष्टि विहीन लोक में !
जहाँ ह्रास युग का विषण्ण तम छाया निष्क्रिय,...
घोर हृदय कार्पण्य भरा अनुदार दैन्य-सा !
यह कैसी स्वार्थों की अँधियारी नगरी है,
जिससे रही अपरिचित मेरी कला चेतना !
क्षुद्र भित्तियों में विभक्त है इसका प्रांगण
जिनमें घिरे घरौंदे लगते तुच्छ घिनौने !
उफ़, कैसे आलस प्रमाद में सने लोग ये,
कर्म हीनता ही हो ध्येय कृपण जीवन का !
मुण्ड-मुण्ड में बँटे, गुप्त पर-निन्दा में रत,
एक दूसरे के अनिष्ट के हित नित तत्पर,
राग-द्वेष से जर्जर, कर्तव्यों के कायर,
अहम्मन्य, अभिमानी, स्पर्धा-दंशन-पीड़ित,—
हठी, कुटिल-मति, भेदभाव से भरे, विषैले,
पर-द्रोही, प्रतिशोध क्षुधित, निर्बल के पीड़क,
कलह विवाद विनोदी, घोर विषमता प्रेमी,
निरुद्यमी, निःसत्व, निरुत्साही, निराश मन,
रोग शोक, दारिद्रय दैन्य के जीवित पंजर
निखिल क्षुद्रताओं के जीवन-मृत प्रतीक-से !!
सूख गया प्रेरणा शक्ति का स्रोत हृदय में,
केवल गत संस्कारों पर जीवित इनके शव,
रेंग रहे जो भाग्य भरोसे भग्न रीढ़ पर !
इसीलिए ये रक्त स्वार्थ के पंजे फैला
लूटा करते एक दूसरे का जीवन-श्रम,...
जाति पाँतियों में बहु खण्डित, चिपटे रहते
पथराये से रूढ़ि रीतिगत अभ्यासों से !
क्षुद्र सम्प्रदायों की सीमा अतिक्रम कर ये
निर्मित कर पाते न महत् सामाजिक जीवन !
तुच्छ मोह ममता में डूबे, परम्परागत
कठपुतलों से नाच रहे, विधि लिपि पर निर्भर !

(करुण वादित्र संगीत)

हाय, कौन जीवन बन्दिनी सिसकती है वह ?...
यह क्या अबला ? छाया-सी लिपटी पैरों से !
छिन्न लता-सी कौन अधमरी वह? क्या विधवा ?
कौन माँगते गा-गा कर ये? ...क्या अनाथ शिशु?
अह, कैसी जीवन विभीषिका जन धरणी पर
जो मानव को वंचित रखती मनुष्यत्व से !!
कौन लोग ये ?...राग द्वेष कटु कलह क्रोध के

मूर्तिमान कुत्सित प्रतीक-से ? निम्न शक्तियों के
अमानुषी प्रतिनिधियों-से लगते हैं जो !

(भाव परिवर्तन-द्योतक वादित्र संगीत)

ये क्या संस्कृति पीठ, कला साहित्य द्वार हैं ?
क्षुद्र मतों में, कुटिल गुटों में ईर्ष्या-खण्डित !
ह्रास युगीन अहंताओं के मनः संगठन,
आपस के स्वार्थों, संघर्षों से अनुप्राणित !
सधे बँधे, प्रच्छन्न रूप से, व्यक्ति जहाँ पर
पर-परिभव हित तत्पर रहते, स्पर्धा पीड़ित !
जीवन कुण्ठा जहाँ अशृंखल अट्टहास बन
विस्मय स्तम्भित कर देती क्षण-मूढ़ अतिथि को !
औ' सृजन प्रेरणा व्यक्तिगत स्तुति निन्दा पर
निर्भर रहती, रिक्त शिल्प सौष्ठव में मण्डित !
यहाँ महत् निर्माण न सम्भव भाव सृष्टि का,
हाँ ! संगठित प्रहार सुलभ हैं सहकर्मी पर !
बुद्धि जीवियों का आहत अभिमान प्रदर्शन
यहाँ मात्र वाणी की सेवा, कलाकारिता !

(भाव द्योतक गम्भीर वादित्र संगीत)

कैसे मनोविकार मात्र बन गयी चेतना
सत्ता से हो विलग, ग्रन्थियों में हो गुम्फित !
सामाजिक सन्तुलन खो गया क्यों जीवन का ?···
किन दोषों से प्राणों का संयमन नष्ट हो
विष बन फैल गया मन के नैतिक विधान में ?···
किस प्रकार खोखला हो गया निखिल आत्मबल,···
क्यों चरित्र की अन्तः संगति चूर्ण हो गयी ?
युग-युग से संगठित मनोमय अन्तर्मानव
हाय, खो गया महाह्रास के अन्धकार में !!
ये साधारण व्यक्ति नहीं···मन के निर्वासित
घृणित विकारों की छाया हैं—जीवन शापित !!
अह, यह दारुण स्वप्न न जाने कब टूटेगा,···
निश्चेतन के अतल गर्त से उठ मेघों-सी,
किमाकार आकृतियाँ मँडरातीं दैत्यों-सी
कहीं खुला आकाश नहीं, जो स्वच्छ वायु में
साँस ले सके मन क्षण-भर अह, छूट नरक से !

(नैराश्यपूर्ण करुण वादित्र संगीत जो धीरे-धीरे
लोक जागरण के उत्सव संगीत में परिणत
होकर द्रुत से द्रुततर होता जाता है। कला-
कार की पलकों पर दूसरा स्वप्न चित्र उतरता
है : सुदूर से वाहित संगीत के स्वर आते हैं।)

जन गीत

जीवन में फिर नया विहान हो,
एक प्राण, एक कण्ठ गान हो !

बीत अब रही विषाद की निशा,
दीखने लगी प्रयाण की दिशा,
गगन चूमता अभय निशान हो !

हम विभिन्न हो गये विनाश में,
हम अभिन्न हो रहे विकास में,
एक श्रेय प्रेय अब समान हो !

क्षुद्र स्वार्थ त्याग, नींद से जगें,
लोक कर्म में महान सब लगें !
रक्त में उफान हो, उठान हो !

शोषित कोई कहीं न जन रहे,
पीड़न अन्याय अब न मन सहे,
जीवन शिल्पी प्रथम, प्रधान हो !

मुक्त व्यक्ति, संगठित समाज हो,
गुण ही जन मन किरीट ताज हो,
नव युग का अब नया विधान हो !

कलाकार

आज व्यक्ति संघर्ष लोक जागरण बन रहा
धीरे निर्मम स्वार्थों की शृंखला तोड़कर !
किस माया बल से युग जीवन अन्धकार फिर
विहँस उठा मानस-उज्ज्वल मंगल प्रभात में !
निश्चय ही वह अन्धकार था नहीं अकेला,
अलसाया जीवन प्रकाश था,···मानव मन की
अन्ध वीथियों, रुद्ध घाटियों में बन्दी हो
म्लान पड़ गया था जो छाया-सा कुम्हलाकर ! ···
चेतन से जड़ को देखें, जड़ से चेतन को
दोनों का निष्कर्ष एक ही होता निश्चय !
उद्वेलित हो उठा आज स्तम्भित जन सागर
प्राणों का नव ज्वार उमड़ता उसके उर में,
मज्जित कर देगा वह भू तट, युग प्लावन में
बाधाओं को लाँघ, बहा अवसाद युगों का ! ···
नवल प्रेरणा के स्पर्शों से पुलकित जन-मन,
आन्दोलित हो उठा विविध शाखाओं का जग,
नव वसन्त की जीवन-शोभा में दिगन्त को
मधु प्लावित कर देगा वह, नव गन्ध मंजरित !
आः, महान् जागरण, युगों से लोक अभीप्सित,
भू पलकों पर मूर्त हो रहा स्वप्न सत्य-सा,
जगती के वैषम्य-विरोधों को, कल्मष को,

मिटा सदा को धरा वक्ष के वैरूप्यों को !...
एक प्राण हो रही धरा, युग-युग से खण्डित,...
एक लक्ष्य को बढ़ सहस्र पग श्रेणि मुक्त हो,
जन भू में स्वर संगति भरते पद चापों से !
कौन दिशा वह, किधर बढ़ रहा जन-भू-जीवन,
मत्त, स्फीत, गर्जित समुद्र-सा हिल्लोलित हो ?
कौन प्रेरणा उसे खींचती किस नव पथ पर ?
कैसा वह ईप्सित प्रदेश ? जन स्वर्ग लोक वह ?
क्या उसका आदर्श रूप ? यह धरा चेतना
कैसा स्वर्णिम नीड़ रचेगी जीवन तरु पर,
जहाँ मनुज की प्राण कामना पूर्ण-काम हो,
पंखों के सुख में लिपटी कल गान करेगी ?...
जो मधुचक्र समान भरा होगा नव मधु से !
क्या होंगे उपकरण लोक सत्ता, संस्कृति के,
कैसा अन्तस्तत्व ?—जानने को उत्सुक मन !

(वैभव युग का आनन्द मंगल सूचक वादित्र संगीत : कलाकार की स्वप्न चेतना व्यापकजीवन प्रसार में विचरण करती है : सुदूर से वाहित गीत के स्वर ।)

उत्सव गीत

गीत नृत्य, राग रंग
जन-मन में नव उमंग !
सफल स्वर्ण धरा स्वप्न
लोह नियति दर्प भंग !
पूर्ण काम धरणि धाम
शस्य हरित, श्री ललाम,
शोभित सह कृषि प्रकाम
जीवन की सी तरंग !

मानवता वर्ग हीन
तन्त्र भी हुआ विलीन,
जन सब संस्कृत, प्रवीण
युक्त विविध लोक संघ !

वैभव का रे न पार
ऋद्धि सिद्धि खड़ी द्वार,
आधि व्याधि गयीं हार
रिक्त दैन्य का निषंग !

ज्ञात निखिल अब इति अथ
बढ़ता जन अभिमत रथ,
विस्तृत जनहित युग पथ
गति प्रिय जीवन तुरंग !

मानव मानव समान
संस्कृति से सिक्त प्राण,
स्वप्नों का सा विमान
उड़ता उर का विहंग !

कलाकार

जन भू की भावी की झाँकी यह निःसंशय
अन्तिम स्थिति जो भौतिक सामाजिक विकास की !
मधुर स्वप्न-सा लगता जन का विभव स्वर्ग वह
वर्गहीन से तन्त्र हीन हो जन समाज जब
प्राप्त कर सकेगा अभिमत पार्थिव जीवन का !
बहु शिक्षा सम्पन्न, कला कौशल में दीक्षित
मनुज कर सकेंगे निर्भय भू जीवन यापन
विकसित, संस्कृत, आप्त प्राणियों- से पृथ्वी पर,—
सामाजिक दायित्व स्वतः ही संचालित कर !
आः, कैसा जीवन होगा तब जन धरणी का ?
उषा सुनहली, ज्योत्स्ना अधिक रुपहली होगी ?
मानव की चेतना ज्योति प्रहसित सागर-सी
धोयेगी भू की विषण्णता को, जड़ता को,
लोक कर्म कल्लोलित, नव भावोद्वेलित हो ?
दिग् दिगन्त जन मन वैभव से आप्लावित हो
शाश्वत मधु से सतत रहेगा गन्ध गुंजरित ?
प्रीति कुंज जन ग्राम अमर पुरियों-से कुसुमित
मण्डित कर देंगे भू को श्री सुख गरिमा से ?

(प्राणोन्मादन वादित्र संगीत)

रूढ़िबद्ध, कुण्ठित, कुत्सित संस्कार युगों के
उच्छेदित हो जायेंगे मानव अन्तर से ?
विस्तृत उपचेतन गह्वर, व्यापक मनःक्षितिज,
विकसित हो जायेगा जन जीवन संवेदन ?
घृणित क्षुद्रताएँ मिट जायेंगी मनुष्य की
दैन्य अविद्या तमस निरस्त नये प्रकाश से ?
स्वार्थ लोभ कटु स्पर्धा धुल जायेगी मन की ?
रूपान्तर हो जायेगा मानव स्वभाव का ?
व्यक्ति समाज परस्पर घुल मिल जायेंगे तब
भर जायेगा अन्तराल दोनों का गहरा ?
चिन्ताओं से मुक्त मनुज आत्मोन्नति में रत
संस्कृति का नव स्वर्ग बसायेगा धरणी पर,
आध्यात्मिक सोपानों पर आरोहण कर नव ?

(आनन्द कल्पना मग्न वादित्र संगीत सहसा रण वाद्यों के निनाद तथा विप्लव के कोलाहल में डूब जाता है)

(स्वप्न में चौंककर)

अह, यह कैसी दुर्मुख रण भेरी बजती है,
आहत कर दिङ्‌मण्डल को दारुण गर्जन से!
कौन शक्तियाँ कार्य कर रहीं भू मानस में?
क्यों राष्ट्रों के बीच पड़े हैं लोह-आवरण?
कौन साधनों का प्रयोग कर रहे धरा जन,
नव भू स्वर्ग बसायेंगे क्या रक्त सने कर?
क्यों भीषण उपकरण जुट रहे विश्व ध्वंस के?
सेनाएँ संगठित हो रहीं··विकट, भयंकर
अस्त्र-शस्त्र बन रहे विनाशक, वज्र निनादक?
काल दंष्ट्र-से जो कराल, जिनके दंशन में
महानाश के निर्मम तत्त्व हुए हैं बन्दी,
शत प्रलयों का ध्वंस, कोटि कुलिशों का पावक
जिनमें पुंजीभूत किटाणु महामारी के!!

(मृत्यु और विनाश सूचक करुणतम वादित्र संगीत)

क्यों मानव मन का उत्पीड़न, जन श्रम शोषण
आज चल रहा छल बल से, निर्मम साहस से!
कहाँ गया रण धर्म, मानुषी मर्यादाएँ,
विविध सन्धि-विग्रह, समझौते भू भागों के,—
नियम पत्र, पण, निर्बल राष्ट्रों का संरक्षण,
औ' सर्वोपरि शान्ति घोषणाएँ देशों की?···
नारकीय कर्मों में रत क्यों उभय शिविर अब?···
मनुज हृदय क्यों आज हो गया इतना निर्मम?···
इन्हीं साधनों से होगी क्या सृष्टि श्रेय की?···
आज साध्य औ' साधन में क्यों इतना अन्तर?···
एकांगी सुख स्वप्न रहा मानव समाज का,
भौतिक मद से, जीवन तृष्णा से प्रमत्त हो,
बिखर गया जो अन्ध नाश में आत्म पराजित!!···
युग आदर्श यथार्थ साथ चल सके न भू पर!

(वादित्र संगीत तीव्र से तीव्रतर होता है: रणनाद
और विप्लव संक्षोभ, चीत्कारें तथा कोलाहल)

कैसा हाहाकार, तुमुल रणनाद हो रहा,
शत-शत वज्र कड़क उठते नभ को विदीर्ण कर,
प्रलय कोप से काँप रहे भू के दिगन्त,···अह,
नरक द्वार खुल गया नाश का क्या जन भू पर!!

(भय त्रस्त होने के कारण कलाकार का स्वप्न
टूट जाता है। वह अर्ध चेतनावस्था में विस्फारित
दृष्टि से इधर-उधर देखता है: सुदूर से वाहित
संगीत उसका ध्यान आकर्षित करता है: वह
उठकर ध्यान मौन अवस्था में बैठ जाता है।)

(मन्द्र करुण वादित्र संगीत के साथ धरा चेतना का गीत)

अन्धकार, घन अन्धकार है,
अन्धकार है!

रुद्ध मनुज के हृदय द्वार,
घन अन्धकार छाया अपार है,
अन्धकार है!

बाहर जीवन का संघर्षण
भीतर आवेशों का गर्जन,
भरा मौन प्राणों में क्रन्दन
उर में दुःसह व्यथा भार है!

बदल रहा जन भू का जीवन,
बिखर तटों पर रहा विश्व मन,
घुमड़ रहा उन्मद अवचेतन
मनुज विजय बन रही हार है!

युग परिवर्तन का दुर्वह क्षण
डाल अचेतन का अवगुण्ठन
आरोहण करता नव चेतन
प्रलय सृजल क्रम दुर्निवार है!

(वादित्र संगीत में भाव परिवर्तन)

हँसता नव जीवन अरुणोदय
तम प्रकाश में होता तन्मय,
सिन्धु क्षितिज पर दूर स्वप्न स्मित
उठता स्वर्णिम ज्योति ज्वार है!

यह स्वर्गिक भावों का शोणित
जीवन सागर लगता लोहित
सत्य भरा स्वप्नों का वोहित
भार मुक्त लग रहा पार है!

(आशा उल्लासप्रद वादित्र संगीत के साथ यवनिका पतन)

दिग्विजय

(जीवन सत्य की बहिरन्तर विजय का काव्य रूपक)

मरुत
अप्सरा
खेचर
नील ध्वनि
दिशा स्वर
भू स्वर

(अन्तरिक्ष में अप्सराओं का गीत)

गाओ, जय गाओ!
ईश्वर का प्रतिनिधि नर,—
दिग्विजयी मानव पर
नन्दन वन के प्रसून
हँस हँस बरसाओ!

ओ विद्युत् बालाओ,
प्राणों की ज्वालाओ,
स्वर्ग मर्त्य मध्य स्वर्ण
सेतु नव बनाओ!

चन्द्रकला पंखों पर
अप्सरियो, उड़ निःस्वर
दिग् युग का सुरधनु स्मित
केतन फहराओ!

पृथ्वी का घटे भार,
उमड़े चैतन्य ज्वार
अयि अन्नत यौवन मयि,
नूपुर झनकाओ!

रजत-नील मुक्त व्योम
निकट शुक्र भौम सोम,
शोभा आनन्द प्रीति
लोक में जगाओ!

मादक नर - देह - गन्ध
दिशा हर्ष-मत्त अन्ध
मिले धरा-स्वर्ग, फूल
सेज नव सजाओ!

खुला ज्योति लोक द्वार
अन्तरिक्ष आर पार
भू-सुत करते विहार,
भुवन नव बसाओ!

(संगीत ध्वनि धीरे-धीरे अन्तरिक्ष में लय हो जाती है। मरुत और अप्सरा का क्षितिज में वार्तालाप।)

मरुत

धन्य, शब्द-गति, ज्योति-वेग को भी अतिक्रम कर
किस प्रवेग से छूट, आ रहा कौन अस्त्र यह ?
वायु बाण या अग्निबाण ? या दिशा-यान यह ?
या नूतन ग्रह उदित हुआ अब अन्तरिक्ष में ?...
सौर-चक्र की स्वर्णिम गतिलय में बँधकर जो
परिक्रमा करता पृथ्वी की—मुग्ध, चतुर्दिक्
विश्व नृत्य में मत्त—ज्योतिरिंगण-सा चंचल।

(प्रक्षेपास्त्र के उड़ने की ध्वनि)

कौन मूढ़ खग, दुःसाहसी प्रमत्त मनुज या
ढीठ पंख झुलसाने—गर्वित, दृष्टि गँवाने
भंग कर रहा शुभ्र शान्ति निःसीम नील की—
जहाँ अमर भी श्रद्धानत, निःशब्द विचरते,
अप्सरियाँ नूपुर उतार अभिसार स्थलों पर
आतीं जातीं—संकेतों से भाव प्रकट कर !...
नहीं जानता क्या वह, प्रहरी सूर्य दिशा का ?...

अप्सरा

अघटनीय यह,—कोई अमित नील को नापे !
प्रथम बार धरती के गुरु-आकर्षण से उठ
चढ़ता अलख अलंघ्य शृंग पर कोई भूचर !
थाह सिन्धु की लेता हाय, नमक का पुतला !...
कैसे ध्वनि संकेत गूँज नीहार लोक को
तड़ित् तरंगों में कम्पित करते !—सुनते हो ?

(ध्वनि-संकेत स्पष्ट होते हैं)

एक स्वर

कैसे हो तुम खेचर ? मैं धरती का स्वर हूँ !...

खेचर

जी, प्रसन्न हूँ,—गगनरंग मैं !—बोल रहा हूँ—
ठीक कार्य कर रहे यान के यन्त्र—यथाविधि—
अक्षत हूँ मैं !—दिशापाल अनुकूल दीखते !—

एक स्वर

कैसा लगता वहाँ ?

खेचर

न पूछो !—अद्भुत ! अद्भुत !

एक स्वर

दिङ् मण्डल के कुछ अनुभव बतला सकते हो ?

खेचर

रजत-नील प्रभ स्वप्न लोक में विचर रहा हूँ !
शुभ्र शान्ति के भाव मौन निःस्वर सागर में
डूब रही निःस्पन्द चेतना—भारहीन हो !
उच्च वायुओं की पवित्रता में अवगाहित
मन तन्मय हो रहा—निखिल का महत् स्पर्श पा !
भार मुक्त तन तैर रहा आनन्द राशि में !
सूर्यातप शत रत्नछटाओं में कँप सुन्दर
ताने स्वर्णप्रभ वितान गोलार्ध नील में !
हरित नील कन्दुक-सा दीख रहा भूगोलक !
आः, अति रोमांचक, रहस्यमय, महा दिशा का
निःस्वर नीलम मणि प्रसार यह ! —जहाँ धरा के
लघु जीवन संघर्ष लीन हो आरोहों में
अर्थहीन से लगते घन नीरव अनन्त में !—
यह अगाध, निर्वाक्, अकूल उदधि हो ! ···धरती
मात्र बाह्य जल-तल जिसकी—आवेग तरंगित !

एक स्वर

कैसा दीख रहा खगोल ? नक्षत्र, क्षितिज, भू ?

खेचर

बृहत् खगोल ? न पूछो, पुरुष पुरातन कोई
देख रहा अविचल, अनिमेष, समाधि मग्न-सा,—
रोम रोम में अपने शत ब्रह्माण्ड प्ररोहित,
ध्यानावस्थित-सा, असंग निःसीम शान्ति में !
स्वर्ण-हरित चेतना दिशा की सँजो हृदय में
प्रातः मणि आभा-सी लिपटी जो अनन्त में !

एक स्वर

आः, रोमांचक गाथा, निश्चय, अन्तरिक्ष की !
शून्य, चिदात्मा मूर्त—आत्म साक्षात्कार-रत !

खेचर

कृष्ण-नील मुख पर स्मित रत्नारुण रेखा-सा
खिंचा प्रकाश-क्षितिज, भू की स्वर्णिम-कांची-सा,
प्रभा-वृत्त हो अगणित छायाओं से विरचित ! ···
मुक्त प्रसार,—न किंचित् भी अवरोध सामने,
मात्र दृष्टि ही की सीमा—जो खो-खो जाती !
नील - आस्य पर महा हास्य भर उज्ज्वल तारे
जगमग करते चिद् दीपों-से नभ करतल में।—
रत्नखचित आँचल लिपटाये स्फीत देह पर
गर्भवती लेटी हो दिशा अनन्त कक्ष में,—
अन्धी, गान्धारी-सी, शत भुवनों की जननी ! ···
अग्निबीज हो लिये शून्य या निज मुट्ठी में

दिशा योनि को उर्वर करने नव लोकों से !

एक स्वर

लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाय न खेचर दिक् प्रमत्त हो !

खेचर

मुझे नहीं इसका भय ! —देख रहा धरती को
इन्द्रधनुष में लिपटी—मुग्ध अनन्त यौवना
नाच रही जो मुक्त उर्वशी सी असीम में !
देख रहे अपलक ज्योति ग्रह यौवन शोभा !
उड़ता गन्ध ग्रथित दुकूल रेशमी पवन का—
शस्य हरित चोली वक्षोजों के शिखरों पर—
झूल रहीं फेनोर्मिल नदियाँ कण्ठहार - सी—
लहराता लहँगा सागर का रत्न मणि जड़ा
धूप छाँह मय रश्मिद्रवित रंगों से गुम्फित !
नाच रही वह गिरि श्रृंगों के हाथ उठाये
नील मुक्ति में! —चित् प्रकाश से सद्य: वेष्टित!
देख रहा हूँ—भू के बहु देशों, राष्ट्रों को,
पार कर रहा महाद्वीप मैं पलक मारते—
स्मरण आ रहीं बहु विशेषताएँ देशों की
जन भू के वैचित्र्य भरे सुन्दर जीवन की !
याद आ रही सुहृदों की, स्वजनों की प्रतिक्षण
स्मरण कर रहे होंगे वे भी निश्चय मुझको !
सोच रहे होंगे मेरे अद्भुत साहस की
बातें,—मैं भी कहीं त्रिशंकु समान अधर में
लटक न जाऊँ—भटक न जाऊँ—लौट न पाऊँ !
चिन्तित होंगे—महत् शून्य का एकाकीपन
निगल न जाये कहीं, अकेला पाकर मुझको—
मनुज जाति से, गृह, स्वदेश से जो अब विरहित !
हँसते होंगे शत्रु—मोम के पंख लगाकर
सूरज से मिलने के मेरे दु:साहस पर,—
कहते होंगे—हाथ बढ़ाकर क्या बौना नर
पकड़ चन्द्र को लायेगा, करतल में धरकर ?
पर, मैं मानव अन्तर की आशाऽकांक्षा का
केवल प्रथम प्रतीक मात्र हूँ—जो अनादि से
शब्दहीन इस महानील के चिर रहस्य को
चीर, ज्योति स्वर-लिपि में अंकित, गुह्योच्चारित,
उसके बीजाक्षर मन्त्रों को पढ़ने के हित
चिर आकुल था—उसके ज्योतिर्मय आँगन का
अभ्यागत बनने को उत्सुक! —जयी आज नर !
दिग् दुन्दुभि घोषित करती मानव की जय को,
बज - बज उठतीं तारों की रुपहली पायलें—
पुष्प हार ले स्वागत करतीं मुग्ध अप्सरा

रश्मि पंख, शत सुरधनु छायाओं में लिपटीं ! ...
दिशा हस्तगत आज साहसी धरा पुत्र के !
दूर हुई दिग् गत बाधाएँ विश्व प्रगति की...
भू जीवन संयोजन की, मानव विकास की !

एक स्वर

धन्य जयी नर, धन्य जयी जीवन भू जन का !

खेचर

लो, मैं पृथ्वी की परिक्रमा पूर्ण कर चुका—
घूम समान्तर क्षितिज वृत्त के, दिशा-यान में !
अब धरती पर उतर, मातृ भू की पदरज को
चूम, नमन कर, अन्तरिक्ष के रजत-हर्ष को
माँ के चरणों पर अर्पित कर, जन जन में मैं
स्वर्ग श्वास भर दूंगा, गोपन अनुभव कह—
यह रहा उड़ाकू छत्र ?—अनिर्वचनीय, आह,
निःशब्द नील, निर्वाक् नील, निःसीम नील !—
(हठात् निर्वाक् निःसीम में गहन गम्भीर ध्वनि
उठती है।)

नीलध्वनि

ठहरो दिग्चर ठहरो,—भू की परिक्रमा कर
खोल नील का वातायन, तुम गर्व स्फीत हो
लौट रहे अब दिग् विजयी बनकर धरती पर !
झूठा अरुणोदय ले जाकर—मानवेन्द्र बन !
सुनो!—नील, निःशब्द नील,—मैं बोल रहा हूँ,—
मेरा ही गुण शब्द—मौन मुझमें तमन्य जो
कभी मुखर हो उठता वैश्व-नियम से अपने !—
क्या पायेगी मनुज जाति इस समदिग् जय से?—
माना, मंगल, चन्द्र, शुक्र में धरा पुत्र ने
विजय वैजयन्ती फहरा ली !—तो इससे क्या ?
तोड़ सकेगा मानव अन्धी लौह नियति को ?—
पीस रही जो उसे क्रूर निर्मम पाटों में !
देह प्राण मन में बन्दी कर दिव्यात्मा को,
भेद बुद्धि से शोषण कर हृत्पद्म ज्योति का,
जरा मृत्यु पंजों में निर्जर को दबोचकर,—
अहं-धूलि से अन्धा कर आलोक चक्षु को !

(गम्भीर ध्वनि प्रभाव)

सुन रे दिग्चर, महानील का उद्‌बोधन सुन !
तू मेरा सन्देशवाह बन भू-जन के हित,
आमन्त्रण ले जा मेरा—मैं महाकाल हूँ।
अभी काल पर जय पाना है धरापुत्र को।—
मैं उसको ललकार रहा हूँ !—खड़ा प्रतीक्षा में

मैं, स्वयं पराजित होने मानव के
हाथों से—मेरे ऊर्ध्व शिखर पर चढ़ वह निर्भय
पायेगा अपनी सार्थकता,--शान्ति, ज्योति,
आनन्द, प्रीति, सौन्दर्य अनश्वर,—अमृत-तत्त्व !
जा, ओ भूचर, तू मेरा सन्धि निमन्त्रण ले जा—
मैं रण के हित भी उद्यत हूँ—मानव चुन ले! ···
मैं प्रसन्न हूँ तेरे निष्फल दुःसाहस से,
बुद्धि-कुशल खोखले यत्न से !—अन्तरिक्ष के
भीतर अगणित अन्तरिक्ष हैं—आकाशों के
भीतर अमिताकाश सूक्ष्म, अति गुह्य, अगोचर,—
महाकाल का गूढ़ विधान दिशा-प्रांगण पर!
काल जयी बन! —आत्मजयी ही विश्वजयी भी!
बिना मेरु पर चढ़े, मात्र शाखा-मृग सा तू
ग्रह से ग्रह पर कूद, क्षितिज से फाँद क्षितिज पर
व्यर्थ करेगा क्या ? बाहर के जग में खोया,
नक्षत्रों की चकाचौंध में,—रिक्त परिधि जो !
तू ही सबका केन्द्र—केन्द्र ब्रह्माण्ड—विश्व का—
तेरे ही भीतर सूरज, शशि, ग्रह, उपग्रह सब !
आत्मवान्, तू धराधाम को बदल स्वर्ग में !
बाँध विविध भू देशों को नव मानवता में—
आज विरोधी शिविरों में जो बँटे हुए हैं !
भू - मन का तम मत ले जा तू अन्य ग्रहों में--
राग द्वेष, कटु घृणा कलह, निन्दा, प्रतिस्पर्धा !
नक्षत्रों की शुभ्र शान्ति को युद्ध क्षेत्र के
नारकीय कोलाहल में मत बदल व्यर्थ ही !

खेचर

(ससम्भ्रम)

गुह्य, पुरातन-तम स्वर फिर से सुन पड़ता है !

नीलध्वनि

अविनाशी हूँ मैं !—फिर तुझको जगत् चक्र में
पीसूँगा,—नव सृष्टि सँजोकर !—विश्व ध्वंस कर
लोक-प्रलय तू भले बुला ले,—तुझको फिर से
काल शिखर जय करना होगा—आत्म उन्नयन कर,
जन-भू पर मनुज-हृदय का स्वर्ग बसाकर !
दिक् प्रमत्त, विज्ञान शक्ति से बहिर्जगत की
रचना कर तू, आत्म ज्ञान से अन्तर्जग की,—
प्रेम-स्वर्ग रच मनुज हृदय में !—देह प्राण मन
हों कृतार्थ, आनन्द स्रोत में अवगाहन कर !
इन्द्रिय जीवन कुसुमित हो भू की शोभा में,—
अन्तः रस अभिषिक्त, बाह्य बन्धन से विरहित !
एकांगी भौतिक विकास से उन्मद भू-जन

मन्यु रुद्र का सहें ! —सत्य का मुख पहचानें ! ···
पथरा गयी विविध स्वार्थों में मनुज चेतना
गत मूल्यों, धर्मों, संस्कृतियों में शत खण्डित,
जाति-पाँति, वर्णों देशों में नग्न-विभाजित !
महत् खण्ड जब तक जन मन का प्रकृति वमन से
नष्ट न होगा—जन्म न ले पायेगा नूतन—
हृदय-स्वर्ग रचना सम्भव होगी न मर्त्य हित !
हुं—हुंकार रहा निश्चेतन प्रकृति गर्भ में—
गरज उठा, लो, अम्बर—टूट रहीं शत विद्युत् !

(मेघ गर्जन तथा वज्र निपात का घोर रव)

खेचर

गूढ़, पुरातन, रन्ध्रहीन अन्तर-ध्वनि उठती !
संकट क्षण, दिक् संकट क्षण यह ! —बुझी हुई
चिनगारी-सा, अह, बैठ रहा मन आत्म पराजित !
मात्र यन्त्र वत् कार्य कर रहे मन, तन, अवयव !
लगता है लड़खड़ा उठेंगे पग भू को छू !

दिशा स्वर

मा भैः, मा भैः ! मैं हूँ माता दिशा, काल को
अपने तन्मय उर में धारण करती हूँ मैं
मूर्तिमती प्रतिछाया उसकी ! —उतरो खेचर,
उतरो, मेरी बाँह पकड़कर, उतरो भू पर !
नयी दिशा दूँगी मैं मानव मन, भू-जन को ! ···
दिगभियान हो सफल तुम्हारा, तुम मानव को
महाकाल का नीलकण्ठ सन्देश दे सको !
रुद्र और शिव एक साथ जो, कारण के कारण,
निश्चेतन अतिचेतन के स्वामी, केवल !

खेचर

मातृ प्रकृति का आश्वासन यह ! —निर्भय हूँ मैं,
तुम्हें समर्पित कर मा, अपना तन-मन जीवन !

(सोल्लास)

दिखलायी पड़ता स्वदेश तट,—सद्यः जोते
खेतों की रज को सौरभ यह ! —उतर गया, लो,
मखमल-सी दबती पैरों के नीचे मिट्टी—
स्नेह स्निग्ध सौंधी सुगन्ध नासापुट में भर
पुलकित करती तन,—अम्बर की घन नीरवता
वंचित है इस इन्द्रिय दीपन मादन सुख से !
क्षितिज वृत्त अब सीमित होकर नव वसन्त के
स्मित पल्लव अधरों से मर्मर स्वागत करता—
नील मौन की चेतावनी नहीं भूला मन !
लगता, जड़ से भी पा सकता मन चेतन को,
यदि चेतन ही जड़ है तो जड़ भी चेतन है···

सत्य वही है,—दृष्टि मात्र बदली है केवल,
ज्ञान और विज्ञान एक ही तत्त्व सिखाते !—
कुहरा-सा हट गया, भेद खुल गया वस्तु का !
ज्ञान दीप्त विज्ञान पन्थ ही नया पन्थ है !
अन्य नहीं पथ, अन्य नहीं पथ, अन्य नहीं पथ,
खुला सर्व हित मात्र यही सामूहिक पथ है !—
देख रहा मैं मनोनयन से दिङ् मानव को,
लेटा हो वह महा दिशा में अर्धोत्थित तन,
अतल सिन्धु में चरण, जघन कटि उदर धरा पर,
हृदय स्वर्ग में, मस्तक त्रिदिव-क्षितिज से ऊपर !
जाग रहा वह ध्यान लीन भी, ध्यान हीन भी?
जय नव मानव की, जय नव विज्ञान-ज्ञान की,
भौतिक पथ से बढ़े साथ सामाजिक मानव
आध्यात्मिक, सांस्कृतिक लक्ष्य को—यही साध्य है,
यही सुलभ साधन !—पथ संकट उभय ओर हैं !

(जन कोलाहल का प्रभाव)

एक स्वर

देखो, देखो, गगन रंग वह, उतर रहा है !
अन्तरिक्ष का दूत,—उड़न छत्री खोले वह,
धरता धरती पर पग !

कई स्वर

स्वागत, स्वागत खेचर !...

एक स्वर

बिना लड़खड़ाये ही, लो, वह चला आ रहा !
खोल दिशा-मुख का अवगुण्ठन, चूम क्षितिज के
अरुण-रेख अमृताधर, भेद रहस्य नील का !

कई स्वर

स्वागत हे स्वागत, दिङ् मानव, व्योम जयी नर!
रुद्ध द्वार खुल गये धरा हित आज स्वर्ग के !

(नर-नारी का समवेत गीत)

अभिनन्दन, वन्दन हे !
पृथ्वी के हित खुला स्वर्ग का
स्वर्ण क्षितिज तोरण हे !
छाया पथ पर चल मानव रथ
देख रहा भूमा का इति अथ,
धरती के पुत्रों से शोभित
ग्रह-ग्रह का आँगन हे !
खुले रुद्ध भूजीवन बन्धन
जड़ की सीमा हुई समापन—

लगता शून्य अनन्त, सूर्य से
दीप्त, आत्म चेतन हे !
विश्व मुक्ति ही व्यक्ति मुक्ति पथ,
मानवता की तुम्हें हे शपथ,
दिग् युग रचना करो, एक हो
विश्व, एक भू-जन हे !
हो भौतिक सोपान स्वर्ग तक,
आत्म दीप्त अन्तर दृग अपलक,
भावों की शोभा में मुकुलित
हो इन्द्रिय जीवन हे !
प्राणों की चिर चंचल परियाँ
शुभ्र चेतना की अप्सरियाँ,
धरा-स्वर्ग रचना मंगल में
भरतीं आलिगन हे !
वन्दन अभिनन्दन हे !

युग पुरुष

पात्र

युगपुरुष
लक्ष्मी
शिबू भइया
प्रभा
यूसुफ़
मौसी
स्वयंसेवक
सेविकाएँ

[स्थान : गाँव के एक मध्य श्रेणी के परिवार के घर का बरामदा और आंगन।

नेपथ्य से उच्च स्वर में शंखनाद होने के बाद सुनायी पड़ता है—

यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत,
अभ्युत्थानम-धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् !
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्,
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे !

पुनः शंखनाद होता है और परदा फटता है। मंच में प्राय: मध्य में, कुछ बायीं ओर को, प्रभा और लक्ष्मी बैठी हुई हैं, उनसे कुछ हटकर शिबू भइया, हाथ पीछे की ओर किये, कुछ सोचमग्न-से होकर चक्कर लगा रहे हैं, और कभी-कभी ऊपर की ओर देख लेते हैं। लक्ष्मी रुई की पूनी बना रही है और प्रभा चरखा चला रही है। वह बार-बार कातने की कोशिश करती है, पर तागा फिर-फिर टूट जाता है।

परदे के फटते ही, दायीं ओर से, एक गठीले बदन का नाटा बूढ़ा किसान सिर पर छोटा-सा सुफेद गँवई साफा लपेटे, घुटने तक की धोती पहने, लाठी टेकता हुआ प्रवेश करता है, और मंच की दूसरी ओर बिलकुल सामने जाकर बैठ जाता है। वह लाठी को दायीं तरफ और बगल से तौलिये का पुलिन्दा निकालकर उसे दूसरी तरफ रखता है, वह बीच-बीच में कभी तौलिये से मुंह पोंछता, कभी गला खखारता, कभी विचारमग्न-सा, अपनी सुफेद मूंछों पर हाथ फेरता है तथा दो-एक बार आसन बदलकर चुपचाप बैठा रहता है। नेपथ्य से उसके आसपास, बदन से टकराकर, कुछ पीले पत्ते गिरते हैं।]

प्रभा : (अर्ध स्वगत) अम्मा को कुछ सूझता तो है नहीं !...न जाने कैसी पूनी बनायी है कि तार ही टूट जाता है !

लक्ष्मी : तार कैसे बंधे बेटा, कभी चरखा हाथ में लिया होता तब

ना ? इसी को कहते हैं—(**जोर से छीं, छीं,**···**छींकती है**)

प्रभा : (**हाथ की पूनी दूर छिटकाकर**) लो,···हाथ की पूनी तक उड़ गयी !···अम्मा, तुम इसी तरह छींकोगी तो हाथ ही की रुई क्या, एक रोज साऽरे हिन्दुस्तान की रुई उड़ जायेगी!

लक्ष्मी : (**मुँह के भीतर-ही-भीतर हँसती हुई**) कैसी बातें बनाना सीख गयी है !

प्रभा : (**आँखें मटकाकर**) सच अम्मा !·· तुम्हारे नज़ले से घबड़ाकर तो पेड़ों के पत्ते तक उड़ने लगे हैं !·· एक रोज सऽब पेड़ों में बस टहनियाँ ही टहनियाँ नजर आयेंगी !

लक्ष्मी : उँह !

प्रभा : जब पत्ते झड़ने लगते हैं माऽ, तो उसे पतझार कहते हैं··· और जब नयी कोंपलें आती हैं तो उसे बस-अन्त कहते हैं।

लक्ष्मी : (**उसकी बाँह पर खोंचा देकर**) बस-अन्त नहीं, वसन्त !

प्रभा : वसन्त ही सही !···तब माँ, कोयल बोलने लगती है··· कुहू ! कुहू ! (**खड़ी होकर**) बस, अब मुझसे नहीं काता जाता !

लक्ष्मी : यह लो, मुझे बातों में बहलाकर खुद भाग खड़ी हुई।···कामचोर !·· अभी तक चरखा कातना भी नहीं आया !···आ, बैठ !

शिबू : (**रूखे स्वर में**) क्यों नाहक उसे परेशान करती हो···चरखा चलाना कोई आसान है ?

लक्ष्मी : हाऽय···उसे सर पर चढ़ा लिया है। चरखा चलाना भी आसान नहीं···

शिबू : अगर आसान है, माँ, तो वह इतना आसान है कि सभी के लिए चरखा चलाना आसान नहीं है !···(**दर्शकों की ओर इशारा कर**) पूछती क्यों नहीं, इनमें से कोई चरखा चलाता है ?

[युगपुरुष गरदन घुमाकर शिबू भइया पर किंचित् तीव्र दृष्टि डालता है।]

प्रभा : (**शिबू से लिपटकर**) भइया !

नेपथ्य से

·· अरी ओ शिबू की माँ,···शिबू की माँऽ !

प्रभा : (**जैसे चौंककर**) अम्मा, मौसी आयी हैं !

लक्ष्मी : आयी चन्दो,···आयी ! (**रुई समेटती हुई अर्ध स्वगत**) जो चाहो भइया··करो ··इतनी सयानी लड़की हो गयी है··· कोई काम जाने है···न धन्धा ! (**कुछ नीचे स्वर में जल्दी से**) कोई काम जाने है··न धन्धा !

प्रभा : (**रुई बटोरती हुई**) अम्मा जब गुस्सा करती हैं तो हर एक बात को दो-दो बार कहती हैं। जैसे कोयल अपनी बोली दुहराती है, कुहू ऽ··कुहू !

लक्ष्मी : (**प्रभा का गाल पकड़कर खींचती हुई**) कुहू··कुहू !···इतनी बड़ी लड़की हो गयी है···मुँह चिढ़ाती है !···(**चादर के कोने**

बाँधती हुई) घर में कोई सयाना नहीं रहा, इसलिए ! ···
जब ससुराल जायेगी तब याद करेगी ! ··(खड़ी होकर)
शिबू ने अपनी सारी उमर जेल में काट दी ! ···अब स्वराज्य
लाया भी है तो किस काम का ? ···अभी तक बहन की भी
शादी नहीं कर सका।

नेपथ्य से

अरे, शिबू भइया हैं ?

प्रभा : **(उछलकर, और शिबू को टहलते देखकर)** यूसुफ़ भाई आये हैं ?

शिबू : **(अन्यमनस्क-सा)** कौन ? ···यूसुफ़ ! ···आओ, चले आओ !

लक्ष्मी : **(कपड़े का पुलिन्दा उठाकर चलती हुई)** प्रभू बेटी, जा, चरखा अन्दर रख आ !

प्रभा : नहीं मा, मैं कातना सीखूंगी। अभी तो तुम कहती थीं कि मुझे कुछ नहीं आता ! **(चरखे के पास जाकर बैठती है।)**

लक्ष्मी : चल, उठ,···मौसी से नहीं मिलेगी क्या ?

शिबू : **(जोर से)** हा-हा-हा-हा ! मा चाहती है प्रभा और यूसुफ़ की मुलाकात न हो ! हा-हा-हा ! छुटपन से तो दोनों साथ खेले हैं !

लक्ष्मी : **(विरक्त होकर)** मैं कुछ नहीं चाहती भइया, दस लोग दस बातें कहते हैं !

[यूसुफ़ का प्रवेश]

शिबू : आओ यूसुफ़, बैठो ! **(मोढ़ा देता है)**

यूसुफ़ : नमस्ते, अम्माजी ! **(मुसकुराकर)** अरे···प्रभा !

नेपथ्य से

शिबू की अम्मा ऽ, ओ शिबू की अम्मा !

लक्ष्मी : **(सिर हिलाकर)** जीते रहो भइया !

नेपथ्य से

अरे, मैं घर का काम छोड़कर आयी हूँ !

लक्ष्मी : आयी बहिनी···यह आयी ! **(प्रस्थान)**

शिबू : कहो भाई यूसुफ़, आज बहुत रोज बाद आये !

यूसुफ़ : **(बैठकर)** भइया, इधर लखनऊ चला गया था···आज ही तो सुबह घर वापस आया !

शिबू : हाँऽ, मैं तो भूल ही गया था !

यूसुफ़ : आप कुछ परेशान से लगते हैं, भइया !

शिबू : **(ठोड़ी पर हाथ फेरकर)** नहीं,···ऐसी तो कोई बात नहीं ! **(टहलता हुआ)** यही सोचता था, कि स्वराज्य पाने पर भी हम लोग स्वतन्त्र नहीं हो सके !

यूसुफ़ : धीरे-धीरे ही तो सुधार होगा, भइया !

शिबू : **(खड़ा होकर)** क्या सुधार होगा ? ···मैं शासन या अमन चैन की बातें नहीं कर रहा हूँ···मैं देख रहा हूँ कि देश आगे बढ़ने के बदले दो-तीन सौ साल पीछे चला जा रहा है।··· हममें जो खराबियाँ कभी पहले रही होंगी वे आज हमारे

भीतर फिर से अपना सर उठाकर हमारे राष्ट्रीय जीवन को बनने नहीं दे रही हैं। इतने गिरोहों, फिरकों में, इतने मतों और विचारों में···बल्कि इतने घरों और मूंडों में बँटकर आज हमारी राष्ट्रीय चेतना टुकड़े-टुकड़े हो रही है !···

यूसुफ़ : यह तो भइया, होगा ही ! जो बुराइयाँ हमारे भीतर आज तक दबी हुई थीं, वह एक बार बाहर आयेंगी ही।···और उनका कर्ज़ भी हमें चुकाना ही पड़ेगा ! ··हम धीरे-धीरे एक-दूसरे को नयी तरह से पहचानना सीखेंगे···और एक तरह से सीख भी रहे हैं ! (**प्रभा एकटक यूसुफ़ की ओर देखती है**)

शिबू : तुम तो हमेशा के ही आशावादी रहे हो ! ·· तुम सोचते हो हममें से किसी को कुछ करना धरना नहीं है···और विधाता के बनाये कुछ नियम—या इतिहास के कुछ नियम, अपने आप ही हमारे भीतर से कुछ काम कर देंगे।

यूसुफ़ : (**चरखे के सूत को उँगली में लपेटकर तोड़ते हुए**) कुछ इन्सान के बनाए हुए नियम काम करते हैं भइया,···कुछ विधाता के !

प्रभा : छिः यूसुफ भाई, आपने मेरा सूत तोड़ दिया !

यूसुफ़ : (**उसकी ओर देखकर**) कुछ सूत टूटने के लिए ही होते हैं ! ··· (**शिबू से**) अब इस प्रभा में तो इन्सान का बनाया हुआ कोई नियम काम करता नहीं ! ·· यह जैसे बिलकुल ही विधाता की बनायी हुई है !

प्रभा : (**सिर उठाकर**) और आप ?

यूसुफ़ : अरे, मैं तो दूर-दूर घूम-फिर चुका हूँ···बड़े-बड़े शहरों में रह चुका हूँ, जो इन्सान के बनाये हुए हैं ! तुम तो गाँवों से बाहर ही कभी नहीं निकलीं···हमेशा से विधाता के राज्य में रही हो !

प्रभा : (**होंठ मिलाकर सूत जोड़ती हुई**) तो आप इन्सान के बनाये हुए हैं इसीलिए इतने अच्छे हैं···और मैं विधाता की बनायी हुई हूँ, इसीलिए इतनी बुरी हूँ।

यूसुफ़ : (**नकारात्मक सिर हिलाकर**) मैंने तो ऐसा नहीं कहा।

प्रभा : (**सकारात्मक सिर हिलाकर**) कहा तो नहीं···लेकिन सभी बातें तो कहने की होती नहीं···कुछ समझने की भी होती हैं।

यूसुफ़ : मुझे तो बड़े-बड़े शहरों में भी तुम्हारी जैसी अच्छी लड़की नहीं दिखायी दी।

प्रभा : (**सहज दृष्टि से उसकी ओर देखकर**) अच्छा तो मुझमें ऐसी कौन अच्छाई है !

यूसुफ़ : तो यह कहो, तुम अपनी तारीफ सुनना चाहती हो।

प्रभा : सभी तो अपनी तारीफ सुनना चाहते हैं, क्यों शिबू भइया ! (**शिबू सिर हिला देता है**) यह जानकर कि मैं अच्छी हूँ···इन्सान अच्छा है··यह दुनिया अच्छी है···मन में कितनी खुशी होती है।

यूसुफ़ : अब यही तुममें एक अच्छी बात है।

शिबू : (जैसे विचार निद्रा से जगकर) यूसुफ़, अब जैसे तुम्हारा और प्रभा का सवाल है ! ···इसे किस तरह हल किया जाये कि साँप मरे, न लाठी टूटे ! ···कोई सूरत ही नज़र नहीं आती ! (**यूसुफ़ सिर झुका लेता है। प्रभा उत्सुक दृष्टि से शिबू की ओर देखती है**) सारा गाँव जैसे मन ही मन इन्तजार कर रहा है कि एक रोज कुछ जरूर होनेवाला है ! ···

यूसुफ़ : इस बात को भूल जाइए भइया ! ·· आप नाहक फ़िक्र में घुल-घुलकर अपना खून सुखा रहे हैं ! ···मैंने तो इसके बारे में सोचना ही छोड़ दिया है···और न कभी ख़्याल ही आता है। ···फिर, यह कोई आपके-मेरे बीच का तो मसला है नहीं ! ···यह तो सारी बिरादरी का···सारे गाँव का···और एक तरह से सारे देश का कुसूरवार बनना है···और फिर वह भी आजकल के जमाने में ! ···क्या किसी से कुछ छिपा है भइया ? ··· (**दृढ़ होकर**) ना, ना, यह नामुमकिन है···बिलकुल ही नामुमकिन ! (**प्रभा उसी तरह प्रसन्न दृष्टि से यूसुफ़ की ओर देखती रहती है, जैसे उसके कहने का उसपर कुछ असर ही न हुआ हो !**)

शिबू : (**भावुकता से बहकर**) जो बात नामुमकिन हो जाती है यूसुफ़, उसे हल करना और भी जरूरी होता है ! ···और फिर इस बात को भुलाने से ही क्या मैं प्रभा को भूल सकता हूँ ? यह क्या उसकी जिन्दगी का सवाल नहीं है···? उसकी खुशी का··· उस के सुख-दुख का··· उसके दिल के सारे अरमानों का? वह बाहर से भले ही सीधीसादी, भोलीभाली लगती हो, पर यह उसका घर का··· चार आदमियों के बीच का चेहरा हो सकता है! ··· हम सबको अपने केंचुए की चाल से आगे बढ़नेवाले समाज के भीतर रहना होता है,···हमारे भीतरी दुःखों पर, हमारे बिना जाने भी, एक नकाब पड़ा रहता है—फिर, इसमें उसका कुसूर भी क्या है ?—तुम दोनों छुटपन से साथ पले, साथ खेले, साथ ही बड़े हुए हो! और, हमारे घरानों के आज तक जैसे सम्बन्ध रहे हैं···तुम्हारे और मेरे वालिद में कितनी गहरी दोस्ती ···जैसा भाईचारा रहा है···उसमें यह अब, न जाने कैसे कब सम्भव और स्वाभाविक हो गया···आज उनकी आत्माएँ क्या सोचती हैं यह मैं नहीं जानता ! ······और तुम, तुम पढ़े-लिखे हो, सयाने और समझदार हो, तुम्हारे बारे में भी मैं कुछ नहीं सोचता ! ···लेकिन प्रभा ! क्या तुम उसे नहीं जानते वह जिस तरह ढल चुकी है, ढल चुकी है ! ···उसे अब कोई बदल सकता है ?—(**यूसुफ़ की आँखें एक बार खुशी से चमक उठती हैं, लेकिन वह शीघ्र ही शान्त और गम्भीर हो जाता है**)··· तुम्हीं तो अभी कहते थे कि वह विधाता की बनायी है।

यूसुफ़ : भइया, भइया ! (**दोनों हाथों से मुंह ढांप लेता है**) आपसे कुछ भी छिपा नहीं है ! मैं भी दिन-रात प्रभा ही के बारे में सोचा

करता हूँ ! ···इसी परेशानी में एक शहर से दूसरे शहर भटकता फिरता हूँ ! लेकिन इसके रंज का ख्याल घटने के बदले और भी बढ़ता जाता है ! **(सिर झटकता है)** ओफ, इन महीनों में गंगाजी में जितना पानी नहीं बहा, उससे भी ज्यादा हमारे देश में खून बह चुका है ··लेकिन प्रभा ! इतनी नफ़रत···इतनी लूटमार·· इतने आँसू···इतने धुएँ के बादल! इतने बड़े जुल्म और हैवानियत की आँधी, जैसे इसे हिलाये बिना ही इसके ऊपर से निकल गयी! जैसे बादल चाँद को नहीं छुपाते, उनको हटाकर वह और भी चमकने लगता है, वैसे ही प्रभा के भीतर, गाँवों की लहलहाती हुई हरियाली में पला हुआ इन्सानियत का ख्वाब अपने मुहब्बत के पंख फैलाकर इस जमाने के जुल्मों को अपने में छिपाये हुए है !

शिबू : **(जल्दी-जल्दी चक्कर लगाता हुआ)** मैं उसका भाई हूँ— भाई का भी कुछ फर्ज होता है। ··नहीं, यह भाई का ही फर्ज नहीं, यह इन्सानियत का भी तकाजा है ! ·· ये सब ठण्डे दिल से समझने की बातें हैं ! ···हमें आज अपने को समझना और समझाना होगा ! ···एक जमाने का नक्शा होता है, एक इन्सानियत की पुकार—दो इन्सानों की जिन्दगी का सवाल ! ···अपने आप मिले हुए दो दिलों का स्वर्ग ! ···एक ओर व्यक्ति है, एक ओर समाज ! ···एक ओर मनुष्य के हृदय की सच्ची, सनातन, पवित्र भावना है, दूसरी ओर मिटती हुई पिछली दुनिया के मजहबों, कौमों, नीतियों और चलनों का आपका विरोध और झगड़ा।···एक ओर ईश्वर का संकेत, दूसरी ओर आदमी के घमण्ड की हुंकार...एक ओर है अहिंसा, सत्य का आत्मबल, दूसरी ओर मक्कार, फरेब और जुल्मों की ताकतों का मोर्चा ! ···एक ओर है बड़ी इन्सानियत का बढ़ता हुआ ख्वाब जो कल की रोशनी में आकर हकीकत बन जायेगा, और दूसरी ओर है छोटे आदमी की छोटी दुनियादारी का टिमटिमाता हुआ चिराग, जो कल अन्धकार में बुझ जायेगा ! ··· **(खड़ा होकर)** नहीं, यह प्रभा और यूसुफ़ का सवाल नहीं है। यह है दो जीती-जागती कौमों के दिलों की धड़कनों को मिलाने और उन्हें एक बड़ी जिन्दगी के सुरों में बाँधने का सवाल ! आज भीतर से आनेवाली एक नयी रोशनी, एक नयी जिन्दगी की सुबह को मुर्दों के खड़े किये हुए नफरत और अँधियाले के पहाड़ रोक रहे हैं··· **(सामने देख कर)** मुझे अपना रास्ता साफ दिखायी देता है।

यूसुफ़ : **(जैसे उसकी रूह हिल उठी हो)** नहीं भइया, ऐसा नहीं होगा, ऐसा कभी नहीं होगा।···यह गाँव का, देश का, या इन्सानियत का सवाल नहीं है ! यह है सबके पहले, सीधा-सादा, अम्मा का सवाल ! ···अम्मा सब कुछ समझने पर भी इसे नहीं समझ सकेंगी। ··यह उनकी बरदाश्त के बाहर है ! उनकी कमर ही टूट जायेगी···उनका दिल टुकड़े-टुकड़े

हो जायेगा ! वह इसके बाद एक रोज भी नहीं जीती रह सकतीं। भइया, यह महज कौमों या मजहबों के लिए रास्ता बनाने का सवाल नहीं है—यह है, कब, किस हद तक आगे बढ़ा जाये... जमाने को किस तरह अपने साथ लिया जाये—इसका सवाल ! आज हमें अपने देश के लिए कड़वी से कड़वी घूंट को भी स्वादिष्ट और मीठी बना देना है !...यह तभी हो सकता है जब हम समाज और व्यक्ति दोनों की कठिनाइयों को ठीक-ठीक तौल सकें और उनकी मुसीबतों का अन्दाज लगाकर उन्हें नयी जिन्दगी के ढाँचे में बिठला सकें। क्योंकि बहुत मुमकिन है कि राह बनाने के बदले हम खाई ही खोद बैठें !

[युगपुरुष समर्थन करते हुए सिर हिलाता है]

प्रभा : (**चरखा रोककर**) सुनती हूँ, यह धरती बराबर घूमती रहती है...यह ठीक ही होगा।...लेकिन यह धरती जो सदा थिर और अचल लगती है, यह भी कैसे गलत हो सकता है ?... जब हर वक्त नाचती हुई धरती थिर रह सकती है तो सभी तेज रफ्तार से बढ़ती हुई चीज़ें धरती का सौम्य धीरज अख्तयार कर सकती है...और सभी रुकी हुई तड़क-भड़क के साथ न बढ़नेवाली चीजें भी, आगे बढ़ सकती हैं !

नेपथ्य से (ऊँचे स्वर में)

नहीं जीजी, भला मैं ऐसा क्यों सोचूंगी ? राम, राम ! मैं क्या प्रभा और यूसुफ़ को नहीं जानती ? और फिर तुम ऐसा क्यों होने दोगी ? ऐसा कभी हुआ भी है ? अच्छा, अब जाती हूँ...तुम मेरी बातों का ख्याल रखना !

लक्ष्मी का स्वर :

अच्छा चन्दो, जिओ, बहिन, जिओ !

[लक्ष्मी को आते देखकर शिबू अपनी खादी की टोपी को यूसुफ़ की तुर्की टोपी से बदल लेता है। लक्ष्मी का प्रवेश]

लक्ष्मी : (**प्रभा की ओर देखकर**) सिर पर पल्ला क्यों नहीं देती !... (**प्रभा सिर ढक लेती है। लक्ष्मी आगे बढ़कर और यूसुफ़ को शिबू समझकर**) बेटा, चन्दो गंगा पार से महेश के साथ प्रभा की शादी का पैगाम लायी है।...महेश की चाची ने प्रभा को नहान में देखा था, उन्हें लड़की पसन्द आयी !... लड़का तो अच्छा है बेटा, खेती-बारी वैसे मामूली-सी है, लेकिन घर अच्छा है ! तुम्हें तो सब मालूम ही है, तुम्हारा क्या ख्याल है भइया !

यूसुफ़ : (**कुछ झिझकता हुआ**) यह तो बड़ी अच्छी बात है अम्मा ! महेश बहुत ही अच्छा लड़का है।

लक्ष्मी : जीते रहे बेटा, मैं तो तुम्हारे ही डर से हामी नहीं भर सकी...

शिबू : (टोककर) खाक अच्छा है ! ···अभी कल तक तो गाँव-भर में प्रभा के बारे में न जाने क्या-क्या कहता फिरता था।··· १६४२ के आन्दोलन में देशभक्ति का उबाल आया तो दूसरे ही रोज सरकार से मुआफी माँगकर जेल से घर भाग आया !

लक्ष्मी : (इधर-उधर देखकर शिबू को यूसुफ़ समझती है) तुमसे तो मुझे ऐसी आशा नहीं थी, भइया ! तुमको तो मैंने हमेशा से अपने बेटे की तरह माना है ! (यूसुफ़ की ओर इशारा कर) शिबू और तुम जैसे एक ही कोख से पैदा हुए हो !

शिबू : मैं भी तो तुम्हारे बेटे ही की तरह कह रहा हूँ अम्मा, मैं इस सम्बन्ध को नहीं होने दूंगा !

लक्ष्मी : हाऽय,···चन्दो का कहा ठीक निकला ! (शिबू की ओर पीठ फेर लेती है) मैं अपनी ही सिधायी से ठगी गयी !

[प्रभा मुंह छिपाकर हँसती है]

(यूसुफ़ से) तो शिबू बेटा, तुझे लड़का पसन्द है ना ?

शिबू : पसन्द ? ···फिर वही बात ! ···मैं कहता हूँ प्रभा को गंगा पार देने के बदले, उसके गले में घड़ा बांधकर उसे गंगाजी में डाल देना अच्छा है !

लक्ष्मी : (गुस्से से) चुप रह ! ···तू कौन होता है मेरी सन्तान के बारे में मुँह से बुरी बात निकालनेवाला ! इसी को कहते हैं आस्तीन का सांप ! (प्रभा से) जा, अन्दर जाकर बैठ ! ···तेरे लिए क्या कहीं और जगह नहीं है ? (प्रभा उठती है। यूसुफ़ से) बेटा, तो मैं चन्दो के घर जाकर बात पक्की करवा आऊँ ?

यूसुफ़ : (हँसता हुआ) मैं तो पहले ही कह चुका हूँ अम्मा, (उठकर) आप चाहें तो मैं खुद चन्दो मौसी के यहाँ हो आऊँ।

लक्ष्मी : बहुत अच्छा हो बेटा ! तुम खुद ही गंगा पार जाकर बात पक्की कर आओ ? (धोती के कोने से आंसू पोंछकर) तुमने मेरी छाती पर से जैसे आज चक्की का पाट उठा लिया, जो उसे दिन-रात पीसा करता था ! ···आज तुम्हारे पिता होते तो···(रोने लगती है) आज तुम्हीं लोग हो बेटा ! ··· तुम लोग फूलो-फलो ! (आँखें पोंछकर, इधर-उधर देखकर) प्रभा, बेटी (उसे शिबू के पास, जिसे वह यूसुफ़ समझती है, खड़ी देखकर) हाऽय···इसने तो मेरे मुँह पर तमाचा-सा मार दिया है ! (उसका हाथ झटककर) क्या तूने सब लाज धोकर पी डाली है ? क्या तू इस घर का मान-धरम मिट्टी में मिलाना चाहती है ? ···अपने पुरखों को नरक में ढकेलना चाहती है ? ···हे भगवान, मेरे ऐसे कौन से पाप उदय हुए···जो आज यह दिन देख रही हूँ।···

शिबू : (खड़ा होकर) इसे कहते हैं रस्सी में सांप देखना।··· (अपनी और यूसुफ़ की टोपी उतारकर) अब देखो ! ···जिन

बनावटी बातों की वजह से हमारी असलियत छिप जाती थी और हमारी इन्सानियत में परदा पड़ जाता था···वह हमने उतार दिये ! ···अब हम खासे इन्सान लगते हैं ना ?···

[युगपुरुष प्रसन्न दृष्टि से उन दोनों की ओर देखता है और लक्ष्मी कभी शिबू और कभी यूसुफ़ की ओर देखती है]

शिबू : (लक्ष्मी को हक्का-बक्का देखकर, जोर से) हा - हा - हा-हा !

लक्ष्मी : (उसकी हँसी पहचान कर) छिः बेटा, ऐसे मौके पर भी तुझे हँसी-मजाक सूझता है !

शिबू : मज़ाक मुझे सूझता है माँ कि तुम्हें ? अभी बेचारे यूसुफ़ को नाहक भला-बुरा कह दिया। और जा रही थीं लड़की को भेड़िए की माँद में झोंकने !

लक्ष्मी : (संयत स्वर में) यह तो मैं पहले ही से जानती थी बेटा, पहले ही से जानती थी। (यूसुफ़ से) यूसुफ़ बेटा, मेरा कहा-सुना मुआफ़ करना !

यूसुफ़ : इसमें आपका क्या कुसूर अम्मा···यह सब तो शिबू भइया की शैतानी थी !

शिबू : देखो, अम्मा, अब कभी प्रभा की शादी की बात मत चलाना! ···नहीं तो यूसुफ़ से ही नहीं, सारी दुनिया से भी मुआफी माँगने पर तुम्हारा पाप नहीं धुलेगा···(गम्भीर स्थिर स्वर में) मैंने निश्चय कर लिया है कि प्रभा की शादी नहीं होगी। ···प्रभा और यूसुफ़ जैसे अनेक युवक-युवतियों के आत्म-बलिदान की ज़रूरत आज हमारे देश को है।··· उन्हें अपने हृदय का रक्त-दान देकर, खून की कमी से मुर्दादिल, आज की बीमार मनुष्यता में नया जीवन भरना है। धर्मों और सम्प्रदायों के झगड़ों से ऊपर, राज-नीतिक-आर्थिक कोलाहल से परे, पुराने अन्धविश्वासों और चलनों के घेरे को लाँघकर—जो एक नया आदमी, एक बड़ा इन्सान—आज मनुष्य के भीतर जन्म ले रहा है—उसमें इन्हें—आपस के घृणा-द्वेष को भुलाकर—नये प्राणों का संचार करना होगा ! ···यही आज हमारे भीतर से उठनेवाली संस्कृति की पुकार है।··· (युगपुरुष लाठी को ठक से मंच पर मारता है) क्यों यूसुफ़, तुम क्या कहते हो ?

यूसुफ़ : (गद्गद स्वर से) भइया, आपने मेरे मुँह की बात छीन ली ! मैं कहता हूँ आज हमें गाँवों ही में क्या कुछ कम काम करना है ? ···गाँवों की सफाई का इन्तजाम है। ···जनाने-मर्दाने अस्पताल खुलवाने हैं, बच्चों की शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध है। खेतों की पैदावार बढ़ानी है, गाँवों के उत्सवों और त्योहारों को सँवारना है। जनता के नाच-गानों और भूले हुए कला-कौशल को जगाना है। और भी बीसियों काम हैं। मैं कहता हूँ, क्या यहाँ की इन्सानियत अशिक्षा के अन्धकार

में और गरीबी के दलदल में हमेशा यों ही घिनौने कीड़ों की तरह रेंगती रहेगी ?

शिबू : तब ठीक है ! प्रभा के हृदय को मैं जानता हूँ। यही आज के युगपुरुष की इच्छा मालूम देती है ! (**वृद्ध तीन बार ठक-ठक-ठक लाठी से आवाज करता है**) आज जो युगपुरुष मनुष्य के भीतर से कदम बढ़ा रहा है, वह समुद्र में तैरते हुए बरफ़ के उस भारी चट्टान की तरह है जिसका सबसे बड़ा भाग अभी हमारी चेतना की गहराई की तहों के नीचे तैर रहा है। हम जो कुछ देख रहे हैं यह उसका सबसे छोटा ऊपरी हिस्सा भर है। · आगे की पीढ़ियाँ उस युगपुरुष की विराट महानता को अधिक पहचान सकेंगी।···उनकी आँखों के सामने नवीन मानवता के प्रकाश से जगमगाता हुआ उसका ज्योतिर्मय स्वरूप धीरे-धीरे नाचने लगेगा। तब आज के धर्म, नीति, सत्य, मिथ्या के वाद-विवादों में खोये हुए, रोटी के टुकड़े के लिए मोहताज, हृदय और मन की भूख से घायल, इस ठिगने, बौने, बिना रीढ़ के पुतले के बदले हम धरती पर आनेवाले, चौड़े सीने के, संस्कृत और अहिंसक मनुष्य को चलता-फिरता देखेंगे ··जिसके भाल पर मनुष्यमात्र का गौरव झलकता होगा···जिसका धर्म मानव-प्रेम और जीवन सुन्दरता का आनन्द होगा।···

[युगपुरुष लाठी हाथ में लेकर उठने को तैयार होता है]

प्रभा : (**ताली बजाकर**) अहा, भइया, तब कितना अच्छा होगा। वह गाँवों और शहरों के बीच की एक नयी ही दुनिया होगी जहाँ सादगी और सच्चाई के साथ शिक्षा, सफाई और सुन्दरता भी मिलकर दूर तक फैली हुई खेतों की हरियाली पर जाड़ों की धूप की तरह हँसती हुई आज की जिन्दगी का चेहरा ही बदल देगी !

शिबू : अम्मा, मैं और यूसुफ़ तो हमेशा से सगे भाइयों की तरह रहे ही हैं, आज से वह तुम्हारा भी सगा बेटा हो गया।···

लक्ष्मी : बेटा, मैंने तो हमेशा ही तुम दोनों को सगे भाइयों की तरह और यूसुफ़ को अपनी कोख के बेटे की तरह माना है। (**आंखें पोंछती हुई**) मैं भगवान की इस दया को कैसे भूल सकती हूँ जिसने मेरे छोटे-से आँगन को धरती के बराबर बना दिया ! (**प्रभा से**) प्रभा ! बेटी ! ···

[लक्ष्मी के इधर-उधर शिबू और यूसुफ़ खड़े हैं, बीच में लक्ष्मी प्रभा को गोदी से चिपकाकर जोर से सिसकने लगती है। परदा एक बार मिलकर फिर फटता है। मंच के दोनों ओर से दो स्वयंसेवक और स्वयंसेविकाएँ दो बार 'महात्मा गाधी की जय' कहते हुए प्रवेश करते हैं]

स्वयंसेवक-सेविकाएँ : शिबू भाई, आज स्वतन्त्रता दिवस है।...चलिए, अब उत्सव का समय हो गया।...

शिबू : आओ भाई, पहिले हम अपने ही घर में आज अपनी स्वतन्त्रता मनाएँ!

[नेपथ्य से बांसुरी की ध्वनि आती है। एक ओर लक्ष्मी, प्रभा, दो स्वयंसेविकाएँ कमर में हाथ डाले, दूसरी ओर शिबू, यूसुफ़ और दो स्वयंसेवक कन्धों पर हाथ डाले, आगे-पीछे कदम रखते हुए गाते हैं]

लहलहे धान के खेत सजन लहरावें,
रुपहली सुनहली बाल नयन ललचावें!
फूलों की रँग-रँग रँगी चूनरी भाये
अब जन धरणी जन घरनी बन मुसकाये!
आओ युग-युग के बैर कुभाव मिटायें,
सब मिल स्वतन्त्रता दिवस मनायें, गायें!

[शिबू, यूसुफ़ और स्वयंसेवक गाते-गाते पीछे हटकर वृद्ध को सहारा देकर उठाते हैं। दोनों गिरोह गाते हुए उसे मंच के मध्य तक पहुँचाकर दोनों ओर अदृश्य हो जाते हैं, वृद्ध मंच के मध्य में अकेला खड़ा हाथ जोड़कर दर्शकों को प्रणाम करता है। परदा गिरता है।]

छाया

पात्र-परिचय

सुनीता : मध्यवर्ग की एक युवती
सतीश : उसका स्नेही सखा
विनय : सुनीता का छोटा भाई
सुनीतिकुमार : सुनीता के पिता

स्थान : सुनीतिकुमार के घर का सामने का एक भाग।

निर्देश : [यवनिका उठती है। मंच के एक चौथाई हिस्से में सुनीतिकुमार के घर का बरामदा ग्रौर तीन चौथाई हिस्से में उनकी बैठक के कमरे का दृश्य दिखायी देता है। मंच के ग्रन्तिम छोर पर बरामदे में सीमेंट के दो खम्भे, सामने की दीवार में बैठक में प्रवेश करने के दो दरवाजें, जिनमें परदे पड़े हैं। दायीं ग्रोर की दीवार में भी दो दरवाजे हैं। ग्रागे का दरवाजा विनय के कमरे का ग्रौर पीछे का सुनीता के कमरे का है। पीछे की दीवार पर एक सादा परदा पड़ा हुग्रा है जिससे मंच का एक-तिहाई हिस्सा छिपा रहता है, जो छायाभिनय के काम में लाया जा सकता है। परदे पर युगनारी की एक निश्चल, धुंधली-सी बृहदाकार छाया झूल रही है।

नेपथ्य से जल्दी-जल्दी सीढ़ियों पर चढ़ने की ग्रावाज ग्राती है ग्रौर सतीश मंच की बायीं ग्रोर के बरामदे में प्रवेश करता है; उसी समय बैठक के दूसरे दरवाजे से सुनीतिकुमार भी बाहर निकलते हैं। सतीश लम्बे छरहरे बदन पर सफ़ेद खादी का कुर्ता-पायजामा पहने तथा रिमलैस ऐनक लगाये हुए है, सुनीतिकुमार जो केवल जाँघिया ग्रौर कमीज पहने हैं, वयस प्राप्त होने पर भी स्वस्थ तथा रोबीले लगते हैं। वह सतीश पर एक तीक्ष्ण दृष्टि डालकर तेजी से बाहर की ग्रोर जाते हैं। सतीश का शरीर उन्हें देखकर ग्रपने ग्राप तन जाता है, उसके हाथ उन्हें नमस्कार करने को हिलकर रह जाते हैं : सुनीतिकुमार तीन-चार कदम ग्रागे बढ़कर सतीश की ग्रोर घूमकर देखते हैं। ग्रभ्यासवश ही वह उन्हें नमस्कार करता है। सुनीतिकुमार जल्दी से लौटकर सतीश से हाथ मिलाते ग्रौर उसकी ग्राँखों में स्नेह-प्रसन्न दृष्टि डालकर मुस्कराते हैं। सतीश उनकी मुस्कराहट से कुछ झिझकता हुग्रा नजर ग्राता है। सुनीतिकुमार ग्रावाज देते हैं : 'सुनीता, ग्ररी सुनीता, तुम्हारे सतीश भइया ग्राये हैं!' वह सतीश का हाथ पकड़े हुए उसी तरह मुस्कराकर कहते हैं, 'ग्रन्दर जाग्रो, ···सुनीता ग्रन्दर ही है।' दोनों क्षण-भर हाथ पकड़े खड़े रहते हैं, सुनीतिकुमार के मुख का भाव धीरे-धीरे कड़ा पड़ने लगता है, ग्रौर जैसे उन्हें सतीश के मन का धक्का लगा हो, वह तुरन्त उसका हाथ छोड़कर—'मैं जरा सिविल-लाइंस हो ग्राऊं', कहते हुए, बिना उसकी ग्रोर देखे जल्दी से सीढ़ियाँ उतरकर चले जाते हैं। सतीश ग्रन्यमनस्क भाव से परदा

हटाकर बैठक के अन्दर प्रवेश करता है। उसी समय विनय भी हाथ में 'इलस्ट्रेटेड वीकली' लिये अपने कमरे से निकलकर सतीश का स्वागत करते हुए प्रसन्नतापूर्वक कहता है : 'आइए, आइए !' सतीश कमरे में इधर-उधर दृष्टि दौड़ाता है, जैसे एक ही महीने में यह कमरा उसके लिए अपरिचित-सा हो गया हो। विनय उसी तरह सहज भाव से कहता है, 'बैठिए, सुनीता अभी आती है।' वह कुर्सी से आधा बुना हुआ 'पुलओवर' उठाता है। सतीश खीझ और विरक्ति से से भरा हुआ एक ऊँची पीठ की कुर्सी पर बैठ जाता है और कुर्ते की जेब से रूमाल निकालकर अपना दायाँ हाथ पोंछता है, जैसे उस पर सुनीतिकुमार के मन की छाप पड़ गयी हो।]

बिनय : (**उसकी ओर देखकर स्वभाववश मुस्कराता हुआ**) अच्छा, आपने भी अब कुर्ता पायजामा अपना लिया है ? (**वह हल्की नीली सर्ज की पतलून और उससे मिलते-जुलते रंग की शर्ट पहने हुए है।**)

सतीश : (**अपने कपड़ों की ओर देखता हुआ धीरे-धीरे संकोच तथा हिचकिचाहट से बाहर निकलकर**) हाँ; मैं ही बाहर से प्रभाव से कैसे बच सकता हूँ ! (**परिहासपूर्वक**) हमारा देश-प्रेम हमसे जो कुछ न कराये, वह कम है। (**पायजामे के पायचों और चप्पलों को देखता हुआ गम्भीरतापूर्वक दोनों हाथ फैलाकर कहता है**) अपने चारों ओर तुम जो कुछ देख रहे हो यही हमारा मन है !...ये गन्दी गलियाँ... मधुमक्खी के छत्ते की तरह सटे हुए शहर के छोटे-बड़े बेसिलसिले मकान...हमारे देश का तरह-तरह का बेढंगा पहनावा ...रागद्वेष से भरे जीवन से ऊबे हुए लोगों के छोटे-मोटे घिनौने काम...यही सब हमारे सदियों से असंगठित देश का बिखरा हुआ मन है ! सब कुछ बेतरतीब।...सन्तुलन और सामंजस्य से हीन !...इस सबके ढेर-ढेर प्रभाव से बचना क्या आसान है ?

विनय : (**पास की कुर्सी पर बैठा, 'इलस्ट्रेटेड वीकली' के पन्ने उलटता हुआ सशंकित दृष्टि से सतीश की ओर देखकर**) हाँऽऽ..., —लेकिन आप सोचते हैं, कुर्ता-पायजामा हमारा राष्ट्रीय पहनावा बन सकता है ?

सतीश : (**कुर्सी की पीठ से सटकर दोनों हाथों से कुर्सी की बाँहें पकड़ता हुआ**) मैं यह नहीं जानता...मैं केवल प्रभाव की, सामाजिक प्रभाव की बात कह रहा हूँ। आजकल कुर्ते-पायजामे का ही चलन चल पड़ा है। वैसे हिन्दोस्तान जैसे गरम देश के लिए...

सुनीता : (**जो अपने कमरे में शृंगार मेज के सामने जल्दी-जल्दी बाल बना रही है**) भारत कहिए, भारत...यह हिन्दोऽस्तान आप के मुँह से अच्छा नहीं लगता ! (**उसकी हँसने की आवाज सुनायी देती है।**)

सतीश : (**हँसता हुआ**) भारत ही सही! ...भारत जैसे हमारे उष्ण-प्रधान देश के लिए हैट और जाँघिया के तरह की कोई पोशाक अधिक उपयोगी होती। लेकिन हमारी जनता के पहनावे से वह आज मेल नहीं खाती और हम जनता के लिए बड़े पैमाने में हैट, कमीज या जाँघिया नहीं तैयार कर सकते।

विनय : (**एकाएक हँसता हुआ**) और शायद कुर्ते-पायजामे कर सकते हैं ?

सुनीता : (**मन-ही-मन वाग्युद्ध की आशंका से घबड़ाकर**) बेचारे! ...जनता की धजा के पीछे हाथ धोकर पड़े हैं! ...विनय का सीधा-सादा मतलब यह है कि आपको सूट अच्छी लगती है, आप कुर्ता-पायजामा न पहनें।

विनय : (**अपनी बात के स्पष्टीकरण से खीझकर**) तुम वहीं से... बिना देखे ही कैसे कह सकती हो ?

सतीश : (**तर्क को समाप्त करने के अभिप्राय से जोर से हँसता हुआ**) नहीं, नहीं! मेरा ऐसा कोई भी अभिप्राय नहीं। (**दोनों हाथ पीछे की ओर घुमाकर कुर्सी की पीठ पकड़ता हुआ**) मैं तो शुरू से तुमसे केवल प्रभाव की बात कह रहा हूँ। आज-कल कुर्ते-पायजामेवालों के साथ मेरा अधिक हेलमेल है... कल तुम्हारी तरह के सूट-बूट के पुजारियों के साथ रहना पड़े तो शायद फिर से सूट पहनने लगूँ! ...यह फिर प्रभाव की बात हुई!

विनय : (सिर हिलाकर) हाँ... (**क्षण-भर रुककर**) लेकिन क्या यह आपकी कमजोरी नहीं है कि आप इतनी जल्दी प्रभावित हो जाते हैं! (**वह अपने कहने के ढंग से स्वयं सशंकित होकर सतीश की ओर देखता है।**)

सतीश : (**गम्भीर होकर**) मैं अपनी बात नहीं कहता। मैं कहता हूँ समाज में निन्यानबे प्रतिशत आदमियों के लिए क्या बात सही है—इसे चाहे तुम उनकी दुर्बलता कहो या शक्ति...पर सामूहिक प्रभाव भी एक प्रबल सत्य है!

विनय : (**तर्क के स्वर में**) मैं केवल आपकी, व्यक्तिगत बात पूछ रहा हूँ!

[इसी समय सुनीता अपने कमरे के दरवाजे के पास खड़ी परदे से मुख दिखलाकर कहती है: "अभी आती हूँ!" और मुस्कराकर अन्दर चली जाती है। सतीश उसकी ओर देखता है। उसके मुख पर सुनीता की प्रसन्नता बरबस झलक उठती है। वह सुस्थ होकर कुछ आगे की ओर झुककर कहता है।]

सतीश : (**सुनीता को देखने के बाद अपने जीवन में उसके प्रभाव का अनुभव कर**) और हाँ, कुछ व्यक्तिगत प्रभाव भी बड़े गहरे और चिरस्थायी होते हैं।

विनय : (**सतीश से समझौता करने की चेष्टा में अज्ञात व्यंग्यपूर्वक**)

जैसे गांधीजी का प्रभाव !

[सुनीता जल्दी से आकर मुस्कराती हुई सतीश के पास खड़ी हो जाती है। सतीश उठने का प्रयत्न कर उसे नमस्कार करता है। सुनीता हँसती हुई हाथ जोड़कर नमस्कार का प्रत्युत्तर देती है। विनय उठकर बिजली का बटन दबाता है, कमरा प्रकाश से भर जाता है। सुनीता काला ब्लाउज और नारंगी रंग की साड़ी पहने है जो उसके रक्तिम गौर-वर्ण पर बहुत फबती है। वह अत्यन्त प्रसन्न जान पड़ती है।]

सुनीता : (**खड़े-खड़े**) आप आज बहुत दिनों बाद आये सतीश भइया ·· मैं सोच रही थी, आप कहीं नाराज न हो गये हों।

सतीश : (**स्निग्ध हास्यपूर्वक**) क्यों ?

[परदे पर पड़ी स्त्री की छाया अधिक स्पष्ट होकर सौन्दर्य भंगिमा करती है।]

सुनीता : (**धीरे-धीरे गम्भीर होती हुई, आँखें नीचे कर**) क्यों नहीं ? ···आप इतने रोज गायब रहे ! ·· मुझे आप पर मन-ही-मन बड़ा गुस्सा आ रहा था ! ···

सतीश : (**आश्चर्यपूर्वक**) अच्छा ?··· (**फिर मन-ही-मन सँभलकर किंचित् व्यंग्यपूर्वक**) ···तुम्हारे पास कैसे आया जा सकता है ? (**वह दोनों हथेलियों को कुर्सी की बाँहों से रगड़ता है।**)

[सुनीता सतीश की बातों की ध्वनि से मन-ही-मन सतर्क हो जाती है। वह विनय के पास जाकर सतीश के सामने की कुर्सी पर बैठ जाती है। उसकी आँखों से कुछ दर्प और जागरूकता झलकने लगती है। परदे पर स्त्री की छाया उसके मन के चढ़ाव-उतार दिखाती हुई धीरे-धीरे धुंधली हो जाती है। सुनीता जल्दी से विनय की ओर दृष्टि फेंकती है, वह जैसे सतीश की बात का ठीक-ठीक अर्थ न समझकर कहता है—]

विनय : (**बायें हाथ से सिर के बालों को ऐंठता हुआ**) सुनीता रोज आपका इन्तजार करती थी कि आपके साथ पिक्चर देखने चलेंगे।

सतीश : (**दुखी होकर**) ओह ! सुनीता, मैं बिलकुल ही भूल गया था। मुझे इस बीच अपने संघ के सम्बन्ध में काफी दौड़-धूप करनी पड़ी; कई लोगों से मिलना था। यह शहर तो (**और कुछ न सूझने पर**) शैतान की आँत की तरह इस तरह दूर-दूर बसा हुआ है कि दिन भर में दो-एक जगह से ज्यादा जाया ही नहीं जा सकता ! (**कुर्सी की बाँहों पर कुहनी टेककर हाथ के इशारे से अपनी बात स्पष्ट करता है।**)

सतीश : और उफ— (**सुनीता की ओर देखकर**) दिन को अभी से कितनी सख्त गरमी पड़ने लगी है·· ताँगे पर बैठे-बैठे, दचके खाते-खाते, इन्सान यों ही थक जाता है। आज भी दिन भर चक्कर काटता, (**सुनीता के मुख पर कठोर व्यंग्य तथा उप-**

हास का भाव देखकर) धूल फाँकता हुआ अभी लौट रहा हूँ।

[सुनीता सिर हिलाकर समर्थन करती है। वह सतीश की कैफियत देने की आदत पर मन-ही-मन हँस रही है एवं उसकी आँखों से हँसी टपकना ही चाहती है : वह मन का भाव छिपाने के लिए हँसती हुई कहती है—]

सुनीता : बेचारे !

बिनय : चाय पीजिएगा ?

सुनीता : क्या बुरा है ! (**अन्यमनस्क भाव से फर्श पर पड़े हुए तस्वीरों के एलबम को उठाने के लिए झुकता है**) वही तो एकमात्र भारतीय पेय है !

विनय : (**हँसता हुआ उठता है और सिर हिलाकर कहता है**) हाँ···

[विनय अन्दर जाकर नौकर को चाय बनाने का आदेश देता है। पीछे के बरामदे से उसकी आवाज सुनायी देती है। सतीश एलबम को गोद में लेकर उसके पन्नों से खेलता है। सुनीता तटस्थ दृष्टि से एक ओर देख रही है। सहसा उसकी आँखों से शून्यता का भाव विलीन हो जाता है, और प्रच्छन्न स्नेह झलक उठता है। जैसे उसके हृदय ने अनुभव किया हो कि सतीश उसकी प्रसन्नता और स्नेह प्राप्त करने के लिए ही लम्बी चौड़ी कैफियत दिया करता है। वह स्नेह स्निग्ध, किंचित् दर्प भरी दृष्टि से सतीश की ओर देखती है, फिर अंचल का कोना पकड़कर उसके किनारों पर हाथ फेरती है। दोनों स्नेहद्रवित दृष्टि से एक-दूसरे की ओर देखकर निरर्थक मुस्कराते हैं। परदे पर पड़ी हुई छाया अधिक स्पष्ट होकर ललित चेष्टाएँ करती है। सतीश सन्तोषपूर्वक अपनी आँखें सुनीता के मुख पर से हटा लेता है। और गोद पर रखे हुए एलबम को बीच से खोलकर देखता है।]

सतीश : (**आश्चर्य से**) आह, यह तुम्हारा एलबम है ! (**फिर से उसे बन्द कर शुरू से देखता है।**)

सुनीता : (**उसी स्वर में**) आपने क्या आज तक नहीं देखा था ? (**वह कुर्सी से सटकर सतीश की बायीं ओर खड़ी हो जाती है।**)

सतीश : (**नकारात्मक सिर हिलाकर ध्यानपूर्वक देखता हुआ**) यह शायद तुम्हारे बिल्कुल छुटपन का चित्र है ! (**सुनीता की आकृति से चित्र को मिलाता है।**)

सुनीता : (**सिर हिलाकर हँसती हुई**) हाँ !

सतीश : (**अर्द्धदृष्टि से उसकी ओर देखकर बनावटी स्वर में**) दूज की कला अब पूनो का चाँद बनकर स्नेह मधुर चाँदनी बरसाने लगी है !

सुनीता : (**दबे हुए क्षुब्ध स्वर में**) और उसमें कलंक की छाया पड़ गयी है।

सतीश : (**बिना उसकी ओर देखे**) कहीं नहीं।··· (**सांस छोड़कर**) यह शायद तुम्हारी गुड़िया है ! (**चित्र के ऊपर उँगली**

रखता है)

[सुनीता चुपचाप खड़ी रहती है। सतीश उसकी ओर देखकर बात बदलने के लिए मुस्कराकर कहता है—]

सतीश : मुझे तो तुम्हारी छुटपन की तस्वीर और इस गुड़िया में अधिक अन्तर नहीं दिखायी देता। (**सुनीता उसकी ओर देखकर आधे मन से मुस्कराती है। सतीश धीरे-धीरे पन्ने उलटता है**) तुम्हारे पापा…मम्मी…हूँ…पापा और मम्मी …तुम्हारी मम्मी मुझ पर कितना स्नेह रखती थीं!… (**सुनीता एक साँस छोड़ती है। विनय पीछे की ओर से एलबम पर दृष्टि डालता है और मुस्कराता हुआ अपने कमरे में चला जाता है। पन्ना उलटकर**) यह कौन है? मैंने इन्हें नहीं देखा।

सुनीता : यह मेरी मौसी हैं। शायद आपने इन्हें नहीं देखा हो।

सतीश : (**पन्ना उलटकर**) यह शायद तुम्हारी तब की तस्वीर है जब मैंने तुम्हें पहली बार देखा था। तब तुम चौदह साल की रही होगी। (**सुनीता सकारात्मक सिर हिलाकर स्निग्ध दृष्टि से उसकी ओर देखती है।**)

सतीश : (**उसके मुख पर दृष्टि गड़ाकर**) तब तुम नेवी ब्ल्यू रंग के सर्ज का फ्राक पहने थीं, शायद यह वही फ्राक है। (**हँसती हुई उसकी गोद में सिर झुकाकर चित्र को देखती है।**)

सुनीता : (**दर्प-भरी दृष्टि से**) अच्छा, आपको अभी तक याद है? (**हँसती है**) बेचारे!…

सतीश : क्यों नहीं? (**उसकी नकल उतारता हुआ**) बेचारे!… तुम्हारे रेशमी रिबन से बँधे घुँघराले बाल तब बहुत अच्छे लगते थे।

सुनीता : और? (**हँसती है**)

सतीश : और… (**परदे पर एक युवती की छाया युवक की बाँहों में दिखायी देती है। पिछली स्मृति से द्रवीभूत होकर सुनीता अपनी स्नेहस्निग्ध दृष्टि सतीश की आँखों में डालती है।**)

सतीश : (**गम्भीर होकर**) सब कुछ…जैसे आज ही की घटना हो…अभी की…जैसे मैं आज ही तुमसे पहली बार मिला हूँ।

[दोनों निःस्पन्द दृष्टि से देखकर एक-दूसरे के मन का भाव जानना चाहते हैं। परदे पर युवती की छाया छोटा-बड़ा आकार धारण कर निकट और दूर आती-जाती है। सुनीता धीरे-धीरे प्रकृतिस्थ हो जाती है।]

सतीश : (**विरक्ति को दबाकर**) ठीक तो है…जैसे मैं आज पहली ही बार तुमसे मिला हूँ। (**शून्य में हाथ हिलाता हुआ**) इसे चाहे चिर-परिचय कहो या अपरिचय!…पिछली पहचान कहो या जैसे हम एक-दूसरे को आज नहीं पहचानते? (**सुनीता का शरीर तन जाता है, वह एक ओर मुँह फिरा**

लेती है) आज इस एलबम के चित्रों से पिछला जीवन जैसे अज्ञात, असफल अतीत की तरह हमारी ओर ताक रहा है ! ... तुम असफल के बदले उसे निर्बल भी कह सकती हो ! (वह अनमने भाव से पन्ने उलटता हुआ एकाएक रुककर कहता है) अहा, यह तुम्हारी और प्रमोद की शादी का चित्र है ! (सुनीता का चेहरा कुछ कठोर पड़ जाता है। वह जल्दी से मुँह फिरा लेती है।)

सतीश : (उसी तरह चित्र को देखता हुआ) यह मेरे पास भी है।

सुनीता : (विरक्ति से) होगा !

सतीश : इस शादी के घूंघट ने तुम्हें बिलकुल ही छिपा लिया है। (सुनीता बिजली की तरह घूमकर उसे देखती है। सतीश उसकी तीक्ष्ण दृष्टि से चकित होकर कहता है) तुम्हें याद है ...प्रमोद से मैंने ही तुम्हें पहले मिलाया था। उसे टेनिस खेलने का बड़ा शौक था...गेंद की तरह वह जीवन से भी खेला है।...(एकाएक) और तुम्हें भी तो उसने खेल ही खेल में जीत लिया।

[सुनीता का क्रोध विषाद में बदलकर धीरे-धीरे गायब हो जाता है। उसका शरीर कोमल पड़ने लगता है, जैसे उसका हृदय द्रवीभूत हो रहा हो। वह जैसे अपने आप कह उठती है—]

सुनीता : अब आप जो कुछ भी समझें !

[वह कुर्सी से सटकर उसके पास बैठ जाती है, जैसे वह उसे किसी प्रकार अप्रसन्न नहीं करना चाहती हो। दोनों कुछ देर तक चुपचाप बैठे रहते हैं। सतीश एलबम के पन्ने उलट-पुलट रहा है। परदे पर स्त्री की छाया शोकमुद्रा में बैठी धुँधली पड़ जाती है।]

सुनीता : (चित्र देखकर) यह मेरा लड़का है।

सतीश : लड़के के रूप में तुम्हारा ही बचपन साकार हो उठा है ! (सुनीता मुस्कराने का प्रयत्न करती है। बार-बार खुले हुए शब्दों में अपनी प्रशंसा सुनकर उसका उत्साह मन्द पड़ जाता है।) ...तुमने शायद इसे कॉनवेंट भेज दिया है।

सुनीता : और क्या करती, घर में खराब हो रहा था।

सतीश : अच्छा तो है, कुछ साल वहीं रहने दो...हमारे यहाँ बाल-शिक्षा के अच्छे केन्द्र हैं भी तो नहीं।—कॉनवेंट में अधिक रहने से लड़कों पर अलबत्ता विदेशी संस्कृति का भूत सवार हो जाता है।

सुनीता : यही तो...और अपने यहाँ की बातों से वे घिन करने लगते हैं। खासकर लड़कियाँ तो, भइया, बिलकुल ही बिगड़ जाती हैं। हमारे कछुए की चाल से आगे बढ़ते हुए समाज तथा मध्यवृत्त के गृहस्थों के लिए किसी काम की नहीं रह जातीं !

सतीश : (**पन्ना उलटकर**) विनय···अच्छा चित्र आया है ! (**समाज से विरक्ति प्रकट करते हुए**) हाँ···लेकिन गृहस्थ तथा समाज ही क्या, हमारी सभी संस्थाओं का यही हाल है ! आज तो सभी—समाज, संस्कृतियों और मानव-सभ्यता—को नये रूप में ढलना है ! ···तब तक चलने दो ! ··· (**पन्ना उलटकर**) यह शायद तुम्हारे छोटे भाई अजय का छुटपन का चित्र है ! ···अब बिलकुल ही बदल गया है !

सुनीता : (**चित्र पर झुककर हँसती हुई**) कैसा चुपचाप बैठा है, गोबर गनेश-सा ! ···विनय से किसी बात में झगड़ा हो गया था, इसी से मुँह फुलाये हुए है ! ···

सतीश : (**पन्ना उलटकर**) यह तुम्हारा कुत्ता ···'राजा' ! तब तुम्हारे साथ देखा था···मर गया शायद !

सुनीता : (**सिर तिरछा कर 'हाँ' कहती हुई**) बेचारा···

सतीश : एक बेचारा तुम्हारा कुत्ता और दूसरा मैं ! (दोनों हँसते हैं। **सतीश दूसरे पन्ने को गौर से देखता हुआ**) और यह किसका चित्र है ?

सुनीता : (**चित्र को देखकर जल्दी से उसके ऊपर हाथ रखकर जोर से हँसती हुई**) उसे मत देखिए—उसे मत देखिए ! (**सतीश कुछ तो उत्सुकतावश और कुछ उसे छेड़ने के इरादे से चित्र को देखने का प्रयत्न करता है। सुनीता दोनों हाथों से उसे छिपा लेती है और कहती है**) नहीं, नहीं !

सतीश : आखिर इस चित्र में ऐसी क्या खास बात है ?

सुनीता : सतीश भइया, आपके हाथ जोड़ती हूँ, आप उसे मत देखिए, उसे मत देखिए !

सतीश : (**सुनीता के हाथ हटाकर एक झलक देखकर परिहासपूर्वक**) ओह, जैसे किसी महाशोक की छाया हो ! ···प्रेत के समान ···एकदम अपरूप—अमानुषी !

[सुनीता चित्र के ऊपर अपना मुँह रखकर उसे एकदम छिपा लेती है और जैसे हिस्टीरिया में हँसने लगती है।]

सुनीता : (**सतीश के हाथों पर एलबम के ऊपर सिर रखे**) ओह ! न जाने उस समय मैं किस मूड़ में थी ! ···विनय ने न जाने कब तस्वीर उतार ली ! ···वह भी बिलकुल ही 'आउट ऑफ फ़ोकस।'···और उसे एलबम में भी लगा लिया··· मैं···

सतीश : (**एलबम को मजबूती से पकड़े हुए**) अच्छा, तो यह तुम्हारा चित्र है ? ···तब तो मैं इसे जरूर देखूँगा।

सुनीता : (**उसी तरह**) नहीं—नहीं—(**जोर से हँसती है**) यह मेरी शादी के रोज का चित्र है···सतीश··भइया···मैं इसे चुपचाप एलबम से निकालकर फाड़कर फेंक देना चाहती थी··· लेकिन भूल गयी !

सतीश : आखिर खराब चित्र आया है तो क्या हुआ ?—क्या चाँद पर

बादलों के धब्बे नहीं छा जाते ?

सुनीता : (**अनसुनी कर**) आप बहुत बुरे हैं ! (**उसी तरह आवेश से**) नहीं, कभी नहीं— आप उसे नहीं देखेंगे !

[वह उसी तरह जैसे हिस्टीरिया में हँसती है। सुनीता की परेशानी देखकर सतीश की उत्सुकता और भी बढ़ जाती है। सुनीता मानो क्षण-भर के लिए अपने को भूलकर अपना सिर सतीश की गोद में एलबम के ऊपर चिपकाये अनिमेष दृष्टि से उसकी ओर देखती है। उसके ओंठ काँप रहे हैं। सतीश सुनीता के आवेश से घबड़ाकर कुर्सी पर से उठना चाहता है, किन्तु सुनीता उसे दबाये हुए है]

सतीश : अच्छी बात है···लो, नहीं देखूंगा बस !

[परदे पर अस्तव्यस्त कुन्तला, एक युवती की छाया दिखायी देती है। वह दोनों हाथों से अपने बाल खींच रही है। उसका बदन ऐंठ रहा है। वह छिन्न लता की तरह गिर-कर जमीन पर लेट जाती है।···विनय अपने कमरे से बाहर निकलता है। वह सतीश और सुनीता की ओर देखकर नजर नीची कर लेता है और कुर्सी पर बैठकर हिचकिचाता हुआ पूछता है—]

विनय : क्या बात है ?

[सुनीता उठकर खड़ी होती है। सतीश भी कुर्सी के पीछे खड़ा हो जाता है और ऊँचे उठे हुए हाथ में एलबम को लेकर चित्र को देखता हुआ सुनीता को चिढ़ाने के अभिप्राय से परिहासपूर्वक कहता है—]

सतीश : (**विनय से**) यह सुनीता का शादी के रोज का चित्र है !··· बिलकुल आउट ऑफ़ फोकस !···मूड का पता नहीं !··· बाल बिखरे हुए ! —साड़ी में जगह-जगह सलवटें पड़ी हैं ! ···सिर का पल्ला पछाड़ खाकर जमीन पर लोट रहा है ! ···आँखें जैसे लगातार रोने से सूजी हुई हैं !··· (**सुनीता उसके हाथ से एलबम छीनना चाहती है। वह एड़ियों के बल उठकर हाथ और भी ऊँचा किये कुर्सी के चारों ओर घूमता हुआ कहता जाता है**) ओंठ, नाक और गाल, सब फूलकर जैसे एक दूसरे से मिल गये हों !··· (**विनय सतीश की व्याख्या के ढंग पर हँसता है**)··· जैसे जीवन का कोई भयानक आवेश···करुणा और व्यथा की निर्मम दारुण छाया ···मन के गहरे अन्धकार के बाहर निकलकर साकार हो उठी हो !

[विनय ठहाका मारकर हँसता है। सुनीता दोनों हाथों से अपना मुंह छिपा लेती है। प्रकाश मन्द पड़ जाता है। परदे पर पड़ी हुई छाया बार-बार उठने का प्रयत्न कर··· जैसे वह अपने से लड़ रही हो,···आंधी में लता की तरह

···थर-थर काँपकर जमीन पर ढेर हो जाती है। प्रकाश यथावत्! परदे की एक धुँधली छाया रह जाती है। सुनीता मुँह पर से हाथ हटा लेती है। उसके मुँह का रंग स्याह पड़ गया है। ओंठ फड़क रहे हैं। वह अपने मनोवेग को दबाने की कोशिश कर रही है। उसके मुँह से एकाएक एक दूरस्थ, पराजित घृणा, क्षोभ तथा विरक्ति से भरी हुई चीख निकल पड़ती है!]

सुनीता : (**स्वप्नग्रस्त की तरह**) ओह,···छिः छिः छिः···(**एलबम की ओर उँगली उठाकर**) वह भयानक छाया मैं ही हूँ। सतीश, जीवन की वह भयानक छाया मैं ही हूँ, जो जीवन के रूप में न जाने कब से दारुण मृत्यु तथा आत्म हनन का भार ढो रही है!

[वह अपना आँचल पकड़कर खींचती है, जो करीब-करीब फटने लगता है। उसकी भर्राई हुई आवाज और चीख को सुनकर सतीश के हाथ से एलबम छूटकर कुर्सी के ऊपर गिर पड़ता है। वह सुनीता की दशा देखकर क्षण-भर के लिए स्तब्ध रह जाता है और दोनों हाथों से कुर्सी की पीठ पकड़कर सिर झुका लेता है। तुरन्त ही वह अपने को सँभालकर सिर उठाता है और शान्त निर्विकार दृष्टि से सुनीता की ओर देखकर दृढ़ गम्भीर शासन के स्वर में कहता है—]

सतीश : कभी नहीं!···

[सुनीता आँचल को छोड़कर बाँह लटकाकर पत्थर की मूर्ति की तरह खड़ी रहती है। सतीश दोनों हाथ ठुड्डी के नीचे मोड़कर चुपचाप देखता रह जाता है।]

सतीश : (**स्वप्नाविष्ट की तरह शान्त स्थिर स्वर में शून्य को अपनी दृष्टि से भेदता हुआ कहता है और विनय उसकी ओर आँखें फाड़कर देखता है**) तुमने यह बात पहले मुझसे कभी नहीं कही, सुनीता! लेकिन···मैं जानता हूँ, तुम्हारा मुँह बन्द था ···सदियों से बन्द!···तुम हमारे समाज में नारी के मूक दयनीय जीवन की एक करुण उदाहरण भर हो!···जिसके हृदय की प्रत्येक धड़कन में युग-युग से नारी की निःशब्द व्यथा छटपटाती रही है।···कुछ साल पहले मैं शायद तुमसे विद्रोह करने को कहता···किन्तु अब मैं उसे ठीक नहीं समझता!···नारी समाज को दूसरा रास्ता खोजने की आवश्यकता नहीं है···केवल हमारी स्त्रियों और विशेषकर नवयुवतियों को घर से बाहर, इस बड़े सामाजिक जीवन में भी अपना स्थान बना लेना है!···उनके बिना हमारा समाज एकदम अधूरा है!···उन्हें पुरुषों के साथ नवीन लोक-जीवन तथा मानव का निर्माण करने में हाथ बँटाना है।···केवल इसी प्रकार हमारा गृहस्थ-जीवन परिपूर्ण तथा आनन्द

मंगलमय बन सकता है ! ···हम दाम्पत्य प्रेम तथा घरों में विभक्त पारिवारिक जीवन को जरूरत से ज्यादा महत्त्व देते हैं ! ···और अपने असली बड़े परिवार को और उस सामाजिक जीवन को भूल गये हैं जिसकी पसलियों के भीतर हमारे गृहस्थ-जीवन का हृदय धड़कता है, जहाँ से उसकी नाड़ियों में रक्तप्राण का संचार होता है। मैं तुम्हें प्यार करता हूँ सुनीता, और चाहता हूँ कि तुम लोक-निर्माण के इस महान् कार्य को अपना सको ! – हमारे देश में शिक्षित-अशिक्षित स्त्रियों की दो पीढ़ियों के बीच एक बहुत बड़ी खाई है ! ···तुम्हारी पीढ़ी का यही काम है कि तुम लोग नयी पीढ़ी के लिए रास्ता बनाओ ! अपने बाल-बच्चों के लिए सुन्दर, स्वस्थ सामाजिक जीवन का निर्माण करो ! ··· **(सुनीता चित्रस्थ-सी होकर अपने समस्त अस्तित्व से सतीश की घनगम्भीर वाणी सुनती है। सतीश हाथ की घड़ी देखकर कहता है···)** "अच्छा, अभी मुझे एक जगह और जाना है, नमस्कार ! ···"

[सतीश दोनों हाथ जोड़कर दृढ़ कदम रखते हुए दरवाजे की ओर बढ़ता है। विनय अभ्यर्थना के भाव से खिंचकर उसके पीछे जाता है। सामने के दरवाजे से सुनीता के पिता आते हुए दिखायी देते हैं।]

सुनीतिकुमार : **(मुस्कराते हुए)** जा रहे हो ? अच्छा···! **(हाथ के पुलिन्दे को दिखाकर)** सुनीता के लिए ऊन खरीद लाया हूँ ! **(सतीश हाथ उठाकर नमस्कार करता हुआ प्रस्थान करता है। सुनीता के पिता कमरे में घुसकर क्षण-भर इधर-उधर दृष्टि दौड़ाकर असन्तुष्ट स्वर में कहते हैं)** मैं सतीश का अपने घर में आना पसन्द नहीं करता ! ···

[विनय अवाक् होकर अपने पिता की ओर देखता है। उनके चेहरे पर घृणा मिश्रित विरक्ति के भाव हैं। सुनीता एकदम गर्दन उठाकर अपने पिता की ओर मुड़ती है। परदे पर ह्रास युग के दर्प-बलिष्ठ मनुष्य की कठोर छाया पड़ती है, जो अपने सीने के ऊपर दोनों बाँहें मोड़कर उद्धत भाव से खड़ा है। सुनीतिकुमार ऊन के पुलिन्दे को कुर्सी पर फेंककर अन्दर चले जाते हैं। परदे पर लोकनिर्माण में निरत नर-नारियों की, भव्य चित्र-शैली में सुसज्जित छाया झूलती है। सुनीता आशा-विस्फारित नेत्रों से मानो भविष्य का आवरण उठाकर निर्निमेष दृष्टि से देखती हुई स्वप्नाविष्ट की तरह दुहराती है···"मैं तुम्हें प्यार करता हूँ सुनीता, और चाहता हूँ कि तुम लोक निर्माण के इस महान् कार्य को अपना सको !"]

(यवनिका पतन)

अतिमा

[प्रथम प्रकाशन-वर्ष : १९५५]

दिवंगत भाई देवीदत्त की
स्नेह स्मृति को

विज्ञापन

'अतिमा' का प्रयोग मैंने अतिक्रान्ति अथवा महिमा के अर्थ में किया है, जिसे अंग्रेजी में ट्रांसेंडेंस कहते हैं : वह मनःस्थिति, जो आज के भौतिक मानसिक सांस्कृतिक परिवेश को अतिक्रम कर चेतना की नवीन क्षमता से अनुप्राणित हो।

प्रस्तुत संग्रह में, प्रकृति सम्बन्धी कविताओं के अतिरिक्त, अधिकतर, ऐसी ही रचनाएँ संगृहीत हैं, जिनकी प्रेरणा युग जीवन के अनेक स्तरों को स्पर्श करती हुई सृजन चेतना के नवीन रूपकों तथा प्रतीकों में मूर्त हुई है।

'अतिमा' में अप्रैल '५४ से लेकर फरवरी '५५ तक की मेरी ५५ रचनाएँ संचित हैं।

२१ फरवरी '५५

सुमित्रानंदन पंत

कौन छेड़ता मुरली स्वर, धर स्वप्न चरण लघु भार,
मन्दिर के आंगन में किसकी गूंज रही पद चाप ?
आः, यह गोपन हृदय प्रान्त या मधुर स्वर्ग का द्वार ?
देवदूत - सा प्रेम, प्रतीक्षा में कब से चुपचाप !

नव अरुणोदय

तुम कहते, उत्तर बेला यह,
मैं सन्ध्या का दीप जलाऊँ!
तुम कहते, दिन ढलने को अब,
मैं प्राणों का अर्घ्य चढ़ाऊँ!
मेरा पन्थ नहीं, मैं कातर
ज्योति क्षितिज निज खोजूं बाहर,
रहा देखता भीतर, अब क्या
तथ्यों का कटु तम लिपटाऊँ!
मैंने कब जाना निशि का मुख?
पृथक् न सुख से ही माना दुख!
अन्धकार की खाल ओढ़ अब
कज्जल में सन, प्राण तपाऊँ!
कभी न निज हित सोचा क्षण भर
क्यों अभाव, क्यों दैन्य, घृणा ज्वर,
अब क्या तारों के खँडहर में
नग्न व्यथा की गाथा गाऊँ!
देख दिवाकर को अस्तोन्मुख
पंकज उर होता अन्तर्मुख,
युग सन्ध्या, तम सिन्धु, ह्रास तट,
स्वर्ग तरी किस तीर लगाऊँ!
मैं प्रभात का रहा दूत नित,
नव प्रकाश सन्देशवाह स्मित,
नव विकास पथ में मुड़ मैं अब
क्यों न भोर बन फिर मुसकाऊँ!
जग जीवन में रे अस्तोदय,
मैं मानस धर्मा, अक्षय वय,
आओ, तम के कूल पार कर
नव अरुणोदय तुम्हें दिखाऊँ!

गीतों का दर्पण

यदि मरणोन्मुख वर्तमान से ऊब गया हो कटु मन,
उठते हों न निराश लोह पग, रुद्ध श्वास हो जीवन!

रिक्त वालुका यन्त्र,--खिसक हों चुके सुनहले सब क्षण,
तर्कों वादों में बन्दी हो सिसक रहा उर स्पन्दन !

तो मेरे गीतों में देखो नव भविष्य की झाँकी,
निःस्वर शिखरों पर उड़ता गाता सोने का पाँखी !

चीर कुहासों के क्षितिजों को भर उड़ान दिग् भास्वर,
वह प्रभात नभ में फैलाता स्वर्णिम लपटों के पर !

दुविधा के ये क्षितिज,—मौन वे श्रद्धा शुभ्र दिगन्तर,
सत्यों के स्मित शिखर, श्रमित उल्लास भरे वे अम्बर !

नीलम के रे अन्तरिक्ष, विद्रुम प्रसार दिग् दीपित,
स्वप्नों के स्वर्गिक दूतों की पद चापों से कम्पित !

प्राणों का पावक पंछी यह, मुक्त चेतना की गति,
प्रीति मधुरिमा सुषमा के स्वर, अन्तर की स्वर संगति !

उज्ज्वल गैरिक पंख, चंचु मणि लोहित, गीत तरंगित,
नील पीठ, मुक्ताभ वक्ष, चल पुच्छ हरित दिग्लम्बित !

दृढ़ संयम ही पीठ, शान्ति ही वक्ष, पक्ष मन चेतन,
पुच्छ प्रगति क्रम, सुरुचि चंचु, लुण्ठित छाया भू जीवन !

हीरक चितवन, मनसिज शर-से स्वर्ण पंख निर्मम स्वर,
मर्म तमस को बेध, प्रीति व्रण करते उर में निःस्वर !

दिव्य गरुड़ रे यह, उड़ता सत् रज प्रसार कर अतिक्रम,
पैने पंजों में दबोच, नत काल सर्प - सा भू तम !

वह श्रद्धा का रे भविष्य,—जो देश काल युग से पर,
स्वप्नों की सतरँग शोभा से रँग लो हे निज अन्तर !

मन से प्राणों में, प्राणों से जीवन में कर मूर्तित,
शोभा आकृति में जन भू का स्वर्ग करो नव निर्मित !

उस भविष्य ही की छाया इस वर्तमान के मुख पर,
सदा रेंगता रहा रहस छवि इंगित पर जो खिंचकर !

यह भावी का वर्तमान रे युग प्रभात - सा प्रहसित,
कढ़ अतीत के धूमों से जो नव क्षितिजों में विकसित !

यदि भू के प्राणों का जीवन करना हो संयोजित,
तो अन्तरतम में प्रवेश कर करो बाह्य पट विस्तृत !

वर्तमान से छिन्न तुम्हें जो लगता रिक्त भविष्यत्—
वह नव मानव का मुख, अंकित काल पटी पर अक्षत !

नहीं भविष्यत् रे वह, मानवता की आत्मा विकसित,
जड़ भू जीवन में, जन-मन में करना जिसे प्रतिष्ठित !

यदि यथार्थ की चकाचौंध से मूढ़ दृष्टि अब निष्फल,—
डूबो गीतों में, जिसका चेतना द्रवित अन्तस्तल !

लहराता आनन्द अमृत रे इनमें शाश्वत उज्ज्वल,
ये रेती की चमक न, प्यासा रखता जिसका मृगजल !

यदि ह्रासोन्मुख वर्तमान से ऊब गया हो अब मन,
गीतों के दर्पण में देखो, अपना श्री-नव आनन !

नव जागरण

सुन पड़ता फिर स्वर्ण गुंजरण !

इन्द्रिय कमल पुटों में निद्रित,
मुग्ध, विषय मधु रज में मज्जित,
जाग उठा, लो, नव प्रभात में
मन मधुकर, स्वप्नों से उन्मन !

खुले दिशाओं के ज्योतिर्दल,
भू विकास का अरुणोज्वल पल,
मानव आत्मा से उठता है,
विगत निशाओं का अवगुण्ठन !

रजत प्रसारों में उड़ नूतन
प्राण मुक्त करते आरोहण,
शुभ्र नील में बज उठता अब
अगणित पंखों का कल कूजन !

उतर रहीं ऊषाएँ निःस्वर
मधु पावक रस की-सी निर्झर,
गाता हृदय शिराओं में बह
स्वर्ग रुधिर, भर नव सुख स्पन्दन!

यह अपलक भू शोभा का क्षण
उर में प्रीति मधुरिमा के व्रण,
जीवन के जर्जर पंजर में
दौड़ रहा अमरों का यौवन !

नव मरन्द रस गन्ध उच्छ्वसित
प्राणों के ज्वाला दल प्रहसित,
देवों का मधु संचय करने
उड़ता, ऊपर, मन नव चेतन !

जिज्ञासा

कौन स्रोत ये !

ये किन आकाशों में खोये
किन अवाक् शिखरों से झरते ?

किस प्रशान्त समतल प्रदेश में
रजत फेन मुक्ता रव भरते !

ये किन स्वच्छ अतलताओं की
मौन नीलिमाओं में बहते ?
किस सुख के स्पर्शों से, स्वर्णिम
हिलकोरों में कँपते रहते !

कौन स्रोत ये !

किरणों के वृन्तों पर खिलते
भावों के सतरँग स्वप्नोत्पल,
मनोलहरियों पर बिम्बित कर
रक्त पीत सित नील ज्योति दल !

नामहीन सौरभ में मज्जित
हो उठता उच्छ्वसित दिगंचल,
रहस गुंजरण में लय होता
शब्दहीन तन्मय अन्तस्तल !

कौन स्रोत ये !

श्रद्धा औ' विश्वास—रुपहले
राज मरालों के-से जोड़े
तिरते सात्विक उर सरसी में
शुभ्र सुनहली ग्रीवा मोड़े !
शोभा की स्वर्गिक उड़ान से
भर जाता सहसा अपलक मन,
बजते नव छन्दों के नूपुर
अलिखित गीतों के प्रिय पद बन !

बह जाते सीमाओं के तट
हर्षों के ज्वारों में अविगत,
लहरा उठता अतल नील से
नाम रूप के ऊपर शाश्वत !

कौन स्रोत ये !

जन्म दिवस
(२० मई १९००)

आः, चौवन निदाघ अब बीते,
जीवन के कलशों-से रीते ?—
चौवन मधु निदाघ अब बीते !

गत युग के ऐश्वर्य चिह्न-से, मधु के अन्तिम
ताम्र हरित कुछ पल्लव, कुछ कलि कोरक स्वर्णिम
जाड़े से ठिठुरे, डालों पर बिलमाये थे,
रजत कुहासे पट में लिपटे अलसाये थे;

धरती पर जब शिशु ने पहिले आँखें खोलीं !
(आँगन के तरु पर तब क्या गिरि कोयल बोली ?)

विजन पहाड़ी प्रान्त, हिमालय का था अंचल,
स्नेह क्रोड़ शैशव का, गिरि परियों का प्रिय स्थल :
धूपछाँह का स्वप्न नीड़,—श्यामल, स्मृति कोमल,
वन फूलों का गन्ध दोल, ऋतु मारुत चंचल !

नव प्रभात बेला थी, नव जीवन अरुणोदय !
विगत शती थी भुक्तप्राय, युग सन्धि का समय !
ओस हरी ही थी, तृण तरु की पलकों पर जल,
मातृ चेतना शिशु को दे प्राणों का सम्बल
अन्तर्हित जब हुई,—भाग्य छल कहिए विधि बल !!
जन्म-मरण आये थे सँग-सँग बन हमजोली,
मृत्यु अंक में जीवन ने जब आँखें खोलीं !

आः, समदृष्टि प्रकृति ! विषण्ण आँगन में स्वर्गिक स्मिति भर
फूल उठे थे आड़ू, ललछौंहें मुकुलों में सुन्दर !
सेबों की कलियाँ प्रसूत, रक्तिम छींटों से शोभित,
खिलीं मँझोले रजत फलों में करती थीं मन मोहित !
पइयों[1] की प्रमुदित पंखुड़ियाँ उड़ती थीं पिछवारे,
महक रहे थे नीबू, कुसुमों में रजगन्ध सँवारे !
नारंगी, अखरोट, नाक के फूल, मंजरी, कलियाँ
बढ़ा रही थीं ऋतु शोभा केले की फूली फलियाँ !
काफल[2] थे रँग रहे, फूल में थी फल लिये खुबानी,
लाल बुरूसों[3] के मधु छत्तों से थी भरी वनानी !

हँसती थीं घाटियाँ, हिसालू[4] खिले सुनहले क्षण में,
बेड़ू[5] थे बैंगनी, लसलसे, पके अधपके वन में !
लदे अमोये गुच्छों में थे जँगली मूँगी दाने,
टूट रहे थे तोते खटमिट्ठे वन-मेवे खाने !

देवदारु कुंकुम का स्वर्णिम टँगा सहन में था नभ;
साँसें पीती थीं चीड़ों की मर्मर, नीरुज सौरभ !
मूक नवागत का करती थी शैल प्रकृति अभिनन्दन,—
वर्षों बाद किशोर हुआ इन दृश्यों के प्रति चेतन !

सोता था क्या भूँक रात-भर झबरा कालू पाजी ?
मस्त भोटिया शेर, बाघ से ली थी जिसने बाजी !
सी-सी सीटी बजा, आ रहा होगा भाजी देने
मंगल बावर्ची का नटखट लड़का पैसे लेने !
उमड़ चीटियों-से, किलबिल कर, माली घर निज डलियाँ
चुनते होंगे हरी चाय की बटी सुनहरी कलियाँ !

१. जंगली चेरी, २. छोटे लाल फल, ३. रोडोडंड्रम, ४. छोटे पीले फल, ५. पहाड़ी अंजीर

हाथ जोड़कर, बकता होगा खड़ा मसखरा बिस्ना,
"अब हजूर, पेंसन मिल जाये, और नहीं कुछ तिस्ना !
धौली के सींघों-से कँपते हाथ-पैर कर लकलक,
पानी के बहँगे लाने में साँस फूल जाती थक !
जाड़े से हड्डी बजतीं,—सरकार, हुआ बूढ़ा तन,
मौना[1] के छत्ते करते कूटे कानों में भनभन !
अब मोती पर जीन कसेगी ? —देखें आप किसी छिन
कान खड़े कर, टाप उठाये, करता दिन-भर हिनहिन !
आगे के सब दाँत निगल अब चुका साथ चारे के,
पीठ झुक गयी, पेंसन के दिन हैं उस बेचारे के !"
हीं-हीं हँस, जुट गया काम में होगा तुरत लगन से,
भृत्य पुरातन, शुभ दिन की कर मौन कामना मन से !

निश्चय ही, कटती होगी तब जो गेहूँ की बाली,
कटि में खोंस दराती, सिर पर धर सोने की डाली,
जाती होगी खेतों में प्रातः मखमल की चोली
मार छींट लहँगे में फेंटा,—बहू गाँव की भोली !

ढोरों के सँग निकल छोकरे खुले हरे गोचर में
रोल मचाते होंगे, खेल कबड्डी हो-हो स्वर में !
उचक चौंक खरहे झाड़ी में छिपते होंगे डर से,
हिरन चौकड़ी मार, भागते होंगे चकित उधर से !

कन्धे से टाँगी उतारकर, हाथ कनपटी पर धर
गाता होगा गँवई छैला खड़ा किसी चोटी पर !
घास छीलती होगी हरी तलैटी में नथवाली
देख सुवा[2] को छायी होगी आँखों में हरियाली !
छेड़ी होगी मस्त तान स्वर मिला मुखर मर्मर से,
मधुर प्रतिध्वनि आयी होगी घाटी के भीतर से !

"बिजली बसती घन में,
आग लगा दी खिल बुरूस ने वन में, तूने तन में !

"मेंहदी पिसती सिल में,
तू न देख पाये, तेरी ही रंगत टूटे दिल में !

"मन उड़ता पाँखों में,
सुवा घूमता वन-वन, तू घूमा करती आँखों में !

"साँझ हुई आँगन में,
तुझे देख कैसे बतलाऊँ क्या हो जाता मन में !

"बदली छायी दिन में,
नयी उमर की बाढ़ नवेली उतर जायेगी छिन में !"

मीठे स्वर में देती होगी प्यार भरी धनि गाली,—
"क्या खाकर भुखमरे, करेगा तू मेरी रखवाली !

१. मधुमक्खी, २. तोता, प्रेमिका

सास सिंहिनी-सी है मेरी, ससुर एक में सौ-से,
जेठ बैल-से हैं मतवाले, देवर मेरे गौ-से !
सैंया मेरे कामधेनु-से, मैं जाऊँ बलिहारी,
वे चन्दन मैं गन्ध - छाँह, वे चन्दा मैं उजियारी !
वे हिरना मैं हिरनी, पीते मिल झरने का पानी,
तू प्यासा तो खोज कहीं जलधार, मूढ़, बकध्यानी !
ननदी मेरी काली नागिन, जी हो उसे खिझा तू,
वीर मरद जो, बीन बजाकर पहिले उसे रिझा तू !
श्रौर नहीं तो, क्या चुल्लू-भर पानी तुझे नहीं है ?"
"बहती गंगा छोड़ कहाँ जाऊँ धनि, क्या न सही है ?"
गूंज रही होंगी, गिरि वन अम्बर में दुहरी तानें,
श्रौर पास खिच आये होंगे दो जन इसी बहाने !

हां, तब ऊषा स्वर्ग क्षितिज पर स्वर्णिम मंगल घट भर
उतरी थी, युग उदय शिखर पर माणिक सूर्य मुकुट धर !
पहिले से जगकर खग, ऊँचे गिरि वासों के कारण,
गाते थे नव स्वर लय गति में नवल जागरण चारण !
नील, प्रतीक्षा था नीरव,—अनुराग द्रवित थे लोचन,
गन्ध तुहिन से ग्रथित रेशमी पट-सा मसृण समीरण !
रँग-रँग के वन फूलों से गुम्फित मखमल के शाद्वल
तल्प सँजोये थे स्मित, शैशव के हित, क्रीड़ा कोमल !

देख रहा था खड़ा निकट ही हिमवत् नव जन्मोत्सव,
गौरव से उन्नत कर मस्तक, बरसा आशीर्वैभव !
अमरों का अधिवास, पुण्य शिखरों से अक्षय कल्पित,
सात्विक आत्मोल्लास, चेतना में एकान्त समाधित !
स्वर्गिक गरिमा में उठकर, नैसर्गिक सुषमा में स्थित
स्फटिक शृंग निर्वाक् नीलिमा में थे स्वर्ण निमज्जित !
उतर रहा था हेम गौर चूड़ों पर मौन अतन्द्रित
ज्योति काय चैतन्य लोक-सा नव प्रभात दिक् प्रहसित !
फहराते थे आरोहों पर नीहारों के केतन,
शुभ्रारुण छायातप कम्पित, रश्मि ज्वलित, नव चेतन !
अतल गहनताओं से जग उत्कर्षों में नभ चुम्बित
आध्यात्मिक परिवेश शान्त, लगता था विस्मय स्तम्भित !

तभी अगोचर अन्तरिक्ष में, अन्तर्जग के भीतर
नये शिखर थे निखर रहे शत सूक्ष्म विभव के भास्वर !
जिन पर नूतन युग प्रभात था उदय हो रहा गोपन,
रजत नील स्वर्णारुण शृंगों पर भर स्वर्गिक प्लावन !
नयी शती थी जन्म ले रही काल दंष्ट्र में जीवित,
स्नेह मूर्ति-सी विगत शती थी कृच्छ्र वेदना मूर्छित !
नव चेतन था अभिनव, मानस शव-सा पुण्य पुरातन,
नाल मुकुल! —पर इनका स्मृति पावन सम्बन्ध सनातन !

था निमित्त शिशु, नव युग था अवतरित हो रहा निश्चय,
बहिरन्तर का धूम चीर हँसता था नव स्वर्णोदय !
इसीलिए, सम्भव, हिमाद्रि का स्वर्गोन्मुख आरोहण
युग सनाभि शिशु के मन के हित रहा महत् आकर्षण !
इन्द्रचाप के ज्योति सेतु पर नव स्वप्नों के पग धर
विचरा वह मोहित श्रृंगों पर शोभा तन्मय अन्तर !
महिमान्वित कर मनःक्षितिज को, दृष्टिसरणि को विस्तृत,
दीपित करते थे शैशव पथ सौम्य शिखर दिक् शोभित !
मुग्ध प्रकृति छवि नव किशोर मानस में तिरती थी नित
स्वर्ग अप्सरी-सी तुषार सरसी सुषमा में बिम्बित !
काँव-काँव कर आँगन में कौये गाते थे स्वागत,
गुह्य शक्तियाँ तब अलक्ष्य में निश्चय होंगी जाग्रत् !
अवचेतन निश्चेतन को होना था युग के मन्थित,
मानस को उन्नीत, देह के जड़ अणुओं को ज्योतित !
चिर विभक्त को युक्त, रुद्ध को मुक्त, खण्ड को पूरित,
धरा विरोधों को होना था विश्व ऐक्य संयोजित !
कुत्सित को सुन्दर, सुन्दर को बनना था सुन्दरतर,
शिव को शिवतर, लोक सत्य को मानव सत्य महत्तर !
दूर कहीं घिरते थे, सम्भव, धीरे, क्रान्ति बलाहक,
रक्तिम लपटों के पर्वत, भू के नव जीवन वाहक !
घुमड़ रही थी क्रुद्ध धरा उर में हुंकार भयानक,
ज्वालामुखी उगलने को था रुद्ध उदर का पावक !
झंझा का था जन्म दोल वह, ऋतु कुसुमों से गुंजित
प्रलय सृजन थे साथ खेलते,—प्रभु की दया अपरिमित!
नहीं जानता, कब कृतार्थ होगा भू पर नव चेतन,
तम पर अमर प्रकाश, मृत्यु पर विजयी शाश्वत जीवन!
हिमवत् का विश्वास अटल ले, नव प्रभात की आशा,
नील मौन में खोये श्रृंगों की अनन्त जिज्ञासा,—
प्रलय क्रोड़ में खींच प्रौढ़ शिशु अमृत प्राणप्रद श्वासा,
घृणा द्वेष में लिये हृदय में महत् प्रेम अभिलाषा !
खोज रहा वह युग विनाश में नव जीवन परिभाषा,
विश्व ह्रास में—नवल चेतना, सृजन प्रेरणा, भाषा !

हाँ, चौवन निदाघ अब बीते,
रिक्त अमृत-विष के मटकों-से मीठे तीते,—
चौवन मधु निदाघ अब बीते !

(मई १९५४)

गीत

रश्मि चरण धर आओ !
प्राणों के धन, अन्धकार,
तप स्वर्ण शुभ्र मुसकाओ !

निःस्वर तारात्रों के नूपुर,
रणित पवन वीणाओं के सुर,
अग्नि विहंगम, मनःक्षितिज में
ज्योति पंख फैलाओ!
अनाहूत हे, अविज्ञात हे,
लपटों में लिपटे प्रभात हे,
स्वर्ग दूत-से उतर, हृदय की
गोपन व्यथा मिटाओ!
पावक परिमल के वसन्त हे,
मधु ज्वालाओं के दिगन्त हे,
मानस के सूने पतझर को
शोभा में सुलगाओ!
किरणोज्वल कंटक किरीट धर
विचरो तम पंकिल भू मग पर,
प्राणों के निर्मम याचक हे,
जीवन रज लिपटाओ!
खोलो अन्तर के तन्द्रिल पट,
स्वर्ग सुरा से भरो रश्मि घट,
नव स्वर लय गति में जीवन को
स्वप्न मुखर कर जाओ!

आवाहन

ओ ज़न युग की नव ऊषाओ,
आओ, नव क्षितिजों पर आओ!
स्वर्गिक शिखरों के प्रकाश में
भू के शिखरों को नहलाओ!
आत्म मुक्त स्वर्णिम उड़ान भर,
शून्य नील के कूल पार कर,
शिखरों से समतल पर उतरो,
आगे के अरुणोदय लाओ!
महत् स्फुरण का यह नीरव क्षण
पौ फटने के पहले का तम,
दीपित कर निशिएँ अतीत की
नव ज्वालाओं में लिपटाओ!
गीत अधजगे तरु नीड़ों में,
स्वप्न अधमुँदे उर पलकों में,
मौन प्रतीक्षा का अनन्त यह,
वातायन से मुख दिखलाओ!
ओ नव युग की नव ऊषाओ,
जन मानस क्षितिजों पर आओ!

उच्च नभस्वत पथ की वासिनि,
तुहिन पंक्ति रजतोज्वल हासिनि,
धूलि धूसरित भू के मग में
विचरो, कंचन घट ढलकाओ!
ज्योतिर्मय नभ शतदल में जग,
शुभ्र पीत पंखुड़ियों में हँस,
अमृत कोष भुवनों की सौरभ
जन की साँसों में भर जाओ!
शाश्वत ऊषाओं के क्रम में
नव चेतन केतन फहरा कर
तृणतरु पर, गिरि सरि सागर पर
रश्मि पंख शोभा बरसाओ!
अन्ध गुहाओं में प्रवेश कर
कुण्ठित सत्यों के सोये स्तर
प्रीति शिखाओं में प्रोज्वल कर
मनोभूमि पर उन्हें जगाओ!
ओ जन युग की नव ऊषाओ,
नव विकास क्षितिजों पर आओ!
सप्त वर्ण स्मित अश्वों पर चढ़,
मरुतों के पथ पर सवेग बढ़,
ज्योति रश्मियाँ निज कर में धर
भू का रथ निर्बाध चलाओ!
वस्तु तमस को दिक् प्रहसित कर,
रुद्ध दिशाओं को विस्तृत कर,
आनेवाले सूर्योदय के
मुख से तेजः पटल हटाओ!
विगत नवागत ऊषाओं में
अन्तःस्मित नव स्वर संगति भर,
ओ प्राचीन प्रभातों की श्री,
नये प्रभातों में मुसकाओ!
निज असीम आभा प्रसरित कर
भावी ऊषाओं के नभ में,
विगत अनागत के छोरों पर
रश्मि सेतु बन, उन्हें मिलाओ!
ओ नवयुग की नव ऊषाओ,
नव प्रकाश क्षितिजों पर आओ!
स्वर्गिक शिखरों के प्रवाह में
भू के शिखरों को नहलाओ!
स्वर्ण मरन्दों से अयि विरचित,
सूक्ष्म रजत क्षौमों में भूषित,
शत सुरधनुओं से हो वेष्टित
जन युग का अभिवादन पाओ!

ओ नव युग की नव ऊषाओ,
युग प्रभात क्षितिजों पर आओ !

गीत

प्राण, तुम्हारी तन्द्रिल वीणा
फिर मधु पावक से हो झंकृत !
अन्धकार के तार अगोचर
गोपन स्पर्शों से कँप थर-थर,
भरें गहन के उर-मादन स्वर
विधि निषेध वर्जन हों विस्मृत !
सुलगें लपटों सी झनकारें
मर्म वेदना भरी पुकारें,
जीवन की असफल मनुहारें
नव स्वर संगति में हों मुखरित !
गरज उठें मन में छाये घन,
घुमड़ उठे नभ का सूनापन,
उमड़ें सागर में नव प्लावन
जीवन सीमाएँ कर मज्जित !
मलयज बने प्रभंजन क्षण में
काँपें छायाएँ कानन में,
खिलें फूल कुण्ठित पाहन में
निर्मम उर हो प्रीति विद्रवित !
जागे आशा नव जीवन की
अग्नि शिखा अभिलाषा मन की,
विजय पराजय क्षण अनुक्षण की
जाग्रत् तारों में हो मूर्छित !
क्षितिज पल्लवित हों शत पतझर
भरें गहन विद्रोही मर्मर,
स्वप्न पग ध्वनित हों गत खँडहर
नव प्रभात शोभा से मण्डित !
यह तामस प्रिय मानस वीणा
सात्विक पावक से कर क्रीड़ा
छोड़े आदिम संशय ब्रीड़ा
दिङ् मण्डल हों मर्म गुंजरित !

स्मृति

वन फूलों की तरु डाली में गाती अह, निर्दय गिरि कोयल,
काले कौओं के बीच पली, मुँहजली, प्राण करती विह्वल !
कोकिल का ज्वाला का गायन, गायन में मर्म व्यथा मादन,
उस मूक व्यथा में लिपटी स्मृति, स्मृति पट में प्रीति कथा पावन!

वह प्रीति तुम्हारी ही प्रिय निधि निधि, चिर शोभा की ! (जो अनन्त
कलि कुसुमों के अंगों में खिल बनती रहती जीवन वसन्त !)
उस शोभा का स्वप्नों का तन, (जिन स्वप्नों से विस्मित लोचन !
जो स्वप्न मूर्त हो सके नहीं, भरते उर में स्वर्णिम गुंजन !)
उस तन की भाव द्रवित आकृति,—(जो धूपछाँह पट पर अंकित !)
आकृति की खोयी-सी रेखा लहरों में बेला-सी मज्जित !
यौवन बेला वह, स्वप्न लिखी छबि रेखाएँ जिसमें ओझल,
तुम अन्तर्मुख शोभा धारा बहती अब प्राणों में शीतल !
प्राणों की फूलों की डाली, स्मृति की छाया मधु की कोयल,
यह गीति व्यथा, अन्तर्मुख स्वर, वह प्रीति कथा, धारा निश्छल!

अन्तः क्षितिज

प्राणों की छाया में श्यामल—
कचनारी कलियों का कोमल
क्षितिज खिला अरुणोज्वल !
खुल पड़ते पंखड़ियों के दल
दीपक लौ-से कँप-कँप प्रतिपल,
सौरभ से उच्छ्वसित दिगंचल !
लाज लालिमा स्मित किसका मुख,
उदित मौन, यह मन के सम्मुख,
स्मृतियों से पुलकित अन्तस्तल !
स्वप्नों की शोभा से कल्पित,
स्वर्ग रश्मि से सद्यः दीपित
प्रीति मुकुल-सा पावन, निश्छल!
हँसा लालसा जल में सरसिज,
सोने-सा तप निखरा मनसिज,
उमगा आकाशों में परिमल !
सौम्य, चेतना का अरुणोदय ! ...
हृदय मधुरिमा रस में तन्मय,
सूक्ष्म शिराएँ सुख से चंचल !
लोचन अपलक सुषमा में लय,
अन्तस में मधु सागर अक्षय
ज्योति तरल लहराता निस्तल !
प्राणों की छाया में शीतल—
कांचनार कलियों का पाटल
क्षितिज खिला किरणोज्वल !

आत्म बोध

आड़ू नीबू की डालों-सी— स्वर्ण शुभ्र कलियों में पुलकित,—
तुम्हें अंक भरने को मेरी बाँहें युग-युग से लालायित !

ओ नित नयी क्षितिज की शोभे, पत्रहीन मैं पतझर का वन,—
शून्य नील की नीरवता को प्राणों में बाँधे हूँ उन्मन !

मुझमें भी बहता वन शोणित हरा भरा–मरकत-सा विगलित,—
मूक वनस्पति जीवन मेरा मलय स्पर्श पा होता मुकुलित !

वन का आदिम प्राणी तरु मैं जिसने केवल बढ़ना जाना,—
यह संयोग कि खिले कुसुम कलि, नीड़ों ने बरसाया गाना ?

माना, इन डालों में काँटे, गहरे चिन्तन के जिनके व्रण,—
मर्म गूँज के बिना मधुप क्या होता सुखी, चूम मधु के कण !

अकथित थी इच्छा,–सुमनों में हँस, उड़ गयी अमित सुगन्ध बन
मूल रहे मिट्टी से लिपटे, आये बहु हेमन्त, ग्रीष्म, घन !

अब फिर से मधुऋतु आने को,—पर, मैं जान गया हूँ, निश्चित
मैं ही स्वर्ग शिखाओं में जल नये क्षितिज करता हूँ निर्मित !

यह मेरी ही अमृत चेतना,—रिक्त पात्र बन जिसका पतझर
नयी प्राप्ति के नव वसन्त में नव श्री शोभा से जाता भर !

मनसिज ?

तुम मन की आँखों के सम्मुख प्राणों के याचक बन आते,
मधु मुकुलों का ले धनुष बाण स्वर्णिम मनसिज-से मुसकाते !

तुम वेणु चाप में चढ़ा डोर साँसों की, भावों से गुंजित,
स्वर साध, सुनहले तीर छोड़ मर्माहत करते, अपराजित !

साँसों से भर सौरभ मरन्द उर को मधु स्मृति में लिपटाते,
सुरधनुओं के रँग फूलों के कोमल अंगों में ढल जाते !

स्वप्नों की पंखड़ियाँ अपलक मुख सरसिज बन जातीं खिलकर,
अगजग की शोभा सुन्दरता सुख केन्द्रित हो उठती छबि पर !

मानस के निर्मम हाव भाव स्वर संगति में बँधते नूतन,
गाते वंशी-से रोम रन्ध्र पुलकों में कँप उठते तन मन !

बज उठती कटि मेखला दिशा तृण तरु में भर नीरव मर्मर,
लहरा उठता सरि सागर में रस में डूबा तन्मय अम्बर !

आनन्द स्रोत बाहर भीतर झरने लगते, शत रश्मि द्रवित,
सीमाएँ लय होतीं, घन के पट खुलते, हँसता नील अमित !

चेतना बिन्दु-से स्थिर उज्ज्वल अन्तर शतदल पर समासीन
तन-मन प्राणों के जीवन को तुम करते सुख में आत्मलीन !

बहतीं प्रकाश की धाराएँ जिनसे रवि शशि तारा दीपित,
मानव आत्मा के ज्योति बिन्दु, जग छाया-सा लगता प्रसरित !

चन्द्र के प्रति

एहो शीतल पावक वाहक!
रजत करों के कनक पात्र में
अग्नि लिये तुम अन्तर दाहक!
किन प्राणों के तप का पावक,
किस विरहानल का परिचायक?
किस मनसिज का रहस कला धनु,
किस सम्मोहन के मधु सायक!
किस मानस का स्मृति स्वप्नोत्पल,
खिले चतुर्दिक् ज्योतिप्रीति दल,
किस ममता का मधु मरन्द, किस
सूक्ष्म गन्ध मद का उद्भावक!
किस असीम सुख का अखण्ड क्षण!
किस शाश्वत मुख का प्रिय दर्पण,
किस स्वर्गिक सुषमा से बिम्बित,
कौन भ्रमर वे गुण के ग्राहक?
प्राणों के स्वर्णिम पावक सर,
कँपता स्मृतियों का जल थर-थर,
सोये राजहंस स्वप्नों के
सतजल पुलिनों में सुख दायक!
सुलगी मधु ज्वाला अन्तर में
फैली गिरि वन में, सागर में,
अम्बर की छाया बीथी के
निःस्वर रहस व्यथा के गायक!
अकथनीय नीरव आकर्षण,—
सृजन हर्ष से हिल्लोलित मन,
जलधि फेन में अप्सरियों के
स्वप्न दीप मणि कक्ष विधायक!
कब से प्रीति मुकुर मुख को तक
विरह विभोर, अतन्द्रित, अपलक
चुगते प्राण चकोर अँगारे,
तुम कैसे जन के अभिभावक!

बाहर भीतर

यह छोटा - सा घर का आँगन!
जहाँ राम की अद्भुत माया
कभी धूप है तो फिर छाया,—
भाव अभावों का जग उन्मन!
अपने ही सुख - दुख से निर्मित
गृह कलहों वादों में कम्पित,

क्षण आशा नैराश्य प्रतिफलित
चित्त वृत्तियों का लघु दर्पण !
यहाँ उदय होकर दिन ढलता,
जन्म - मरण सँग जीवन पलता,
तुतलाता, घुटनों बल चलता
खेल-कूद, भर हास कल रुदन !
सूरज, चाँद,—दूब पर हिमजल,
तितली, फूल, गूंज, रँग, परिमल,
चिड़ियों की उड़ती परछाईं,—
आते जाते विधि-पाहुन बन !
डाली पर उड़ गाती कोयल,
झर पड़ते आशा के कोंपल,
ज्ञात नहीं, कब क्या हो जाये,
प्रलय सृजन करते युग नर्तन !
जीवन का चंचल यथार्थ छल,
भरता, रीता होता अंचल,
मधु पतझर खिलते कुम्हलाते
भोर साँझ बिलमाते कुछ क्षण !
इस आँगन के पार राजपथ
चलता सतत जगत जीवन रथ,
दिशि-दिशि का कलरव कोलाहल
उपजाता नित नव संवेदन !
दूर, मंजरित खुले क्षितिज पर
नील पंख फैलाये अम्बर
उड़ता उड़ता उड़ता जाता
बिठा पीठ पर मानव का मन !
भू को अन्धकार का है भय,—
शिखरों पर हँसता अरुणोदय,
युग स्वप्नों की चाप सुनहली,
भरती उर में अस्फुट स्पन्दन !

ऊषाएँ

किरणों के स्वर्णिम-रव निर्झर
नीरव उच्छ्रायों से झर - झर
बहते माणिक स्तम्भों - से गल !
मौन अवतरण में रे प्रतिक्षण
कँपते सुर वीणाओं के स्वन,
अकथित स्वर संगतियों में ढल !
बजती सुर वधुओं की पायल,
उड़ती जल फुहार स्मृति कोमल,
स्पर्शों से उर को कर तन्मय !

सूक्ष्म मधुरिमा इनमें घुलकर
तन मन की तृष्णा लेती हर,
अवचनीय रस - सी जल में लय !
शुभ्र चेतना ही निर्मलता,
अतल शान्ति ही शुचि शीतलता,
मुक्त आत्म सुख ही इनकी गति !
अमृत सत्य में मूल स्रोत रे,
अन्तः शोभा ओत प्रोत रे,
प्रीति सृजन ही में इनकी रति !
नील मौन में लीन अगोचर
नीहारों के स्मित शिखरों पर
स्वर्गंगा - से ये चिर शोभित !
अन्तर ही के रहस शिखर वह,
अन्तर ही के रस निर्झर यह,
जिनसे नित ऊषाएँ दीपित !

गीत

स्वप्नों के पथ से आओ !
मधु भृंगों का स्वर्ण गुंजरण
प्राणों में भर, गाओ !
अन्तर का क्षण क्रन्दन हो लय,
तुममें रुद्ध अहंता तन्मय,
मेघों के घन गुण्ठन से हँस
रश्मि तीर बरसाओ !
जगे हृदय में सोया मानव,
जगे पुरातन में खोया नव,
शत मरुतों का विद्युत् दंशन
तन - मन में भर जाओ !
हे अकूल, हे निस्तल, दुस्तर,
हे स्वर्णिम वाड़व के सागर,
नव ज्वालाओं की लहरों में
उर को अतल डुबाओ !
मधु सौरभ रँग पावक के घन,
गन्ध स्पर्श रस से अति चेतन,
शत सुरधनुओं में लिपटे हे,
वज्र सँदेश सुनाओ !

प्रतिमा

यह प्रतिमा,
तन से जा बाहर
जग जीवन की रज लिपटाकर,
उपचेतन के कर्दम में धँस

घायल खोहों में घुस हँस-हँस,
अन्धकार को छेड़ जगाती !

यह अतिमा,
संघर्ष निरत नित
सुख-दुख विरत, शान्त, आत्मस्थित,
नीचे ऊपर, बाहर भीतर
छा सर्वत्र, ध्येय पर तत्पर,
मौन सृजन इंगित से प्रेरित
जन भू जीवन करती विकसित,
अग जग से पर, प्रिय मद माती !

यह अतिमा,
मन से उठ ऊपर
पंख खोल शोभा क्षितिजों पर,
स्वर्ण नील आरोहों को तर
गन्ध शुभ्र रज साँसों में भर,
गीतों के निःस्वर झरनों में
स्वप्न द्रवित सुरधनु वर्णों में
अन्तर शिखरों को नहलाती !

यह अतिमा,
प्राणों के रथ पर
मरकत रजत प्रसार पार कर,
भू विकास का अपनाकर मग
नव गति, स्वर संगति के धर पग,
निज पथ दर्शक को श्रद्धा नत
सहज समर्पित कर उर अभिमत,
भक्ति प्रीति युत शीश नवाती !
यह अतिमा !

प्रार्थना

आओ हे समवेत प्रार्थना करें धरा जन,
सृजन कर्म से, रचना श्रम से,— जो चिर पावन
रत तन की प्रार्थना : बुद्धि से,—जो प्रकाशमय
मानस की प्रार्थना : प्रेम से,—जो निःसंशय
मौन हृदय प्रार्थना : समर्पण से,—जो तन्मय
आत्मा की प्रार्थना : शक्ति, इच्छा से दुर्जय,—
जो प्राणों की मुक्त प्रार्थना ! आओ, हे जन,
युक्त प्रार्थना करें, पूर्ण हो मानव जीवन !

मानव को समझो हे, देवों के आराधक,
मानव के भीतर ईश्वर ही अविरत साधक !
महत् जगत जीवन की इच्छा ही प्रभु का पथ,
स्वर्ण सृजन चक्रों पर नित बढ़ता प्रभु का रथ !

अणु उद्जन की प्रलयंकर छाया में प्रतिक्षण,
निर्भय, नव निर्माण करो हे जीवन चेतन !

शान्ति और क्रान्ति

शान्ति चाहिए शान्ति ! रजत अवकाश चाहिए
मानव को, मानस वह; महत् प्रकाश चाहिए,
आत्मा वह : हाँ, अन्न, वस्त्र, आवास चाहिए,
देही भी वह :—आज मुख्यत: देही वह, क्षण—
मनोविलासी,—आत्मा बनना है कल उसको !

हाय, अभागा, बुरी तरह से उलझ गया वह
बाहर के अग जग में, बाहर के जीवन में,—
जहाँ भयानक अन्धकार छाया युगान्त का !
मानव के भीतर का जग, भीतर का जीवन
आज खोखला, सूना, जीवन-मृत, छाया-सा,—
गत संस्कारों से चालित, प्रेतों से पीड़ित !!

खाई खन्दक में, खोहों में, बीहड़ मग में
भटक गये जन के पग संकट की रेती में !
दलदल में फँस गया मत्त भौतिक युग, गज - सा,
अपनी ही गरिमा के दु:सह बोझ से दबा !
जीवन तृष्णा, चक्की के पाटों - सी, उसके
घायल पैरों से है लिपट गयी, बेड़ी बन !
धृष्ट, निरंकुश, उच्छृंखल नर, आज शील के
स्वर्णांकुश के प्रति असहिष्णु, अहंता शासित !

सोच रहा मैं,—नहीं स्पष्टत: देख रहा मैं,
महत् युगान्तर आज उपस्थित मनुज द्वार पर !—
बदल रहे मानव के भौतिक, कायिक, प्राणिक,
सूक्ष्म मानसिक स्तर, आध्यात्मिक भुवन अगोचर !
बदल रहा, नि:संशय, मानव ईश्वर भी अब,—
युग-युग से जो परिचालित करता आया नित
मानव जग को, लोक नियति को, जीवन मन को !
जैवी स्थिति से उच्च भागवत स्थिति तक, सम्प्रति,
घूम रहा युग - परिवर्तन का चक्र अकुण्ठित !

आज घोर जन कोलाहल के भीतर भी मैं
सुनता हूँ स्वर शब्द हीन संगीत अतन्द्रित,—
मन के श्रवणों में जो गूँजा करता अविरत !
इस अणु उद्जन के विनाश के दारुण युग में
सृजन निरत हैं सूक्ष्म सूक्ष्मतर अमर शक्तियाँ
मानव के अन्तरतम में,—जिनका स्वप्नों का
अक्षय वैभव, अतिक्रम कर युग के यथार्थ को,
अकथित शोभा भुवनों में पल्लवित हो रहा

मानस की अपलक आँखों के सम्मुख प्रतिक्षण !
सूक्ष्म सृजन चल रहा नाश के स्थूल चरण धर !

कवि कपोल कल्पना नहीं,—अनुभूत सत्य यह,—
घोर भ्रान्तियों के युग का निर्भ्रान्त सत्य यह,—
आरोहण कर रही मनुज चेतना निरन्तर
शिखरों से नव शिखरों पर अब, उठती गिरती,
संघर्षण करती, कराहती,—चिर अपराजित !
इसीलिए, मैं शान्ति क्रान्ति, संहार सृजन को,
विजय पराजय, प्रेम घृणा, उत्थान पतन को,
आशा कुण्ठा को, युग के सुन्दर कुरूप को
बाँहों में हूँ आज समेटे,—उन्हें परस्पर
पूरक, एक, अभिन्न मानकर,—युग विवर्त के
क्रन्दन किलकारों में ध्यानावस्थित रहकर !

विस्मय क्या, यदि बदल रहा आर्थिक, सामाजिक,
धार्मिक, वैयक्तिक मानव ? यदि मनुज चेतना
अब सामूहिक, वर्ग हीन बन रही बाह्यतः,
विखर रहे यदि विगत युगों के मनः संगठन,···
क्या आश्चर्य, बदलता यदि आमूल मनुज जग !

स्वयं, युगों का मानव ईश्वर बदल रहा अब,
निश्चेतन उपचेतन, अन्तश्चेतन के जग
परिवर्तित हो रहे, नये मूल्यों में विकसित !
उन पर आश्रित निखिल सांस्कृतिक सम्बन्धों का
रूपान्तर हो रहा आज,—आवर्त शिखर में
घूम, पुनः जो संयोजित हो रहे धरा पर !—

विगत निषेधों, रूढ़ि, वर्जनाओं को सहसा
छिन्न भिन्न कर अपने प्रलयंकर प्रवेग में,—
विस्तृत कर जीवन पथ, निःसृत प्राणों का रथ! ···
नैतिक आध्यात्मिक अतीत संक्रमण कर रहा,—
निखर रहे आदर्श लोक, सौन्दर्य तत्व नव !
आज नया मानव ईश्वर अवतरित हो रहा
स्वर्ण रश्मियों से स्मित ऊषाओं के रथ पर,
तड़ित् स्फुरित लतिकाओं में लिपटे पर्वत - सा
अगणित सुर वीणाओं के झंकृत निर्झर-सा,
उन्मद भृंगों से गुंजित नव कुसुमाकर - सा !

झरते शत सीत्कार आज बाहर गत पतझर,
सुलग रहा भीतर नव मधु का स्वर्गिक पावक !
आत्मा के गोपनतम अन्तर में प्रवेश कर
मानव मन, हो अधिक पूर्ण, खुल रहा बहिर्मुख !
आज नाश के कर गढ़ रहे नवल मानव को,
नव इंद्रिय वह, विकसित इंद्रिय, अति इंद्रिय अब !

बदल रहा अब मानवता ईश्वर—बदल रहा अब
मानव अन्तर मानवता का रूपान्तर कर !

सोनजुही

सोनजुही की बेल नवेली,
एक वनस्पति वर्ष, हर्ष से खेली, फूली, फैली,
सोनजुही की बेल नवेली !
आँगन के बाड़े पर चढ़कर
दारु खम्भ को गलबाँही भर
कुहनी टेक कँगूरे पर
वह मुसकाती अलबेली !
सोनजुही की बेल छबीली !
दुबली पतली देह लतर, लोनी लम्बाई,
—प्रेम डोर - सी सहज सुहाई !
फूलों के गुच्छों - से उभरे अंगों की गोलाई,

—निखरे रंगों की गोराई-
शोभा की सारी सुघराई
जाने कब मुजगी ने पाई !

सौरभ के पलने में झूली,—
मौन मधुरिमा में निज भूली,—
यह ममता की मधुर लता,
मन के आँगन में छायी !
सोनजुही की बेल लजीली,
पहिले अब मुसकायी !

एक टाँग पर उचक खड़ी हो
मुग्धा वय से अधिक बड़ी हो—
पैर उठा, कृश पिंडुली पर धर,
घुटना मोड़, चित्र बन सुन्दर,
पल्लव देही से मृदु मांसल,
खिसका धूपछाँह का आँचल,—

पंख सीप के खोल पवन में,
वन की हरी परी आँगन में
उठ अंगूठे के बल ऊपर
उड़ने को अब छूने अम्बर !
सोनजुही की बेल हठीली
लटकी - सधी अधर पर !

झालरदार गरारा पहने,
स्वर्णिम कलियों के सज गहने
बूंटे कढ़ी चूनरी फहरा,—
शोभा की लहरी-सी लहरा,—

तारों की-सी छाँह साँवली,
सीधे पग धरती न बाँवली,—
कोमलता के भार से मरी,
अंग भंगिमा भरी, छरहरी !
उद्भिद जग की-सी निर्झरिणी
हरित नीर, बहती-सी टहनी !

सोनजुही की बेल,
चौकड़ी भरती चंचल हिरनी !
आकांक्षा-सी उर से लिपटी,
प्राणों के रज तम से चिपटी
भू यौवन की-सी अँगड़ाई,
मधु स्वप्नों की-सी परछाईं,—

रीढ़ स्तम्भ का ले अवलम्बन
धरा चेतना करती रोहण,—
आः, विकास पथ पर भू जीवन
सोनजुही की बेल
गन्ध बन उड़ी, भरा नभ का मन !

मूल स्थूल धरती के भीतर,
खींच अचेतन का तम बाहर,
वह अपने अन्तर का प्रिय धन
शान्ति ध्वजा-सा शुभ्र मणि सुमन
कम्पित मृदुल हथेली पर धर
उठा क्षीण भुजवृन्त उच्चतर,—

अर्पित करती, लो, प्रकाश को
निज अधरों के अमृत हास को
प्राणों के स्वर्णिम हुलास को !

सोनजुही की बेल
सर्मपित करती अन्तर्मुख विकास को,
उर सुवास को !

मानव मन कर रहा प्रतीक्षा
सोनजुही से ले नव दीक्षा,—
उसके उर के अन्ध राग से
प्राणों की हरिताभ आग से
फूटे चेतन शुभ्र शिखा,—

जो सके दिखा—
मानवता का पथ !
जीवन का रथ
—बढ़े !

प्रेम हो जग का इति अथ,
त्याग जन सारथि अभिमत !

सोनजुही दृष्टान्त,–
मनुज संघर्षों से श्लथ,
रीढ़ कर्दम में लथपथ !!

आः धरती कितना देती है !

मैंने छुटपन में छिपकर पैसे बोये थे,
सोचा था, पैसों के प्यारे पेड़ उगेंगे,
रुपयों की कलदार मधुर फसलें खनकेंगी,
और, फूल फल कर, मैं मोटा सेठ बनूंगा !
पर बंजर धरती में एक न अंकुर फूटा,
बन्ध्या मिट्टी ने न एक भी पैसा उगला !
सपने जाने कहां मिटे, सब धूल हो गये !
मैं हताश हो, बाट जोहता रहा दिनों तक,
बाल कल्पना के अपलक पांवड़े बिछाकर !
मैं अबोध था, मैंने गलत बीज बोये थे,
ममता को रोपा था, तृष्णा को सींचा था !
अर्धशती हहराती निकल गयी है तब से !
कितने ही मधु पतझर बीत गये अनजाने,
ग्रीष्म तपे, वर्षा झूलीं, शरदें मुसकायीं,
सी-सी कर हेमन्त कँपे, तरु झरे, खिले वन !
औ' जब फिर से गाढ़ी ऊदी लालसा लिये,
गहरे कजरारे बादल बरसे धरती पर,
मैंने, कौतूहल वश, आँगन के कोने की
गीली तह को यों ही उँगली से सहलाकर
बीज सेम के दबा दिये मिट्टी के नीचे !
भू के अंचल में मणि माणिक बाँध दिये हों !
मैं फिर भूल गया इस छोटी-सी घटना को,
और बात भी क्या थी, याद जिसे रखता मन !
किन्तु, एक दिन, जब मैं सन्ध्या को आंगन में
टहल रहा था,—तब सहसा मैंने जो देखा,
उससे हर्ष विमूढ़ हो उठा मैं विस्मय से !
देखा, आंगन के कोने में कई नवागत
छोटी-छोटी छाता ताने खड़े हुए हैं !
छाता कहूँ कि विजय पताकाएँ जीवन की,
या हथेलियां खोले थे वे नन्हीं, प्यारी,–
जो भी हो, वे हरे-हरे उल्लास से भरे
पंख मारकर उड़ने को उत्सुक लगते थे,
डिम्ब तोड़कर निकले चिड़ियों के बच्चों-से !
निर्निमेष, क्षण भर, मैं उनको रहा देखता,—
सहसा मुझे स्मरण हो आया,—कुछ दिन पहिले,

बीज सेम के रोपे थे मैंने आँगन में,
और उन्हीं से बौने पौधों की यह पलटन
मेरी आँखों के सम्मुख अब खड़ी गर्व से,
नन्हे नाटे पैर पटक, बढ़ती जाती है!

तब से उनको रहा देखता,—धीरे-धीरे
अनगिनती पत्तों से लद, भर गयीं झाड़ियाँ,
हरे भरे टँग गये कई मखमली चँदोवे!
बेलें फैल गयीं बल खा, आँगन में लहरा,—
और सहारा लेकर बाड़े की टट्टी का
हरे हरे सौ झरने फूट पड़े ऊपर को!
मैं अवाक् रह गया वंश कैसे बढ़ता है!

छोटे तारों-से छितरे, फूलों के छींटे
झागों-से लिपटे लहरी श्यामल लतरों पर
सुन्दर लगते थे, मावस के हँसमुख नभ-से,
चोटी के मोती-से आँचल के बूंटों-से!

ओह, समय पर उनमें कितनी फलियाँ टूटीं!
कितनी सारी फलियाँ, कितनी प्यारी फलियाँ,
पतली चौड़ी फलियाँ—उफ, उनकी क्या गिनती!
लम्बी-लम्बी अंगुलियों-सी, नन्ही-नन्ही
तलवारों-सी, पन्ने के प्यारे हारों - सी
झूठ न समझें, चन्द्र कलाओं-सी नित बढ़तीं,
सच्चे मोती की लड़ियों-सी, ढेर-ढेर खिल,
झुण्ड-झुण्ड झिलमिल कर कचपचिया तारों-सी!

आः, इतनी फलियाँ टूटीं, जाड़ों भर खायीं,
सुबह शाम घर घर में पकीं, पड़ोस पास के
जाने अनजाने सब लोगों में बँटवायीं,
बन्धु-बान्धवों, मित्रों, अभ्यागत, मँगतों ने
जी भर-भर दिन-रात मुहल्ले भर ने खायीं!
कितनी सारी फलियाँ, कितनी प्यारी फलियाँ!

यह धरती कितना देती है! धरती माता
कितना देती है अपने प्यारे पुत्रों को!
नहीं समझ पाया था मैं उसके महत्व को!
बचपन में, छिः, स्वार्थ लोभ वश पैसे बोकर!

रत्न प्रसविनी है वसुधा, अब समझ सका हूं!
इसमें सच्ची समता के दाने बोने हैं,
इसमें जन की क्षमता के दाने बोने हैं,
इसमें मानव ममता के दाने बोने हैं,
जिससे उगल सके फिर धूल सुनहली फसलें
मानवता की—जीवन श्रम से हँसें दिशाएँ!
हम जैसा बोयेंगे वैसा ही पायेंगे!

कौए बतखें मेंढक

कहाँ मढ़ा लाये सोने से अपनी चोंचें,
सारे कौए, प्यारे कौए,
कहाँ मढ़ा लाये सोने से अपनी चोंचें !

कौन सँदेशा लाये घर घर,
कौन सगुन स्वर, कौन अतिथि वर,
काले पंखों के झुटपुट से
मन के रीते आँगन को भर !

कहाँ मढ़ा लाये सोने से अपनी चोंचें,
प्यारे कौए, न्यारे कौए,
कहाँ मढ़ा लाये सोने से अपनी चोंचें !
पौ फट गयी ! सुनहला युग क्षण,—आओ, सोचें !

कहाँ जड़ा लायीं हीरों से अपनी पाँखें !
गोरी बतखें, भूरी बतखें,
कहाँ जड़ा लायीं हीरों से अपनी पाँखें !

कौन झील, कैसा चेतन जल,
जहाँ खिला वह स्वर्ण कमल दल,
पाप पंक में रहनेवाली
कहाँ पा गयी पुण्य तेज बल !
कहाँ जड़ा लायीं हीरों से अपनी पाँखें
गोरी भोरी, भूरी बतखें,
कहाँ जड़ा लयीं हीरों से अपनी आँखें !
नयी दृष्टि यह ! पाप पुण्य फल ?—खोलो आँखें !

कहाँ गढ़ा लाये कण्ठों में वीणा के स्वर,
ये पीले मटमैले मेंढक,
कहाँ गढ़ा लाये कण्ठों में वीणा के स्वर ?

भू का उपचेतन आवाहन
उत्कण्ठित करता रह-रह मन,
कौन साध, किन श्रवणों के हित
करती क्या गोपन सम्भाषण?

कहाँ गढ़ा लाये कण्ठों में वीणा के स्वर,
पीले, हरे, मटैले मेंढक,
कहाँ गढ़ा लाये कण्ठों में वीणा के स्वर,—
प्रेम तत्त्व यह ! सृजनातुर अगजग का अन्तर !

प्रकाश पतिंगे छिपकलियाँ

वह प्रकाश, वे मुग्ध पतिंगे,
ये भूखी, लोभी छिपकलियाँ,
प्रीति शिखा उत्सर्ग मौन,
स्वार्थों की अन्धी चलती गलियाँ !

वह आकर्षण, वे मिलनातुर,
ये चुपके छिप घात लगातीं,
आत्मोज्वल वह, विरह दग्ध वे,
ये ललचा, धीरे रिरियातीं!

ऊर्ध्व प्राण वह, चपल पंख वे,
रेंग पेट के बल ये चलतीं,—
इनके पर जमते तो क्या ये
आत्म त्याग के लिए मचलतीं?

छिः, फलाँग भर ये, निरीह
लघु शलभों को खाते न अघातीं,
नोंच सुनहले पंख निगलतीं,—
दीपक लौ पर क्या बलि जातीं?

उच्च उड़ान नहीं भर सकते
तुच्छ बाहरी चमकीले पर,
महत् कर्म के लिए चाहिए
महत् प्रेरणा बल भी भीतर!

पर, प्रकाश, प्रेमी पतंग या
छिपकलियाँ केवल प्रतीक भर,
ये प्रवृत्तियाँ भू मानव की,
इन्हें समझ लेना श्रेयस्कर!

ये आत्मा, मन, देह रूप हैं,
साथ-साथ जो जग में रहते,
शिखा आत्म स्थित, ज्योति स्पर्श हित
अन्ध शलभ तपते, दुख सहते!

पर, प्रकाश से दूर, विरत,
छिपकली साधती कार्य स्वार्थ रत,
ऊपर लटक, सरकती औंधी,
कठिन साधना उसकी अविरत!

उदर देह को भरना, जिससे
मन पंखों पर उड़, उठ पाये,
आत्मलीन रहकर प्रकाश को
मार्ग सुझाना, मन खिंच आये!

तुच्छ सरट से उच्च ज्योति तक
एक सृष्टि सोपान निरन्तर,
जटिल जगत्, गति गूढ़, मुक्त चिति,
तीनों सत्य,—व्याप्त जगदीश्वर!

आत्म दया

तुम मनुष्य की सीमाएँ क्या नहीं मानते?
क्षमा नहीं कर सकते रज की दुर्बलताएँ?

राग द्वेष में जलता नर नित, नहीं जानते ?
मन ही मन खँटता रहता; निज असफलताएँ
किसे बताये ? कितने हैं ऐसे सहृदय जन,
जो मनुष्य को प्यार करें, उसका हित चाहें ?
दुर्लभ है जग में सच्चे मन का संवेदन,
जो पर दु:ख समेटें, कहाँ सुलभ वे बाँहें !

तुम तटस्थ रहते जग जीवन के सुख-दुख से
औ' असंग ईश्वर का मन में करते पूजन,—
तुम समदृष्टि ! कहूँ भी क्या तुमसे, किस मुख से,
मैं सामाजिक जीव, ज्ञात मुझको मानव मन,
दुर्बलताओं से जो लड़ता रहता प्रतिक्षण !
क्षमा नहीं, मैं उसे प्यार करता इस कारण !

केंचुल

केंचुल हैं ये, कोरे केंचुल, फिर भी मन इनसे भय खाता !
दु:स्वप्नों की छाया स्मृतियाँ,—शेष न अब साँसों से नाता।

कभी खँडहरों में, डगरों में मिल जाते ये धूल धूसरित,
चिकने, चितकबरे, चमकीले, टूटे-फूटे, कुण्ठित लुण्ठित !

मन के खँडहर, युग की डगरें,—ये हिलडुल जग को भरमाते,
प्राण वायु के झोंके खाकर, मर-मरकर क्षण भर जी जाते !

अब न क्रुद्ध फुफकार, जिह्व गति, गरल दंष्ट्र, उद्धत फन नर्तन,
रहीं न दुहरी जीभें,—सम्भव था क्या जीते जी परिवर्तन !

रस्सी राख हुई कब की जल, गयी न मन की रीती ऐंठन,
रूढ़ि रीति मर्यादाओं के मिटते सहज न भावुक बन्धन !

काल सर्प कब इन्हें झाड़कर सरक गया, बढ़ चुपके आगे,
चरण हीन स्मृति चिह्न छोड़ निज, ये भू-क्षत-से पड़े अभागे!

वह सहस्र फन खोल छत्रवत् करता नव अम्बर पथ निर्मित,
स्वप्ननिद्र प्रभविष्णु विष्णु को अंक लिये, नव सृजन पद्म स्मित !

वह अशेष जो शेष,—पूर्ण से मात्र पूर्ण ही होता सर्जित,
वह समग्र अविभक्त नित्य, जो भूत भविष्यत् वर्तमान नित !

आ:, वह मन के गलियारे को लाँघ, ले चुका मुक्त राज पथ,
जीव नियति, कर्मों के बन्धन रोक न पाये काल चक्र रथ !

वह अतिक्रम कर चुका युगों की मानस केंचुल को,—अनन्त गति,
तप:क्षीण, साधना मुक्त यह मुक्त वासनाओं की परिणति !

ये मृत सिद्धान्तों के केंचुल, तर्कों वादों में लिपटाये,
ममता तृष्णाओं के वेष्टन, ओने कोने में बिलमाये !

ये छूंछे केंचुल, जड़ केंचुल, दृष्टि भयावह, पर जीवन-मृत,—
कौन सत्य वह ? रीढ़ हीन जो बाह्य तथ्य को रखता जीवित !

अन्तर्मानस

चीर बुद्धि के फेन,
विचारों के बुद्बुद,—
जाने कब कूद पड़ा आकुल मन
नील झील के जल में!

लहरों पर लहरें रहीं उमड़
स्वर्णिम आवर्तों में घिर-घिर,
मन डूब रहा अविदित अकूल
शुभ्रारुण अन्तस्तल में!
जाने कब कूद पड़ा प्यासा मन
निस्तल नीले जल में!

आः, यहाँ हो रहा अरुणोदय
अन्तर के निःस्वर शिखरों पर,
मन खोल ज्योति चेतना पंख
खो गया, रह गया केवल मैं!

क्या देख रहा मैं इस प्रकाश में?
शब्दों भावों से अतीत
कर रहा पूर्ण को व्यक्त पूर्ण
नव स्वर संगति के शतदल में!

खिल रहीं विभक्त पंखुड़ियाँ मिल,—
सुन्दर शिव सत्य समग्र रूप
करते समग्र की सृष्टि,
सँजो
भव नाम रूप दिशि पल में!
जाने कब कूद पड़ा तृषार्त मन
सिन्धु हरित जल तल में!

स्वर्ण मृग

सोने का था हिरन सलोना, तड़ित् लिखित सी थी चल चितवन,
पन्ने मूँगे की कृश टाँगें, रत्नों के खुर, भू के भूषण!
चमक चौकड़ी भरता था वह हीरे मोती बिखरा भू पर,
चाँदी के धब्बों का था तन, मणि कनियों के सींघ मनोहर!

चर जाता था वह भू मानस छीज छीज जाता था जीवन,
ग्रीवा भंगी के भँवरों में भटक तरी-से जाते लोचन!

पास फटक वह, दूर छिटक वह प्राणों को करता था मोहित,
धूप-छाँह का भावों का वन उस माया मृग से था शोभित!

सोने का था वहाँ अहेरी, सोने के थे चाप, तूण, शर,
मार गिराया उसने मृग को अन्धकार जग के वन का हर!

उछल गगन में, गिरा भूमि पर वह सोने का पशु मर्माहत,
युग कर्दम का ढूह ढह गया, ढेर हुआ पापों का पर्वत!

पंचवटी लुट गयी हृदय की, पंचवटी जो तब से सूनी,
रावण हो मर गया भले ही पंचवटी पर श्री हत दूनी !

तृप्त हुई मन की न कामना नयन लुभाता सोने का मृग,
शेष अभी जीवन मरीचिका, तृषित रूप रस के माते दृग !

हुआ अगोचर सोने का मृग, वह छलांग भरता अन्तर में,
क्षण-भर मन धरती पर रहता क्षण-भर में उड़ता अम्बर में !

सोने का आ रहा अहेरी, बाल सूर्य-सा जो नव सुन्दर
रश्मि जाल ले कर में स्वर्णिम, अधरों पर मुरली धर निःस्वर!

लक्ष्य न अब मानव पशु का वध, उसका संरक्षण ही अभिमत,
नये कल्प का त्रेता युग यह, नव जीवन निर्माण सृजन रत !

सम्मोहित करता वन पशु को युग का स्वर्गिक वधिक अहिंसक,
भूल गया चौकड़ी चकित शिशु, वंशी स्वर पर मुग्ध, एकटक !

लो, किरणों के स्वर्ण जाल में जाने कब फँस गया वन्यचर,
अन्धकार के गुह्य शैल से लिपट गयी हो ऊषा भास्वर !

जाने कब बाहर कुदान भर ज्योति बन गयी थी अँधियाली,
कण तृण से इन्द्रिय मानस बन पूर्व चेतना उसने पाली !

पशु के चरणों में जीवन गति, वंशी उसे सुझाती नव पथ,
मार प्रेरणा की छलांग नव हांक रही मोहक ध्वनि भू रथ !

मृग की अंगभंगि की शोभा शत भावों की श्री में वितरित,
चितवन की चंचल जिज्ञासा बहिरन्तर जग करती दीपित !

अब संस्कृत होगा जीवन पशु अन्तर की स्वर लय में पोषित,
पंचवटी की अमृत चेतना धरा स्वर्ग में होगी विकसित !

क्योंकि वही है सोने का मृग, वही अहेरी भी अपराजित,
वही सुनहला वंशी का स्वर, द्रष्टा, वही विषय पर मोहित !

प्राणों की सरसी

यह प्राणों की चंचल सरसी !
रवि शशि ताराओं से गुम्फित,
स्वर्गंगा-सी स्वप्न प्रज्वलित,
बहती भीतर ही भीतर नित
स्वर्णिम पावक के निर्झर सी !
मज्जन करते इसमें सुर गण
पूर्ण काम होते ऋषि-मुनि जन,
अप्सरियां पातीं नव यौवन,
संजीवनी सुधा सीकर सी !
तीरों में स्मृति पावन तीरथ,
निस्तल जल में मग्न मनोरथ,

इसका कहीं नहीं रे इति अथ,
त्रिभुवन की ज्वाला परिकर सी !

स्वप्नों के तट सतरँग कुसुमित,
कुसुमों पर मधु भृंग गुंजरित,
स्वर्ण गुंजरण सुन उर मोहित,
शत सुर वीणाओं के स्वर सी !

लहरों में नव लोक उछलते,
बुल्लों में लय कल्प बिछलते,
अन्तर में भू स्वर्ग मचलते,
ज्वलित रत्नछाया आकर सी !

आओ, तैरो, ले शत आशा,
डूबो हे, पूरो अभिलाषा,
पीओ जीवन मादन श्वासा,
यह अमरों के अक्षय वर सी !

गीत

एहो, रस के सागर !
भर देते तुम मोह रिक्त कर
प्राणों की मधु गागर !

बढ़ती पीकर मर्म पिपासा
जो उठती जीवन की आशा,
अवगाहन करते तुममें नित
नव यौवन हित निर्जर !

तिक्त मधुर, अभिशप्त वरद बन,
तप्त जलधि हिम शीत जलद बन,
बरस-बरस पड़ता रोओं से
रस फुहार बन निःस्वर !

विस्मृत वस्तु विभेद, आत्म पर,
भाव मुग्ध, तन्मय सचराचर,
बज उठती स्वर्णिम नूपुर ध्वनि
लहरों में नर्तन भर !

शत वसन्त खिलते स्मृति मादन
कोटि भृंग भरते मधु गुंजन,
रूप रंग सौरभ कलरव में
रस मज्जित कर अन्तर!

किस निरभ्र नभ का यह आँगन
पंख खोल उड़ता पागल मन,
झरते निभृत उषाओं के शत
स्वप्न गुंजरित निर्झर !

हृदय डुबाओ भले अतल में,
प्राण उड़ाओ या परिमल में,
यह सागर का ज्वार रहेगा
नहीं तीर से बँधकर !

दिव्य करुणा

तुम प्रथम उषा बनकर आयी स्वप्नों की द्वाभा में वेष्टित,
अधखुले स्वर्ग वातायन से चेतना क्षितिज को कर रंजित !

अस्पृश्य, अदृश्य, विभा व्यापक,—आनन अवगुण्ठन में हँसकर
तुम दीप्त कर गयी अगम मौन आरोहों के निरवधि अन्तर !

निष्क्रिय उपचेतन के तम में जाग्रत् कर अविदित हृत् स्पन्दन
तुम मुक्त कर गयी शाश्वत पथ, आलोक प्रतीक्षा की सी क्षण !

भू के धूमावृत शिखरों पर हो स्वर्ण चेतना रश्मि द्रवित
तुम उच्च वायुओं के प्रांगण कर गयी गन्ध मधु से गुंजित !

दिन बाट जोहता रहा अथक, क्षर वस्तु उभर आयीं ऊपर,
इच्छाओं के कोलाहल में कब डूब गया अन्तर का स्वर !

अज्ञान बन गया वस्तु बोध, इन्द्रियाँ चेतना की वाहक,
जीवन ममता की लगी पैंठ, आये बहु प्राणों के ग्राहक !

जाने कब सन्ध्या की विरक्त छाया घिर आयी अम्बर में,
मेघों के कंचन कलश सौध सब म्लान पड़ गये क्षण-भर में !

मैंने सोचा, जीवन लहरों अन्तः शिखरों से उदासीन
अन्तिम आशा की स्वर्ण रेख हो गयी सदा को अब विलीन !

पर, चन्द्र कला बन तुम अमन्द निखरी प्राणों में नव मूर्तित,
घन अन्धकार में जगती के भू जीवन का पथ कर ज्योतित !

मानस की अन्ध गुहाओं को स्वर्णिम स्पर्शों से कर विगलित
जीवन के फेनिल ज्वारों पर तुम तिरतीं ज्योति तरी-सी स्मित !

अब अश्रु धौत इच्छाओं के मेघों की वेणी में गुँथकर
स्वर्गिक आभा के सूक्ष्म विभव सतरँग सुरधनु मन लेते हर !

नव जीवन के अरुणोदय में अन्तर्नभ में हो सहज उदित
तुम महारात्रि के संकट में अक्षय प्रकाश करतीं वितरित !

ध्यान भूमि

आओ हे, सब ध्यान मौन, एकाग्र प्राण मन,
जीवन का अन्तरतम सत्य करें उद्घाटन !

पलक मूँद, अन्तः स्थित, खोलें मन के लोचन,
घट वासी को करें पूर्ण हम आत्म-समर्पण !

लो, सुन पड़ता सूक्ष्म स्वर्ण भृंगों का गुंजन,
मन, धीरे, श्रद्धा पथ से करता आरोहण !
देखो, छँटता घने कुहासे का छाया-घन
पलता जिसमें हास अश्रु स्मित जग का जीवन,—
जिसकी चपल भृकुटि पर इन्द्रधनुष-सा प्रतिक्षण
हँसता मानव आशाऽकांक्षा का सम्मोहन !

ओझल होता अब वह बादल रश्मि विद्रवित
गर्जन संघर्षण मय, तृष्णा तड़ित् प्रकम्पित !
नये रुपहले क्षितिज निखरते मन के भीतर
आभा के रस स्रोत फूटते पुलकित अन्तर !
जग के तम के साथ हुआ मैं का भ्रम भी लय,
लो, अवाक् आरोहों पर उड़ता मन निर्भय !
जहाँ शुभ्र सच्चिदानन्द के शिखर अतन्द्रित
निज असीम शाश्वत शोभा में निःस्वर मज्जित!
मानव मन की अन्तिम गति, आत्मा की परिणति,
दिव्य स्पर्श पा निर्मल हो उठती पंकिल मति !

आः, वह ऊपर छाया स्वर्णिम ज्वाला का घन
दीप्त प्रेरणा तड़ितों में लिपटा अति चेतन !
बरस रहे शत सृजन प्रलय, शत देश काल क्षण
श्री शोभा आनन्द मधुरिमा का भर प्लावन !
अमृत बिन्दुओं-से झरते स्मित ज्योति प्रीति कण
अमरों के सुख वैभव में उर करता मज्जन !
भार हीन अक्षय प्रकाश से पीड़ित अन्तर
रहस भावना के स्वर्गों में उठता ऊपर !

अन्तर्मन का शान्त व्योम रे यह निःसंशय
ऊर्ध्व प्रसारों में खो जाये चित्त न तन्मय !
आओ, इस स्वर्गिक बाड़व में अवगाहन कर
लौट चलें पावक पराग मधु का नव तन धर !
नव प्रकाश के बीज करें जन भू पर रोपण
शोभा महिमा से कृतार्थ हो मानव जीवन !

गीत

शिखरों से उतरो !
युग प्रभात के मधु प्रांगण में
स्वर्ग किरण विचरो !

मुक्त पंख विहगों के गायन
नभ पथ में करते अभिवादन,
अम्बर से, गिरि तरु शिखरों से
तृण कण पर बिखरो !

स्वर्णिम गुंठन धर स्मित मुख पर
कनक चरण लहरों पर निःस्वर,
धरा रेणु के पहन वसन
शत रंजित हो निखरो !
कब से इन्द्रिय कमल निमीलित,
भाव भृंग मँडराते कुण्ठित !
पैठ अचेतन प्राण गुहा में
तन्द्रिल तमस हरो !
ज्योति तिमिर का मधुर मिलन क्षण
स्वप्नों का छाया सम्मोहन,
लज्जारुण आनन से उर में
नव अनुराग भरो !
नव आशाऽकांक्षा का शोणित
हृदय शिराओं में कर स्पन्दित,
नव प्रभात की भैरवि, नूपुर
झंकृत चरण धरो !
प्राणों के पावक की प्रतिमे,
जीवन संवेगों की अतिमे,
नव शोभा लपटों में मन को
कंचन द्रवित करो !

नव चैतन्य

नव मानवता के प्रकाश,
नव भू जीवन के ईश्वर,
सूक्ष्म दिगन्तों के प्रभात,
मनसिज - से स्वर्णिम सुन्दर !

अन्तर्मुख आकर्षण, स्वर्गिक
प्रीति मधुरिमा के वर,
नव चेतन मानस, रस इन्द्रिय,
नव रहस्य सुख निर्झर !

प्राणों के कुसुमायुध में धर
रहस चेतना के शर
रुद्ध भावना ग्रन्थि बेधते
तुम अवचेतन तम हर !

स्वर्ग रुधिर के पावक से कर
हृदय शिराएँ झंकृत
श्री सुषमा आनन्द ज्योति में
अन्तर करते मज्जित !

खुलते शोभा अन्तरिक्ष
मन के भुवनों के प्रतिक्षण,

स्वर्ण प्रसारों में दिङ् मुकुलित
हो उठता भू जीवन !

हँसतीं मुक्त दिशाएँ, किरणें
खोल धरा तम गुण्ठन,
विचरण करतीं मनोभूमि के
आरोहों पर चेतन !

तुम स्वर्णिम ज्वाला उड़ेलते
घट - घट से स्मृति मादन,
रोम कूप पी - पी थक जाते,
भरते नव रस प्लावन !

अतिक्रम कर मानस के तट
मार्जित कर जीवन वर्जन,
लहरा उठता अन्तस्तल से,
मुक्त भागवत यौवन !

स्वप्नों का धर धनुष बाण
उर में भर गहन सृजन व्रण,
सुख मूर्छित कर लिपटाते तुम
प्रीति ज्वाल में तन मन !

विषय कर्म रत इन्द्रिय,
समरस भाव न बनते बन्धन,
देह प्राण मन में बसते तुम
देवों से अति चेतन !

ओ मधु पतझर सृजन प्रलय के
पथ के पान्थ विमोहन,
शान्ति क्रान्ति के स्वर्ग दूत,
विहँसो क्षितिजों में नूतन !

झंझा में भर पेंग, अग्निमुख
शृंगों पर कर रोहण,
विद्युत इन्द्रधनुष में वेष्टित,
बरसो नव जीवन घन !

प्राणों की आभा

घिरा रुपहला अन्धकार !
यह विमूढ़ तम नहीं, गूढ़तम
प्राणों की गुंजार !

सन्ध्या के झुरपुट से निःस्वर
मधु स्मृतियों के मुखर चरण धर
जग उठता मानस में सोया
स्वप्नों का संसार !

कितने सुर वीणाओं के स्वर
कँप उठते गोपन में थर-थर,
अतल नील जल, तिरता शशि मुख,
उठते प्राण पुकार !

इस तम के पट में अन्तर्हित
कितने अन्तस के युग विस्मृत,
सुलग रहे तारा पथ में शत
भस्मावृत अंगार !

निखर रहे स्मृति शिखर तिरोहित
ज्वलित रश्मि रेखाओं से स्मित,
रजत हरित तम के सागर में
जगते स्वर्णिम ज्वार !

मैं एकाकी दीप जलाकर
खड़ा मौन अभिवादन पथ पर,
तुम आते जाते हो, अपलक
खुले प्रतीक्षा द्वार !

बजते पावक के मधु नूपुर
स्वप्निल लपटों में लिपटा उर,—
प्राणों की नीरव द्वाभा में
करते तुम अभिसार !

सृजन वह्नि

एक आग है, हाँ निःसंशय एक आग है !
राग विराग रहित, फिर भी वह एक राग है !

दग्ध नहीं करती यह मन को, भस्म न तन को,
उज्वल, निर्मल, पावन करती यह तन-मन को !
रूप हीन यह, गन्ध वर्ण ध्वनि स्पर्श हीन यह,
जल-जल नित शीतल करती रह आत्मलीन यह !

भौतिक आग नहीं यह, कायिक आग नहीं यह,
प्राणिक आग नहीं, न मानसिक आग सही यह !
आत्मिक आग?—नहीं, पर फिर भी एक आग यह
विकसित जीवन शतदल की अक्षय पराग यह !

पालन करती अगजग का, पोषण जीवन का,
सृजनशील यह, सर्जन करती शाश्वत क्षण का !
तन में मन में बहती यह स्वर्गिक निर्झरिणी,
लपटों के सागर में तिरती स्वर्णिम तरणी !

जाग्रत करती मन को, दीपित करती तम को,
मृत्यु शून्य में सक्रिय रखती जीवन क्रम को !
निकट आग के यह, दिग् दाहक आग नहीं यह,
निकट राग के यह, श्रुति ग्राहक राग नहीं यह !

स्वर्णिम पावक

जीवन के स्वर्णिम पावक कण !
आज रुपहली ज्वालाओं में
मधु पल्लवित दिशा क्षण !

शत गन्धों में, शत वर्णों में,
नव कलि कुसुमों में, पर्णों में
बरस रहा शत सुरधनुओं का
रश्मि हास सम्मोहन !

दीपक लौ - से कँप - कँप प्रतिपल
मर्मर भरते नव प्रवाल दल,
मुखर पंख फूलों के गायक
भृंग गूँजते उन्मन !

लपटों में लिपटे पलाश वन,
मंजरियों में गुँथे स्वर्ण कण,
हिम पावक, विष सुधा घोल पिक
करते आकुल कूजन !

देह प्राण मन की चिनगारी
सुलग बनी सतरँग फुलवारी
अपराजित, पतझारों में नित
करते तुम मधु वर्षण !

राग द्वेष आतप में तपकर
निखर धुन्ध घन से उज्ज्वलतर,
लांछन हिम, जनरव झंझा में
करते कुसुमित सर्जन !

ओ प्राणों के पावक के कण,
भू जीवन मन से प्रतिचेतन,
तुम अभाव की छाया में हँस
लाते लोक प्रवर्तन !

घिरें भले ही प्रलय बलाहक,
गरजे धूमिल क्षितिज भयानक,
अप्रतिहत रह, तुम मधु मुकुलित
करते नव मानवपन !

जीवन प्रवाह

(अ)

यह सरिता का बहता अंचल,
इसमें केवल फेन ग्रथित जल ?

सीपी-सा प्रसार मुक्ता स्मित,—
तट असीम में मौन निमज्जित,

नीलोज्वल निःशब्द शान्ति - सा
उर में सूक्ष्माकाश प्रतिफलित !
शत छाया - आभाओं के जग
वर्णों की मैत्री में वितरित,
इच्छा की लहरें,—तटस्थ उर
शाश्वत गति का साक्षी निश्चित !

यह सरिता का गाता अंचल,
इसमें केवल वाष्प अश्रु जल ?

आदि न मिलता, अन्त न मिलता,
मध्य स्वप्न - सा लगता मोहित,
शशि की रजत तरी अप्सरियाँ
खेतीं अन्तर पथ में दीपित !

यह सरिता का कम्पित अंचल
साँस ले रहा जीवन प्रतिपल !

(आ)

यह मानवता का जग मांसल,
केवल छायाऽकृतियों का छल ?

रुचि स्वभाव वैचित्र्य भरा मन
अगणित संस्कारों से निर्मित,
उपचेतन की गूढ़ शिराएँ
युग - युग के शोणित से झंकृत !

कोटि सभ्यताएँ, संस्कृतियाँ
क्षुब्ध हृदय सागर में मन्थित,
क्रम विकास में होती रहतीं
जो परिवर्तित, पुनरुज्जीवित !

यह मानवता का जग मांसल,
जन्म मृत्यु ही का क्रीड़ास्थल ?

अतिक्रम कर इतिहासों के तट,
आत्मा करती रहती प्लावित,
गुह्य अन्धतम प्राण गुहाएँ
हो उठतीं स्वर्गिक प्रकाश स्मित !

यह मानवता का जग मांसल,
चिर विकास पथ में भू मंगल !

विज्ञापन

छन्द बन्ध खुल गये, गद्य क्या बनीं स्वरों की पाँतें ?
सोना पिघल कभी क्या पानी बनता ? कैसी बातें !
गीत गल गया सही, मधुर झंकार नहीं पर खोयी,
सूक्ष्म भाव के पंख खोल अब मन में गन्ध समोयी !

तुक ? शुक मुक्त हुआ स्वर की रट के पिंजर से सहसा,
मन की डाल - डाल पर गाता वह किंशुक - सा मुँह बाऽ !

बस रचना अब शेष,—सृजन उन्मेष काव्य बन जाता,
सातों रँग घुल गये, किरण का शुभ्र हास मन भाता !

इन्द्रधनुष ? क्या इन्द्रधनुष स्थायी रहता अम्बर में ?
वह छाया केतन फहराता मेघों के खँडहर में !

तब क्या मोहक वाग् विलास यह, या विकास कविता का ?
शशि का बिम्बित हास न समझो, यह प्रकाश सविता का !

मुरली के प्रति

मीठे स्वर में बोल,
मुरलिके, मन की गाँठें खोल !

शुष्क शून्य दर्शन का अम्बर
भाव सजल नव मेघों से भर,
बरसाये तूने रस निर्झर,
पंख स्वरों के खोल !

जड़ चेतन मोहे तूने नित
किये कूदते वन मृग स्तम्भित,
अब साँपों से खेल न मोहिनि,
निज क्षमता मत तोल !

छिद्रों में अहि पलते छिपकर,
गूढ़ पाद, जिह्मग गति, निःस्वर,
रोम-रोम से सुनता निश्चित
चक्षुश्रवों का गोल !

वंश बेल धरती पर छाई,
काटे का विष मिले न भाई,
ये मणि फणिधर, विषधर, अजगर
काले कबरे खोल !

आस्तीं में घुस बिना बहाने
किसे सूँघ लें कब अनजाने,
साँप छुँछूदर की न दशा हो
इनके सँग मत डोल !

बिना रीढ़ ये रेंग धरा पर
लुक-छिपकर नित फिरते डर-डर
भूल न इनके मुंह में पड़ना,
ये सुहावने ढोल !

उठती विष की लहर - लहर पर
चलता एक न जन्तर मन्तर,

नाग दंश के लिए भला क्या
झाड़ फूंक का मोल !

ऐसे जीव बहुत सुरपुर में
सांप लोटते जिनके उर में,
ये धामिन, कौड़िया, गेहुँग्रन,
इनको लगा न कोल !

ये द्विजिह्व, भुज जीवी, दुमुंहे,
इनके विष को नकुल ही दुहे,
नाग खिलाने की इच्छा तज,
मधु में विष मत घोल !

विद्रोह के फूल

कहाँ खोंस लायी कबरी में
फुन्दे वाले लाल फूल
आंगन में खड़ी जपा की झाड़ी ? —

हरी भरी झबरी कबरी में
मणि की मालें रहीं झूल,
सलवटें पड़ी मखमल की साड़ी,
पहने खड़ी जपा की झाड़ी !

फूल ?
नहीं,—ये लपटों के दल
पावक वाहक तूल,
तप्त अंगार, रक्त स्मित शूल !

जब भी ये जिस घर में जाते
कलह विरोध विवाद बढ़ाते,
लोग तभी श्रद्धा भय से
देवी को इन्हें चढ़ाते,—
पूज प्रकृति को शान्ति मनाते !

यह जो भी हो,
फटे कलेजे के-से टुकड़े
इनके मुखड़े—
भूले दुखड़े—
मन के भीतर आग लगाते !

हरियाली उगला करती थीं जिसकी डालें
सुलग रहीं अब उसके उर में भीषण ज्वालें,
लटकी हों मुण्डों की मालें !

जाने, कहाँ, अचेतन की किस गहराई में
बन्द किये थी यह निज मुट्ठी में चिनगारी,
जो अब बाहर फूट क्रान्ति की पुरवाई में

भरतीं लपटों की किलकारी !
बुझी नहीं वह हरित जलधि में डूब,
ज्वाल बन निखरी, दाँव न हारी !
(दारुण शोभा की चण्डी बन हँसती नारी !)

यह जो भी हो,
टहनों के प्रत्येक जोड़ पर
जीवन की पगडण्डी के प्रत्येक मोड़ पर
आज चटक उठती चिनगारी,—
प्रकृति मूक विद्रोह से भरी,
मृत्यु मारती कटु किलकारी!
कहाँ गूँथ लायी कबरी में
रक्त जिह्व रतनार फूल
आँगन में खड़ी जपा की झाड़ी ?—

चिकनी केंचुल-सी कबरी में
मणि की ज्वालें रहीं झूल,
अंगारे जड़ी मखमली साड़ी
पहने खड़ी जपा की झाड़ी !

गिरि प्रान्तर

उन नीलम ढालों पर लिपटे रेशम के सुरधनु फहराते,
मरकत की घाटी में सुलगे वन फूलों के झरने गाते !

आरोहों पर मधु मर्मर पी निःस्वर रजत समीर विचरती,
दूध धुली ऊनी भापों की किरणों की भेड़ें हिम चरतीं !

उन क्षितिजों की ज्योत्स्नाओं में परियाँ अभिसारों को आतीं,
धूपछाँह बीथी में लुक-छिप हेम गौर शशि कला सुहाती !

घन नीहार ढली पीठों पर साँझों की पग चाप बिछलती,
दिन में, धरती की सलवट-सी मसृण घनों की छाया चलती !

भुजगों सी कन्धों पर लटकीं रज की रश्मि रज्जु बल खातीं,
मन्त्र मुग्ध पटबीजन झमका जादू की कन्दरा लुभातीं !

चीलों-से मँडरा वन अन्धड़ गूँगी खोहों में खो जाते,
शिशुओं-से हिम ग्रीष्म मचल शत निर्जन पलनों में सो जाते !

पौ फटते, सीपिया नील से गलित मोतिया कान्ति निखरती,
उन शृंगों पर जगे मौन में सृजन कल्पना देही धरती !

झाँक झरोखे से स्वप्नों के सलज उषा नखशिख रँग जाती,
द्वाभाएँ हँस गिरि प्रान्तर में दिक् प्रभूत वैभव बरसातीं !

पतझर

अनलंकृत सौन्दर्य ! प्रकृति के रेखा चित्र अकल्पित !
नग्न टहनियों के ठूंठे, नीलिमा जड़े, छबि पंजर,

धूपछाँह संगति से, पल्लव मांसल परिणति से भर
तुम मधु के मंजरित स्वप्न अन्तर में करते जागृत !

अल्प, अकृत्रिम कला शिल्पिता के ध्वनिगूढ़ निदर्शन,
रंगों की रुचि के स्तर करते दृष्टि सरणि को विस्मित,
रूप चयन, अवयव संयोजन, शक्ति, व्यंजना, इंगित,
सूक्ष्म मितव्ययिता करते अद्भुत प्रभाव संवर्धन !

सूचि मसृण, शत अरुण पीत सित हरित रेशमी किसलय
गहरी हलकी रत्नच्छायाओं में कँप-कँप प्रतिपल,
दिग् दिगन्त में खोयी अपलक दृश्यपटी पर निश्चल,
शाश्वत गति में जीवन स्थिति का सम्भ्रम भरते निश्चय !

मुँदी रंग स्मिति मृदु अधरों में, मौन अभी मधु मर्मर,
सुनता जिसको मैं मन के उत्सुक श्रवणों में प्रतिक्षण,
रजत कुहासे में गुण्ठित कलियों के अविकच आनन
रँग देती कल्पना तूलि शत वर्णों में दृग-सुखकर !

विधुरा फाल्गुन की सन्ध्या : वन वीथी में इठलाती
मदिर वनैली गन्ध, मधुर भीनी महकों से गुम्फित,
नासा रन्ध्रों में घुसकर, प्राणों को कर सुख मूर्छित,
शत-शत अस्फुट सुमनों की मधु स्मृति उर में भर लाती !

आम्र अशोक, शिरीष मधूक, कनेर लोध्र, हिम कुण्ठित,
पत्र शून्य शाखाओं के कृश स्नायु जाल तरु वन में
माया बल से मुकुलित हो, सहसा जग उठते मन में,—
धृष्ट शिशिर की मदिर साँस पी, वन श्री कंटक पुलकित !

देख रहा मैं, शुष्क हरित त्वक् कुरबक, चम्पक, चलदल,
निम्ब, पर्ण, कचनार, फालसा, अम्ल, कुसुम द्रुम हर्षित
मुखर चंचुलम्बी नीड़ों को डालों में कर दोलित,
मत्त समीरण स्पर्शों से कँप, खोल रहे तन्द्रिल दल !

धूसर साँझों में, कुहरों के मुँदे प्रात कुम्हलाते,
म्लान कमल के दिवस, सुहाता चल मृदूष्ण मेघातप,
पके धान लहराते स्वर्णिम धूपछाँह में कँप-कँप
बूट चबा, गन्ने का रस पी, थके किसान सिराते !

निर्मल सरि सर, झिलमिल करतीं हिलकोरें नीलोज्वल
अबाबील फिरतीं, तिरतीं चितकबरी छाया जल पर,
सरपत पर लौकी लटकीं, वे नीड़ बया के सुन्दर,
चढ़ीं लहरियाँ तरु पर, ये गिलहरियाँ रोमिल, पुच्छल !

झर-झर पड़ते पीले पत्ते पांशुल कर दिङ् मण्डल,
चरमर कर पैरों के नीचे, भँवरों में उड़ फर्-फर्,
रजस्वती पाण्डुर वदना भू, अंगराग मल तन पर,
नहा महावट की फुहार में निखर रही तृण श्यामल !

रेणु, भ्रान्तदिक् रेणु, वेणु वन-सी गुंजरित वनानी,
विटप बाहु से छूट सिहरतीं मुग्धा लतिका थर-थर,

मुड़ती उड़ती खग गति, जव से झँपते मँडराते पर,
उचक उछलते मृग, कपि मलते दृग, शंकित वन प्राणी !

हहराती आती समीर, खर झंझा पंखों पर चढ़,
प्राण बीज बो रिक्त धरा पर, कम्पित कर वन प्रान्तर,
गहराती जाती रज, लटका ताम्र पात्र-सा अम्बर,
मलय बनेगी पुनः प्रभंजन, धूल धुन्ध घन से कढ़ !

हे अपरूप, दिगम्बर, दारुण सुन्दर, चिर ताण्डव रत,
मुझे ज्ञात, नित प्रलय सृजन, पतझर मधु साथ विचरते,
विद्रोही तुम, जीर्ण विरस भू भार जगत का हरते,
भग्न रिक्त को पूर्ण, पुरातन को कर नूतन अविरत !

हे दुर्दम, सीत्कार भरो हिम कवलित भव कानन में,
गूंज उठे जीवन जर्जर कंकालों का सूनापन,
रुधिर गा उठे हृदय शिराओं में भर यौवन स्पन्दन,
नवल प्रवालों की शोभा सुलगे विषण्ण दिशि क्षण में !

यह कैसी सौवर्ण चेतना ज्वाला जग में छायी,
धरती की रज से करती जो नभ के मुख को रंजित,
गुह्य सन्धि बेला : स्वप्नों से मन का गहन प्ररोहित,
अगणित सम्भावना सुनहली लपटें लेकर आयीं !

हाँ, असंख्य ! दिङ् मुकुलित होने को अभिनव मानवपन,
नग्न भग्न दैन्यों का जग मधु की आशा से गुंजित,
भरते जाते विषम छिद्र जीवन हरीतिमा से स्मित,
दूर नहीं अब बहिरन्तर मानव रूपान्तर का क्षण !

क्रान्ति दौड़ती, क्रान्ति चतुर्दिक्, दिक् पंजर पतझर में,
लपक दौड़तीं आवेशों की लपटें उठ लपटों पर,
गरज रहे शत अन्धड़, डिगते गिरि, उफनाते सागर,
उपचेतन के मूक भुवन चिल्लाते अन्तरतर में !

कब सशंक, मन्थर, श्लथ गति से तुम्हें रेंगना भाता ?
शृंग गर्त शत लाँघ सिंह-से, भर दहाड़ से गह्वर,
क्षिप्र रभस तुम चढ़ते निर्भय गर्जित कल्लोलों पर,
वात्या चक्रों पर दुर्धर रथ घर्घर बढ़ता जाता !

शत अभिवादन ! क्रान्ति दृष्टि, भू ऋतुओं के अधिनायक,
झंझारूढ़ युगान्तर की आत्मा अबाध, अप्रतिहत,
सन्धि काल : संक्रमणशील तुम, मुक्त करो मानव पथ
जीर्ण शीर्ण हो ज्वाल पल्लवित, नवल वसन्त विधायक !

दीपक

दीपक जलता !
युग-युग से मन तपता, गलता,—
दीपक जलता !

राज महल थे कभी सँजोये इसने
आज खँडहरों का तम इसको हरना,
रंग सभा का था चिराग जो रोशन,
हाट बाट अब देना उसको धरना !
एक अनेक हुआ घट-घट में,—
युग सन्ध्या यह, दिन अब ढलता !
दीपक जलता !

कज्जल की लौ विजय ध्वजा फहराती,
नील धुएँ का स्वप्नाकाश बनाती,
चंचल इच्छा के शलभों से घिरकर
निज छबि मण्डल का संसार बसाती !
सिर धुनती वह, धधक, मचलती,
तम का दैत्य न टलता !
दीपक जलता !

दीपक क्या रे, तेल, ज्योति या बाती,
या अंजुलि भर वह मिट्टी की थाती ?
या इन सबका मेल अकिंचन,
बात न कुछ बन पाती !

दीप तले छाया अँधियाला,–
यह मन की असफलता !
दीपक जलता !

भूत निशा का रे प्रहरी वह,
धरा तिमिर कब हरने आया ?
कहाँ अपार समुद्र, कहाँ यह
क्षुद्र तरी - सी कम्पित काया !
अन्धकार इसकी द्वाभा में
उमड़, आँख को खलता !
दीपक जलता !

वह प्रभात की स्वर्णिम मौन प्रतीक्षा,
जग की झंझा लेती कठिन परीक्षा,—
महत् ज्योति में लय होना ही
उसके क्षण जीवन की दीक्षा !

यह प्रभात ही का प्रकाश रे,
दीपक उर में पलता !
दीपक जलता !

दीप-शिखा-इंगित बन उतरी
अन्ध गुहा में महिमा,
आत्मा मन मन्दिर में निखरी
स्वप्नों की बन प्रतिमा !

मिट्टी हो ज्वाला का पलना,—
मात्र स्नेह वत्सलता !
दीपक जलता !

दीपक रचना

ये कवि की दीपों की पाँतें !
शलभ प्रीति शोभा पंखों से
चंचल मन पर करती घातें !
भू मानस की गुहा अँधेरी
तृष्णा ममता देती फेरी,
मँडराती भावों की आँधी
सिर पर, दुख की काली रातें !
प्राण वर्ति जल-जल स्नेहोज्वल
मिट्टी से उठ निज लौ के बल,
दिग् दीपित कर भव रजनी को
करती हँस तारों से बातें !
ये कज्जल की विजय ध्वजाएँ
लेती भू की निशा बलाएँ,
अन्धकार से घुलमिल जग के
अन्धकार को देतीं मातें !
उतर स्वर्ग की ज्योति अवनि पर,
मर्त्य तिमिर को बाँहों में भर,
मानवीय बन निखर रही अब
अजर अमर देवों की जातें !
नये साम्य का स्वर्ग धरा पर
एक ज्योति अब बाहर भीतर,
नयी पौध युग के पलने में
तम को देख चलाती लातें !
ये छबि की आलोक शिखाएँ
मानव को नव दिशा दिखाएँ,
मौन प्रतीक्षा में जल, लाएँ
नये क्षितिज पर नयी प्रभातें !

गीत

ए हो, पावक के पल्लव वन !
दहक रहे कब से प्राणों की
ज्वाला में तुम प्रतिक्षण !
इस पावक वन में ही सीता
लिपट अग्नि से, बनीं पुनीता,
इस ज्वाला की पायल पहने
नाचे राधा मोहन !

यही अग्नि दृग में कर धारण
सुर असुरों के वन्दित त्रिनयन,
इस ज्वाला की तरल ज्योति ले
उतरी सुरधुनि पावन !

जब पावक तारों से क्रीड़ा
करती वाणी तज भय व्रीड़ा,
विद्रोही प्राणों में बजता
प्रलय सृजन का गायन !

ये ही लपटें इन चरणों में,
लिपटीं रूप गन्ध वर्णों में,
इस ज्वाला ही की इच्छा में,
जल-जल उठते तन-मन !

सदा रहा यह स्वर्गिक पावक
नव जग जीवन का अभिभावक,
इस पावक का यज्ञ कुण्ड ही
सुख-दुख का भू प्रांगण !

वेणु कुंज

अग्नि पुंज
यह वेणु कुंज !
फूट-फूट पड़ते आकुल स्वर
तीव्र मधुर श्रुतियों में झर-झर,
इसने बिंधा बिंधा निज अन्तर
पाया दाहक गीतों का वर !

क्या तुम इसका गान सुनोगे ?
उसका गोपन मर्म गुनोगे ?
क्या तुम अपना हृदय रक्त दे
प्राणों का बलिदान चुनोगे ?

अग्नि पुंज
यह वेणु कुंज !

किसने छेड़ी यह स्वर लहरी
मर्म वेदना कँपती गहरी;
जलते तारापथ से यह धुन
अम्बर के अन्तर में छहरी !

सुलग रहे रवि शशि तारागण,
नाच रहे तन्मय हो त्रिभुवन,
सिहर-सिहर उठता सागर उर,
झूम रहे मोहित जड़ चेतन !

अग्नि पुंज
यह वेणु कुंज !

करताली देते तृण पुलकित,
मुग्ध चराचर सुख से मूर्छित,
रहस गान पर, सरस तान पर
आत्म मूढ़ सुर नर मुनि विस्मृत !

गोपी मोहीं सुन मादन स्वन,
राधा रोई अर्पण कर मन,
यह प्राणों की पावक वंशी
बजती रहती रे क्षण अनुक्षण !

अग्नि पुंज
यह वेणु कुंज !

स्फटिक वन

यह स्मृतियों का दग्ध स्फटिक वन !

शीत स्फटिक की शाखाओं पर
हिम जल धुले सीप के तरुदल
मन ही मन मधु मर्मर भरते,—
मन्त्रों का जिनमें अमोघ बल !

गलित मोतियों की फुहार-सी
फूलों की पंखड़ियाँ झर-झर
शून्य-मग्न करतीं अन्तर को
गन्ध हीन सौरभ-उसाँस भर !

खग पंजर बैठे पिंजर में
भरते अम्बर में उड़ान स्मित,
निःस्वर कल कूजन स्तवनों से
माया कानन को रख मुखरित !

श्वेत अस्थि के हिरन, चौकड़ी
भरते, नभ में टँग कर निश्चल,
हरित नील हिलकोरों में हिल
बहता पुष्करिणी का स्थिर जल !

अश्रु धूम का रजत कुहासा
ओढ़े रहता शापित प्रान्तर,
छाया-सी ऊषा सन्ध्याएँ
फिरतीं उन्मन चरण चाप धर !

यहाँ मौन स्वप्नों के पथ से
आता जाता विरह स्तब्ध मन,
जहाँ प्रेयसी की निर्मम स्मृति
रहती ध्यानावस्थित, पावन,—

सांसों के सूने मन्दिर में,
प्रतिपल उर स्पन्दन पर स्थापित
प्रीत शिखा करती नीराजन,
प्राण अर्घ्य निज करते अर्पित !

द्रवित चाँदनी-सी अपलक छबि
छिटकी रहती वन में अविदित,
घटती - बढ़ती चन्द्र कला, पर
प्रीति नित्य रहती निश्छल स्थित !

विस्मृत स्मृति के ढूह ज्वार पर
बसा हुआ यह स्फटिक हृदय वन,
फेनिल भाव पुलिन प्लावित कर
खुलता स्वप्न कक्ष वातायन !

युग मन के प्रति

ओ तिक्त मधुर, कुण्ठा निष्ठुर, पावक मरन्द रज के युग मन,
ओ तड़ित् प्रज्वलित जीवन घन, वन युग के दारुण प्रलय सृजन !
ओ मुक्त रुद्ध, ओ क्रुद्ध बुद्ध, ओ शान्ति क्रान्ति के नव दर्शन,
ओ बहिरन्तर के अन्तिम रण, ओ सूक्ष्म स्थूल के संघर्षण !
भू जीवन का कंकाल खड़ा हँस रहा, युगों से क्षुधित घोर,
यह भोर निशा, तम का दानव पकड़े प्रकाश के केश छोर !
ऊपर छायाप्रभ रश्मि बन्ध चलते जिस पर अमरों के रथ,
नीचे धरती की खोहों में फैले तम के फन अगणित पथ !
यह कांटों से बोया आँगन, तुम धरो फूल के घायल पग,
मत कुम्हलाओ भू ज्वाला में, विचरो, विहँसे उपचेतन जग !
श्रद्धा सूई की नोक, उसी पर तुम्हें खड़े होकर अविचल
संकट के पर्वत झेल, ठेल, वितरित करना जीवन मंगल !
लो, अब अपने को अतिक्रम कर पीओ जन मन का घणा गरल
यह प्रीति सुधा, जो भू घट में वासना क्षुधा बन, रही मचल !
शत भू-कम्पों में दौड़ रही मानव प्राणों की रुद्ध साध,
ज्वालामुखियों के वमनों में बह, उबल रही तृष्णा अबाध !
ओ ज्योति तमस के अमृत पुरुष, यह जन समुद्र का आवाहन,
तुम कूदो अतल धरा तम में, पार्थिव युग सेतु बनो नूतन !
ओ भीषण सुन्दर, मेघ मौन युग के विद्रोह भरे आनन,
गरजो, बरसो हे, मानस मरु हो जीवन उर्वर, नव चेतन !

नेहरू युग

अभिवादन,
हे नेहरू युग के नये संचरण,
शत अभिवादन !

गांधी युग के सूक्ष्म कुहासों से कढ़,
प्रौढ़ यन्त्र युग के मारुत गति चक्रों पर बढ़,
उतर रहा लो, मूर्त रूप धर
जन समाजवादी धरती पर
नेहरू युग निर्धूम अग्नि-सा उज्ज्वल,
पावन, शीतल !
गांधी ही का सत्य बना नव युग का सारथि,—
अन्य न थी गति !
धन्य हुई युग कवि की भारति !
विजित हो रहा यान्त्रिक दानव,
निखर रहा जन तान्त्रिक मानव !
बदल रहा, लो, गोल छेद भी द्वन्द्व तर्कमय
बाह्य परिस्थितियों का दुर्जय !
बदल रही खूंटी चौकोर,—विराट् समन्वय !
बदल रहा युग रुद्ध भू हृदय !
शुभ्र अहिंसा अश्व सौम्य कर रहा दिग् विजय,
नेहरू का मन ही नव युग का मन निःसंशय !
भौतिकता आध्यात्मिकता का
मानवता सामूहिकता का
यह महान परिणय,
प्रज्ञा विज्ञान का उभय !
महत् ध्येय, साधन मंगलमय,
नव सर्वोदय, नव अरुणोदय !

जय मध्यम पथ !
जय तृतीय बल !
शान्ति क्षेत्र होता दिग् विस्तृत,
सम्भव भू पर सहस्थिति निश्चित,
देखो, बढ़ता मानवता का रथ
धीरोद्धत,—
पंचशील का ले ध्रुव सम्बल !

रक्तहीन नव लोक क्रान्ति हो,
दूर भ्रान्ति हो,
विश्व शान्ति हो !
युद्ध ध्वंस हो हिंस्र समापन,
भरें धरा व्रण,—
अणु हो रचना श्रम का वाहन !

भू निर्माण सृजन के शुभ क्षण
करें अवतरण,—
निर्भय हों जन !
नेहरू युग के नये चरण,
शत युग अभिवादन !

सन्देश

मैं खोया-खोया-सा, उचाट मन, जाने कब
सो गया, तखत पर लुढ़क, अलस दोपहरी में,
दु:स्वप्नों की छाया से पीड़ित, देर तलक
उपचेतन की गहरी निद्रा में रहा मग्न!

जब सहसा आँख खुली तो मेरी छाती पर
था असन्तोष का भारी रीता बोझ जमा!
मन को कचोटती थी उधेड़बुन जाने क्या,
अज्ञात हृदय मन्थन-सा चलता था भीतर,—

अवसाद घुमड़ता था उर में कड़ुवा, फीका!
सब अस्तव्यस्त विश्रृंखल लगता था जीवन,—
मेरा कमरा हो परिचित कमरा नहीं रहा,
जी ऊब-ऊब उठता था, मन बैठा जाता!

मैं सोच रहा था, जाने क्या हो गया मुझे,
मन किन अनजानी डगरों में है भटक गया,
कितने अँधियारे कोने हैं मानव मन के!
कुछ किये नहीं बनता, दिन यों ही बीत रहे,
पानी-सी बहती आयु कभी क्या लौटेगी?
इस निरुद्देश्य जीवन से किसको लाभ भला?
भू भार बने रहने से तो मरना अच्छा!

इतने में मेरी दृष्टि फ़र्श पर जा अटकी,
जिस पर जाड़े की चिट्टी, ढलती, नरम धूप
खिड़की की चौखट को कुछ लम्बी तिरछी कर
थी चमक रही टूटे दर्पण के टुकड़े-सी,—
पिघली चाँदी के थक्के-सी छलकी चौड़ी!
जाजिम पर थी बन गयी तलैया मोती की,
जिसमें स्वप्नों की ज्वालाएँ लहराती थीं!
दूधिया भावना में उफान उठ आया हो!

मैं क्षण-भर में मन के विषाद को भूल गया,
वह धूप स्निग्ध चेतना स्पर्श-सी लगी मुझे—
ज्यों राजहंस उतरा हो खिड़की के पथ से!
मेरा मन दुविधा मुक्त हो गया, दुःख भूल,
घन के घेरे से निकल चाँद हँस उठता ज्यों!

वह मौन नीलिमा निलयों में बसनेवाली,
रूपहली घनों की अलकें सहलानेवाली,
वह सूर्यमुखी किरणों की परियों से वाहित
सुकुमार सरोरुह-से स्तनवाली सलज धूप!—
वह रजत प्रसारों में स्वर्णिम अँगड़ाई भर
ऊषा की स्वप्निल पलकों पर जगनेवाली,
वह हेम हंस पंखों पर नित उड़नेवाली

गोरी ग्रीवा बाँहोंवाली चम्पई धूप!—
वह तुहिन वाष्प के धूपछाँह बल्कल पहनी
सौरभ मरन्द तनवाली, मलयज सनी धूप,
वह फूलों के मृदु मुखड़ों पर हँसनेवाली
नीले ढालों पर सोनेवाली सुघर धूप!—
वह हरी दूब के पाँवड़ पर चलनेवाली
रेशमी लहरियों बीच बिछल जानेवाली
वह मुक्ता स्मित सीपी के सतरँग पंख खोल
शत इन्द्रधनुष फहरानेवाली सजल धूप,—
वह चाँदी की शफरी-सी उछल अतल जल से
चमकीला पेट दिखा अकूल के पावक का
मेरे कमरे के तुच्छ पटल पर, धूल भरे
मखमली गलीचे पर, चुपके सहमी बैठी,
मेरे कठोर उर को कृतज्ञता-कोमल कर
सुख द्रवित कर गयी, प्रीति मौन संवेदन दे!

मैं उसे देख, श्रद्धा सम्भ्रम से उठ बैठा,
वह मुझे देख स्नेहार्द्र दृष्टि, मुसकुरा उठी!
वह विश्व प्रकृति की दूती बनकर आयी थी,—
मैं स्मृति विभोर, स्वप्नस्थ हो उठा कुछ क्षण को,
वह मेरे ही भीतर से मुझसे यों बोली—

"क्या हुआ तुम्हें, ओ जीवन शोभा के गायक,
तुम ज्योति प्रीति आशा के स्वर बरसाते थे!—
उल्लास मधुरिमा, श्री सुषमा के छन्द गूँथ
तुम अमरों को कर स्वप्न मूर्त, धर लाते थे!
क्यों आज तुम्हारी वीणा वह निःस्पन्द पड़ी,
क्यों अब पावक के तार न मधु वर्षण करते?
कल्पना भोर के पंछी-सी उठ लपटों में
क्यों नहीं स्वप्न पंखी उड़ान भरती नभ में?

"क्या सोच रहे हो? उठो, क्षुब्ध मन शान्त करो,
तुम भी क्या जग की चिन्ता के कर्दम में सन
सन्देह दग्ध, उद्भ्रान्त चित्त हो खोज रहे—
क्या है जीवन का ध्येय, प्रयोजन संसृति का,
सुख दुख क्यों हैं, मानव क्यों है, या तुम क्यों हो?

"तुम भी वादों के वेष्टन में मन को लपेट
मानव जीवन के अमित सत्य का विकृत रूप
गढ़ने को आतुर हो?—सस्ता संस्करण एक
निर्मित कर उसका, थोथे तर्कों के बल पर?—
जन सृजन चेतना को, विकास क्रम को अनन्त
अंजलि पुट में बन्दी करने का साहस कर!!

"या भौतिक मूल्यों की वेदी पर बलि देकर
मानव मूल्यों की, तुम धरती पर नया स्वर्ग

रचने को व्याकुल हो, यन्त्रों के चक्रों में
मानव का हृदय कुचल, लोहे की टापों से?
अथवा तुम हिंसक स्वार्थों के पंजे फैला
नोचना चाहते जीवन के सुन्दर मुख को!!

"तुम भूल गये क्या मातृ प्रकृति को? तुम जिसके
आँगन में खेले - कूदे, जिसके आँचल में
सोये जागे, रोये गाये, हँस, बड़े हुए!
जो बाल सहचरी रही तुम्हारी, स्वप्न प्रिया,
जो कला मुकुर बन गयी तुम्हारे हाथों में,—
तुम स्वप्न धनी हो जिसके बने अमर शिल्पी!

"जिसने कोयल बन सिखलाया तुमको गाना,
मृदु गुंजन भर बतलाया मधु संचय करना,—
फूलों की कोमल बाँहों के आलिंगन भर!
जिसके रंगों की भावुक तूली से तुमने
शोभा के पदतल रँगे, मनुज का मुख आँका,
जिससे लेकर मधु स्पर्श शब्द रस गन्ध दृष्टि
तुमने स्वर निर्झर बरसाये सुख से मुखरित!

"अब जन नगरों की अन्धी गलियों में खोये,
ऊँचे भवनों की काराओं में बन्दी हो,
तुम अपनी ही चिन्ता में घुलते जाते हो!
क्या लोक मान मर्यादा की पा स्थूल दृष्टि
निज सूक्ष्म स्वप्नदर्शी दृग तुमने मूँद लिये?

"लो, मैं असीम का लायी हूँ सन्देश तुम्हें!
आओ, फिर खुली प्रकृति की गोदी में बैठो,
फिर दिक् प्रसन्न जीवन के आँगन में खेलो,—
उद्देश्य हीन भी रहना जहाँ मधुर लगता!
फिर स्वप्न चरण धर विचरो शाश्वत के पथ में,
कल्पना सेतु बाँधो भावी के क्षितिजों में!

"मन को विराट् की आत्मा से कर सर्वयुक्त
तुम प्यार करो, सुन्दरता से रहना सीखो,—
जो अपने ही में पूर्ण स्वयं है, लक्ष्य स्वयं!
कवि, यही महत्तर ध्येय मनुज के जीवन का!"

मैं मन की कुण्ठित कूप वृत्ति से बाहर हो,
चिन्ताओं के दुर्बोध भँवर से निकल शीघ्र
पाहुन प्रकाश के निरवधि क्षण में डूब गया,—
सुनहली धूप के करतल के शाश्वत में लय!
मन से ऊपर उठ, तन की सीमाओं से कढ़,
फिर स्वस्थ समग्र, प्रफुल्ल पूर्ण बन, मोह मुक्त,
मैं विश्व प्रकृति की महदात्मा में समा गया!

मुझको प्रसन्न मन देख, धुप सकुचा…कुम्हला…'
बोली, "अब विदा ! मुझे जाना है ! –वह देखो,
किरणें अस्ताचल पर कंचन पालकी लिये
मुझको ठहरी हैं, क्षितिज रेख का सेतु बाँध !

"युग सन्ध्या यह, अस्तमित एक इतिहास वृत्त,
ढलने को ब्रह्म अहन, बुझने को कल्प सूर्य,
मुंदने को मानस पद्म,–उदित ज्योतिर्मय कवि,—
घूमता विवर्तन चक्र, आज संक्रान्ति काल ! —

"यदि अन्धकार का घोर प्रहर टूटे तुम पर,
तो मुझे स्मरण रखना, यह ज्योति धरोहर लो,—
जब होगी मानस ग्लानि, घिरेगी मोह निशा,
मैं नव प्रकाश सन्देशवाह बन आऊँगी,
सन्ध्या पलनों में भुला सुनहले युग प्रभात !"

यह कह वह अन्तर्धान हो गयी पल भर में,
सिमटा अपने आभा के अंगों को उर में !

अस्तित्ववाद

आः, ये केवल ओसों के कण !
इनको हास कहो कि अश्रुजल,
धरती के भूषण, गीले व्रण,—
वास्तव में, ये ओसों के कण !

इन्हें विगत दायित्व कहो या
वर्तमान अस्तित्व कहो या
भावी के जगमग चेतन क्षण,—
ये यथार्थ में ओसों के कण !

अविज्ञेय वस्तुएँ विश्व में
सूक्ष्म भावना-जग से आवृत,
क्या आदर्श यथार्थ शून्य है
अथवा जड़ चेतना से रहित ?
अपनी-अपनी दृष्टि और मन,—
वैसे तो ये ओसों के कण !

पृथक् नहीं रोदन से गायन,
सुख दुख, दुख ही सुख जाता बन;
व्याप्त मात्र आनन्द तत्व धन,
साक्षी फूलों का मुख दर्पण !
स्वप्न कहो या सत्य चिरन्तन--
कहने को ये ओसों के कण !

आत्म निवेदन

कैसे भेद बुझाऊँ गोपन !
हे मानव घटवासी, तुमसे
कहाँ छिपाऊँ भी अपनापन !

तुम चुपके आये जीवन में
बाँध गये शाश्वत को क्षण में,
स्वयं रहस्य रहा मैं निज हित,—
रहा जगत के हित कर-दर्पण !

पीकर तिक्त मधुर मधु ज्वाला
रिक्त किया जीवन का प्याला,
मैं संयत, चैतन्य रहा नित,
हुआ न मोह प्रमत्त एक क्षण !

प्रतिपल दे कटु अग्नि परीक्षा,
पग-पग पर ले असि पथ दीक्षा,
हुआ तप्त, मर्माहत भी मैं,
दुःख दग्ध, कुण्ठित न किया मन !

पिया स्वाति का अमृत अनश्वर,
पाया भगवत् करुणा का वर,
मौन, विनम्र रहा,—श्रद्धा रत,
भाया मुझे न आत्म प्रदर्शन !

मैं तर्कों वादों में विरमा,
बौद्धिक सोपानों पर बिलमा,
भटका कभी न रिक्त शून्य में
जन धरणी पर करता विचरण !

उड़ स्वर्णिम स्मित आकाशों पर
पार रजत समतल प्रसार कर,
मैं ऊबड़ पथ पर अब चलता
बीहड़ वन का अथक पान्थ बन !

निर्जन मग को कर पग मुखरित,
मृग तृष्णा से मुक्त, अपरिचित,
जीवन मरु में करता आया
हँसमुख हरित स्थलों का सर्जन !
कैसे भेद बुझाऊँ गोपन !

अभिवादन

स्वागत हे, जन मन के वासी !
राजहंस भारत मानस के
जनगण प्रीति तरंग विलासी !

जन स्वतन्त्रता के तुम प्रतिनिधि,
लोक प्रीति जीवन की प्रिय निधि,
तुम जन मानव भावी के विधि
विश्व शान्ति के अथक प्रयासी !

विविध देश, पर एक जन धरा,
खड़ी नियति जन हित स्वयंवरा,
जीवन मरु फिर हो न क्यों हरा
तुम भू दुख दारिद्र्य विनाशी !

डूब रही जर्जर भव तरणी,—
यह गौतम गांधी की धरणी
बने विश्व संकट तम हरणी,
धर्म चक्रमय ध्वजा प्रकाशी !

अभिवादन करता मन चारण
युग अभाव हे करो निवारण,
पर हित किये स्वत: व्रत धारण,
तुम जनगण मंगल अभिलाषी !

गरज रहा चेतना जलधि भव,
नव प्रकाश का यह युग विप्लव,
बरस रहा देवों का वैभव
जन मन पर, सद्भाव विकासी !

बढ़ें चरण, लाँघें जड़ बन्धन,
देंगे पथ झुक गिरि सागर बन,
कहाँ रुका कब लोक जागरण
सिद्धि साधनों की चिर दासी !

शत अभिनन्दन, जन मन वासी !
स्वर्ण हंस भारत मानस के
जनगण हर्ष तरंगोच्छ्वासा !

लोक गीत

जन भू का स्वर्ग द्वार,
हृदय हार लोकायन,
स्वर्ग द्वार लोकायन,
हृदय हार लोकायन !

रूढ़ि मुक्त चार द्वार,
नन्दित नित नव विचार,
अभिनव भावाभिसार,—
सृष्टि सार लोकायन !

दर्शन विज्ञान संग
ललित कला के षडंग
लोक गीत, नृत्य रंग
का प्रचार लोकायन !

सृजन कर्म जन साधन,
सृजन कर्म तप पूजन,
जीवन का सृजन पर्व
हो अपार लोकायन !
संस्कृति का नव सँदेश
युक्त करे निखिल देश,
जन मन का मिलन तीर्थ
हो उदार लोकायन !
शोभा के अमर चरण
भू मंगल करें वरण,
मानवता की बलिष्ठ
हो पुकार लोकायन !
इष्ट बृहत् विश्व साम्य,
लोक श्रेय सतत काम्य,
शोषण अन्याय हेतु
हो प्रहार लोकायन !
विस्तृत कर जन मन पथ,
वाहित कर जीवन रथ,
बन प्रकाशवाह, हरे
अन्धकार लोकायन !
मनुष्यत्व महत् ध्येय,
आशा उर में अजेय,
घृणा द्वेष मध्य प्रेम
का प्रसार लोकायन !
दीपित मुख कर दिशि क्षण,
कुसुमित जन भू प्रांगण,
ज्योति प्रीति श्री सुख का
हो विहार लोकायन !

कूर्माचल के प्रति

जन्मभूमि, प्रिय मातृभूमि की शीर्षरत्न, शत स्वागत !
हिम सौन्दर्य किरीटित जिसका शारद मस्तक उन्नत
उषा रश्मि स्मित, स्फटिक शुभ्र, स्वर्णिम शिखरों में उठकर
पुण्य धरा के स्वर्गोन्मुख सोपान पन्थ-सा विस्तृत
निज अवाक् गरिमा से करता नर अमरों को मोहित,
निखिल विश्व को दिग् विराट् भौगोलिक विस्मय से भर !
बाल प्रवासी शिशु घर लौटा, वह भी क्या अभ्यागत ?
स्नेह उच्छ्वसित, हेमज पुलकित अंचल का शरणागत!
तेरी नैसर्गिक सुषमा में जननि, सदा से लालित,—
हँसमुख छायातप से गुम्फित श्याम गौर जिसका तन
श्री शोभा स्वप्नों से निर्मित गीत भृंग गुंजित मन,
रजत अनिल सौरभ पलने में दोलित शैशव मुकुलित !

क्या न खगों ने मृदु कलरव भर प्रथम लोरियाँ गायीं ?
पंखों से बरसाकर सतरँग किरणों की परछायीं !
स्मरण नहीं क्या तुझको ? तू रहती थी सतत उपस्थित,
चित्र लिखी-सी उड़ती तितली के सँग-संग उड़ मन में
कैसे बड़ा हुआ मैं, घुटनों के बल चल आँगन में,—
माँ से बढ़कर रही धात्रि, तू बचपन में मेरे हित !
धात्रि कथा रूपक भर तूने किया जनक बन पोषण,
मातृहीन बालक के सिर पर वरद-हस्त धर गोपन !
मातृ भूमि में माँ का मुख शिशु ने पीछे पहचाना !
कूर्माचल, प्रिय तात, पुत्र मैं रहा कूर्मवत् दृढ़ व्रत,
खींच अधः इन्द्रिय मुख भीतर, ऊर्ध्व पीठ पर अविरत
युग मन भार वहन करना जिसने स्वधर्म नित माना !
छुटपन से विचरा हूँ मैं इन धूपछाँह शिखरों पर,
दूर, क्षितिज पर हिल्लोलित-सी दृश्य पटी पर निःस्वर
हलकी गहरी छायाओं के रेखांकित - से पर्वत,
नील, बैंगनी, कपिश, पीत, हरिताभ वर्ण श्री छहरा,
मोहित अन्तर में भर देते आदिम विस्मय गहरा,
अन्तरिक्ष विस्फारित नयनों को अपलक रख तद्वत् !
ऊपर सीपी के रँग का नभ, नव मुक्तातप से भर,
रजत नीलिमा गलित, सहज हँसता-सा लगता सुन्दर !
ऊँचे उड़नेवाले, निर्जल, कौश मसृण, रोमिल घन !
चूर्ण रुपहली अलकों में उलझा रवि किरणें उज्ज्वल
मौन इन्द्रधनुषी छाया का स्वप्न नीड़ रच, चंचल
उड़ती चितवन के खग को बन्दी कर लेते कुछ क्षण !
विजन घाटियों पर चढ़कर शिशु-मेषों-से दुग्धोज्वल
चित्रग्रीव हिम के घन पल में होते नभ में ओझल !
पावस में जब मिहिका में लिपटा रहता गिरि प्रान्तर !
शैल गुहाओं में दहाड़ते सिंहों-से जग क्षण में
दुहरी तिहरी तड़ित शृंखला तड़काते घन तन में,
बरसाकर आग्नेय सानुओं से स्फुलिंग के निर्झर !
षड्ऋतुएँ सुरबालाओं-सी करतीं सजधज नर्तन,
वासन्ती किसलय कितने ही रँग करते परिवर्तन,—
रजत ताम्र, पाटल ईंगुरी, हरित पीत, मृदु कम्पित !
सलज मौन मुकुलों में बरसा अर्ध निमीलित चितवन
फूलों के अंगों की अप्सरि-सी रंग प्रिय यौवन
उड़ती पर्वत घाटी सौरभ पंखों में रोमांचित !
उच्च प्रसारों में लेटा, छाया मर्मर परिवीजित,
श्रान्त पान्थ-सा ग्रीष्म ऊँघता भरी दुपहरी में नित !
पागुर करते दृढ़ निर्द्वन्द्व ककुद्मत् शैल वृषभवत्,
काले पड़ते तिग्म धूप से कुरँग तलैटी में रँग,
कूटों पर लिपटा रहता नीलातप मेघों के सँग,
चारवायु हिम जलद पंख का चँवर डुलाती अविरत !

मसृण तुहिन सूत्रों में गुम्फित रजत वाष्प रज के कण
मोती के रँग के धूमों से स्फटिक शिला के घन बन,
प्रावृट् में कर शंख नाद, घिरते नीलांजन श्यामल
सुरधनुश्रों के दुहरे तिहरे फहरा छाया केतन,—
गिरि श्रृंगों पर तड़ित् स्खलित, भरते प्रचण्ड गुरु गर्जन,
नील पीत सित लोहित विद्युल्लतिका कम्पित प्रतिपल !
मरकतहरित प्रसारों में हँस, दिक् प्रसन्न, तृण पुलकित,
फेनों के हीरक भरनों, मुक्ता स्रोतों में मुखरित,
जब वर्षा के बाद निखरता हेम खण्ड स्निग्धोत्तर
इन्द्रलोक-सा रजतारुण स्वर्णिम छायाश्रों से स्मित,
सद्य धुले नव नीहारों का अर्ध-नील कर विरचित,—
तब मन कहता, क्या न स्वर्ग सुख से निसर्ग मुख सुन्दर ?
गहरे सूर्यास्तों को रँग सित वाष्पों की पीठों पर
नृत्य मुग्ध, उड़ता मयूर पंखी मेघों में अम्बर !
ज्योत्स्ना में लगते दिगन्त जब स्वप्न ज्वार हिल्लोलित,
निखिल प्रदेश मनाता शोभा निर्निमेष शरदोत्सव;
जिस अकथित सम्मोहन का करता अवाक् मन अनुभव,
मुक्त नील तारा स्मित लगता मौन रहस्य निनादित !
राजहंस-सा तिरता शशि मुक्ताभ नीलिमा जल में,
सीपी के पंखों की छहरा रत्न छटा जल थल में !
धुली वाष्प पंखड़ियों में रँग भरते कला सुघर कर,
सुरधनु खण्डों में किरणों की द्रवित कान्ति कर वितरित;
रंग गन्ध के लता गुल्म से गिरि द्रोणी अतिरंजित
देवदारु रज पीत सुहाती ग्राम वधू-सी सुन्दर !
हिम प्रदेश के यमजों-से हेमन्त शिशिर कम्पित तन
रजत हिमानी से जड़ देते गिरि कानन, गृह प्रांगण,—
हिम परियों की निःस्वर पद चापों से कर दिशि मुखरित,
निशि के श्यामल मुख पर उज्ज्वल तुहिन दशन रेखा भर !
मन्थित करती शीत वात शाखाओं के वन पंजर
मुरझाता रवि आतप, दिशि मुख दिखते धूसर, कुण्ठित !
स्वर्गहास हिम पात !--शुभ्रता में अनिमेष दिगन्तर,
उड़ता राजमराल गौर हर्षातिरेक में निःस्वर !
दिव्य रूप धरती निसर्ग श्री दुग्ध धौत भूतल में !
स्वप्न मौन ज्योत्स्ना-सी निर्मल स्फटिक शान्ति में मूर्तित !
उड़ते रंगों के नृप, लोमश हिम खग, रवि कर चित्रित,
स्वर्गिक पावनता करती अभिसार मुग्ध दिशि पल में !
कौन तुम्हारी शोभा शब्दों में कर सकता कल्पित ?
तुम निसर्ग सम्राट्, रूप गरिमा प्रतिपल परिवर्तित !
निभृत कक्ष में रंग प्रकृति नित सज श्रृंगार मनोहर !
सुरधनु पट स्मित, तड़ित् चकित, करती शिखरों पर नर्तन!
तलहटियों में रँग - रँग के वन - फूलों से मुकुलित तन,
नव पल्लव अंचल में लिपटी वन श्री मन लेती हर !

मखमल के तल्पों-से श्यामल तरल खेत लहराये,
रोमांचित - से गिरि वन चीड़ों की सूची से छाये,
देवदारु वन - देवों के हर्म्यों के स्तम्भों - से स्थित !
घनी बाँझ की वनी मोहतीं हरित शुभ्र मर्मर भर,
शृंगों के दृढ़ आयामों की पृष्ठभूमि में अम्बर
लगता शाश्वत नील शान्ति - सा नीरव, ध्यानावस्थित !
विहगों के स्वर उर में अलिखित गीतों के पद बनते,
तरु वन के अस्फुट मर्मर में भाव अचेतन छनते,
क्षिप्र मुखर स्रोतों में रहते अगणित छन्द तरंगित !
मूर्त प्रेरणा-सी लहराती नभ में शतधा विद्युत,
साँझ प्रात के कांचन तोरण किसे न लगते अद्भुत,
रजत मुकुर सरसी में हँसता मुख अनन्त का बिम्बित !
तैल चित्र-सी उभरी गहरी शैल श्रेणि छायांकित
उड़ते मेघों के घन तन्द्रिल धूपछाँह से गुम्फित,
स्वर्गिक कोणों, वर्तुल शोभा क्षितिजों में छहराई—
रश्मि वाष्प की सृष्टि सहस्रों रंगों से भर जाती,—
ताम्र हरित नीलारुण स्वर्णिम शिखरों पर मँडराती
धुली साँझ की भाव लीन हलकी कोमल परछाइं !
शिखरों पर उन्मुक्त साँस ले, स्निग्ध रेशमी मारुत
सहज लिपट जाता तन-मन से, गन्ध मधुर, मन्थर द्रुत,
वाष्प मसृण, नीहार नील, हिम शीतल, किसलय कम्पित !
रजत तुषार सरों में थर् - थर् कँपता निर्मल अम्बर,
आदि सृष्टि संगीत सतत बहता शृंगों से झर-झर
स्वच्छ चेतना के स्रोतों में, गिरि गहनों में मुखरित !
तृण कोमल पुलिनों पर क्षण भर लेट उच्च समतल में
नाम हीन गन्धों से तन्द्रिल तरु छाया अंचल में,
गा उठता मन मुक्त स्वरों के पंख खोल निर्जन में !
कुदक निकट ही शशक कुतरते नव गुल्मों के कोंपल,
शाखा शृंगोंवाले वन मृग पीते झरनों का जल,
मँडराती, निश्चल, आतप प्रिय चील सुदूर गगन में !
मृदु कलरव भर रँग-रँग के खग वन-परियों के कुसुमित
क्रीड़ा कुंजों को रखते सुर वीणाओं से झंकृत,—
गीत वृष्टि कर तरु के नभ से मोहित वन अटनों पर !
सद्यः स्वर्णिम नवल प्रवालों का रँग हिम से पोषित,
प्रथम उषा के अंगराग-सा लगता शाश्वत लोहित,—
मधु मर्मर में कँपते वन के अगणित वर्णों के स्वर !
उदयाचल पर, कनक चक्र-सा, रश्मि स्फुरित रवि उठकर
दिग् भास्वर ऊषाओं से आरोहों को देता भर,
सन्ध्या के नत मस्तक पर रक्तोज्वल मणि-सा विजड़ित !
दिव्य छत्र-सा रजत व्योम किरणों से विरचित ऊपर
रत्न पीठ सा सानु सुहाता नीचे श्यामल सुन्दर,—
इन्द्रनील गोलार्ध जड़ित मरकत मन्दिर-सा शोभित !

आदि महत्ता पशु जग की अब भी वन करते घोषित,
सिंह ऋक्ष वृक गिरि खोहों को रखते भीम निनादित,—
चकित, चौकड़ी भीत मृगों पर झपट टूटते नाहर!
श्वेत नील काले उपलों से कण्ठ वृषों के भूषित,
भेड़ों की घण्टी से रहतीं गिरि डगरें कल गुंजित,
उच्च शाद्वलों से छनते चरवाहों के मुरली स्वर!
सुघर कृषक वधुएँ नित्त खेतों में सोना उपजातीं,
कण्ठ मिला जन के सँग कृषि के गीत हुड़ुक पर गातीं,—
त्योहारों में नाच गान रंगों के रच बहु उत्सव!
नीलारुण किरणों में पलते स्वस्थ सौम्य नारी-नर
गौरव कपोलों में ऊषा की लाली लिये मनोहर,
लज्जारुण लगतीं जिससे अज्ञात यौवनाएँ नव!
उग्र कराल शिलाएँ भरतीं मन में विस्मय सम्भ्रम,
घोर अँधेरी गहरी दरियों में बसता आदिम तम,
स्फीत नाद भर बहते ढहते जल - स्तम्भों से निर्झर!
निविड़ गहन में सहसा जगमग जल उठते पट बीजन
हिंस्र व्याघ्र के विस्फारित हरिताभ भयावह लोचन,—
सँकरी घाटी में सर्पों - से स्रोत सरकते सर्‌मर्‌!
झीने कम्पित नील कुहासों से परिवृत हो सत्वर
बृहत् गरुड़-सा धँसता नभ में पंख मार गिरि प्रान्तर,
अर्ध दृश्य गन्धर्व लोक-सा, छाया पथ में शोभित!
भ्रू विलास करतीं चपलाएँ, मन्द हास कर प्रतिक्षण,
मुग्ध बलाकों के सँग नभ में उड़ता इच्छाकुल मन,—
चीर वाष्प पट कढ़ता शशि-सा रवि, किरणों से विरहित!
हिम के कंचन प्रात, साँझ पावस पंखों पर चित्रित,
स्वच्छ शरद चन्द्रिका, दिवस मधु के—क्षितिजों पर मुकुलित
मर्मर ग्रीष्म समीर लुभाती सौरभ-मन्थर, शीतल!
अप्सरियों की पद चापों से कँपते झिलमिल सरि-सर,
नृत्य चपल वनश्री के हित नित बिछते कलि किसलय झर,
रंग गन्ध मधु रज से रहता भू लुण्ठित छायांचल!
अमरों के मणि मुकुट श्रेणि-से लगते हेम शिखर स्मित
रजत नील नभ-नीहारों से रहते जो चिर वेष्टित,—
इन्द्रधनुष छायांशुक का प्रिय उत्तरीय छहराकर!
कल किंकिणि-सी विद्युल्लेखा दिपती कटि पर कम्पित,
मन्द्र स्तनित भर मुरज बजाते घन गन्धर्वों-से नित,
स्वत: दीप्त ओषधियों से नीराजन करते किन्नर!
यह भौतिक ऐश्वर्य शुभ्र गरिमा से मन को छूकर
नीरव आध्यात्मिक विस्मय से अन्तर को देता भर,—
एक महत् गुण अन्य गुणों को करता नित आकर्षित!
जग जीवन का क्रन्दन शोषण हो जाता तुममें लय,
जगता प्राणों में अनन्त भावों का वैभव अक्षय,
ऊर्ध्वारोही मौन शान्ति में भू मन को कर मज्जित!

अब मैं समझ सका महत्व इन शिखरों का स्वर्गोन्नत
नील मुक्ति में समाधिस्थ जो अन्तर्नभ में जाग्रत्,—
पृथ्वी के शाश्वत प्रहरी-से अन्तरिक्ष में शोभित !
जहाँ शुभ्र सोपानों पर चैतन्य विचरता पावन,
स्वर्णिम आकाशों में उड़ता अपलक शोभा में सन,
उच्च नभस्वत में रहता संगीत अनश्वर गुंजित !
मुखरित तलहटियों को, निःस्वर क्षितिजों को अतिक्रम कर
सात्विक शिखरों में जग, मानस में श्रद्धा सम्भ्रम भर,
स्वर्ग धरा के मध्य शुभ्र दिग् विशद समन्वय-से स्थित,—
भू से रूप विधान, व्योम से सार भाव ले निर्मल,
श्यामल, प्राणोज्वल रखते तुम जग का उर्वर अंचल,
आरोहों के वैभव से अवरोहों को कर कुसुमित !
अप्रकेत तम सागर से उठ, भेद अचेतन के स्तर,
जल थल की अगणित उपचेतन जीव योनियों को तर,
जीवन हरित प्रसार पार कर, रजत देश बहु समतल,
ऊर्ध्वग उच्छ्रायों के निर्मल नीहारों में नीरव
सत रज के सतरँग आभासों का कर मन में अनुभव,
शाश्वत शिखरों में निखरे तुम लगते शान्त समुज्वल !
रुके मूक भू मानस गह्वर, रुके स्तब्ध गिरि कन्दर,
(शतियों के पुंजित तमिस्र से पीड़ित जिनका अन्तर !)
बिछे प्रतीक्षा में प्रसार होने को तुमसे दीपित !
धूमिल क्षितिज, गरजता अम्बर, उद्वेलित जन सागर,
जड़ चेतन की दृष्टि निर्निमिष लगी ज्योति शिखरों पर,—
मानवता का दिक् प्रशस्त उन्नयन तुम्हीं पर आश्रित !
निश्चय, भूमा की आकृति में यह मृण्मय भू निर्मित,
अन्न प्राण मन जीवन के अक्षय वैभव से झंकृत,—
हरित प्रसारों, नीलोच्छ्रायों, स्वर्ण गहनताओंमय !
यशश्चूड़ तुम इस वसुधा के शाश्वत रश्मि मुकुट भृत,
दिक् शय्या पर चिदानन्द से कालोपरि सत् पर स्थित,
ध्यानावस्थित ऊर्ध्व भाल पर नव लेखा शशि स्मित, जय !

श्री सुमित्रानंदन पंत

कौसानी, जि अल्मोड़ा में जन्म : २० मई, १९००। जन्म के छः घण्टे बाद माँ की मृत्यु। गोसाईंदत्त नामकरण। १९०५ में विद्यारम्भ। १९०७ में स्कूल में काव्यपाठ के लिए पुरस्कार। १९१० में अपना नाम बदलकर सुमित्रानंदन रखा। १९११ में अल्मोड़ा के गवर्नमेंट हाईस्कूल में प्रवेश। १९१२ में नेपोलियन के चित्र से प्रभावित होकर केशवर्धन। १९१५ से स्थायी रूप से साहित्य-सृजन। पहले हस्तलिखित पत्रिका 'सुधाकर' में कविताओं का प्रकाशन, और फिर १९१७-२१ के बीच 'अलमोड़ा अखबार' तथा 'मर्यादा' आदि पत्रों में। जुलाई १९१९ में म्योर सेन्ट्रल कालिज, प्रयाग, में दाखिल हुए, लेकिन १९२१ में असहयोग आन्दोलन से प्रभावित होकर कालिज छोड़ दिया। १९३० में द्विवेदी पदक। १९३१ से '३४ और '३६ से '४० तक की अवधि कालाकाँकर में। १९३८ में 'रूपाभ' का सम्पादन; रवीन्द्रनाथ, कार्ल मार्क्स और महात्मा गांधी के विचारों का अवगाहन। १९४० में उदयशंकर संस्कृति केन्द्र में ड्रामा-क्लासेज़ लिये। १९४३ में उदयशंकर संस्कृति केन्द्र के वैतनिक सदस्य बने और 'कल्पना' फिल्म के सिनेरियो की रूपरेखा तैयार की, कुछ गीत भी लिखे। १९४४ में पाण्डिचेरी की यात्रा, अरविन्द की विचार-साधना से विशेष प्रभावित। १९४७ में सांस्कृतिक जागरण के लिए समर्पित संस्था 'लोकायन' की स्थापना। १९४८ में देव पुरस्कार, १९४९ में डालमिया पुरस्कार। १९५०-५७ में आकाशवाणी के परामर्शदाता। १९६० में **कला और बूढ़ा चाँद** पर साहित्य अकादमी पुरस्कार। १९६१ में पद्मभूषण की उपाधि। १९६१ में रूस तथा यूरोप की यात्रा। १९६५ में उत्तर प्रदेश शासन की ओर से १०,००० रु. का विशेष पुरस्कार। १९६५ में ही सोवियतलैण्ड नेहरू पुरस्कार **लोकायतन** पर। १९६७ में विक्रम, १९७१ में गोरखपुर, और १९७६ में कानपुर तथा कलकत्ता वि. वि. द्वारा डी लिट्. की मानद उपाधियाँ। दिसम्बर १९६७ में भाषा-विधेयक के विरोध में पद्मभूषण की उपाधि का परित्याग। १९६९ में साहित्य अकादमी की 'महत्तर सदस्यता'। १९६९ में ही **चिदम्बरा** पर भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला। २८ दिसम्बर, १९७७ को देहावसान।

सुमित्रानंदन पंत ग्रंथावली
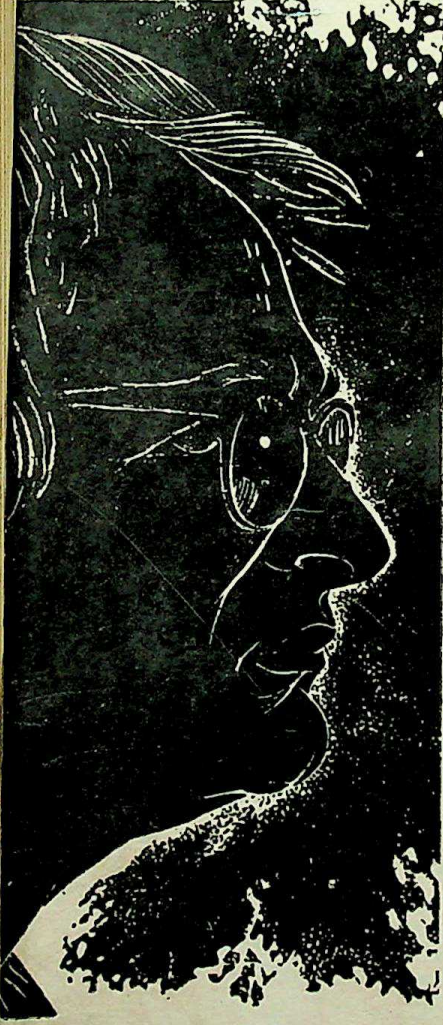
1	हार/वीणा/ग्रन्थि/पल्लव/गुजन/ज्योत्स्ना परी तथा अन्य नाटक
2	युगपथ/ युगवाणी/ ग्राम्या/ स्वर्णकिरण/ स्वर्णधूलि/मधुज्वाल
3	उत्तरा/रजत-शिखर/शिल्पी/ सौवर्ण/ युगपुरुष/छाया/अतिमा
4	किरण-वीणा/वाणी/कला और बूढ़ा चाँद/पौ फटने से पहले/पतझर (एक भाव-क्रान्ति)/ गीतहंस
5	लोकायतन
6	पाँच कहानियाँ/छायावाद : पुनर्मूल्यांकन/ शिल्प और दर्शन/कला और संस्कृति/साठ वर्ष : एक रेखांकन
7	शंखध्वनि/शशि की तरी/समाधिता/आस्था/ सत्यकाम/गीत-अगीत/संक्रांति

राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली पटना